स्वर्ण जयन्ती प्रकाशन 2013

BIHAR YOGA

संन्यास दर्शन

स्वामी निरंजनानन्द सरस्वती



योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट, मुंगेर, बिहार, भारत

संन्यास दर्शन



WORLD YOGA CONVENTION 2013

GANGA DARSHAN, MUNGER, BIHAR, INDIA

23rd–27th October 2013

संन्यास दर्शन

स्वामी निरंजनानन्द सरस्वती

सन् 1991 में गंगा दर्शन, मुंगेर में संचालित एक वर्षीय संन्यास प्रशिक्षण सत्र के दौरान दिये गए प्रवचनों का संकलन



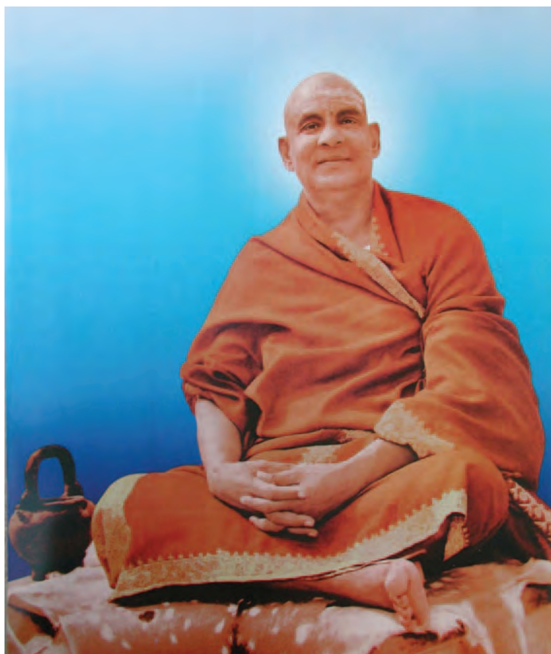
योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट, मुंगेर, बिहार, भारत

योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट द्वारा प्रथम प्रकाशन 2012

ISBN: 978-93-81620-12-0

प्रकाशक एवं वितरक—योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट,
मुंगेर, बिहार, भारत
मुद्रक—थॉमसन प्रेस (इंडिया) लिमिटेड,
नई दिल्ली

वेबसाइट: www.biharyoga.net
www.rikhiapeeth.net



सविनय समर्पण

स्वामी शिवानन्द सरस्वती के चरणों में
जिन्होंने स्वामी सत्यानन्द सरस्वती को योग के रहस्यों की शिक्षा दी



नमो नारायण

योगविद्या भारतवर्ष की सबसे प्राचीन संस्कृति और जीवन-पद्धति है तथा इसी विद्या के बल पर भारतवासी प्राचीनकाल में सुखी, समृद्ध और स्वस्थ जीवन बिताते थे। जब से भारत में योग विद्या का ह्रास हुआ, तभी से भारतवासी गरीब, दुःखी और अस्वस्थ हैं। पूजा-पाठ, धर्म-कर्म से शान्ति मिलती है और योगाभ्यास से धन-धान्य, समृद्धि और स्वास्थ्य। भारत में सुख, समृद्धि, शक्ति और स्वास्थ्य के लिए हर व्यक्ति को योगाभ्यास करना चाहिए।

स्वामी सत्यानन्द सरस्वती
रिखियापीठ, 2005

संन्यास की महिमा

सच्चा संन्यासी इस संसार का एकमात्र चक्रवर्ती सम्राट् होता है।
वह कभी कुछ लेता नहीं, केवल देता ही देता है।
संन्यासियों ने ही अतीत में आश्चर्यजनक काम किया
और संन्यासी ही वर्तमान एवं भविष्य में
अद्‌भुत चमत्कार करके दिखायेंगे।
संन्यासी ही वास्तविक लोक संग्रह कर सकता है,
क्योंकि वह दिव्य ज्ञान से युक्त होता है।
एक समर्थ संन्यासी पूरे विश्व की नियति को बदल सकता है।
अकेले शंकराचार्य ने भारत भर में दिग्विजय कर
अद्वैत वेदान्त की परम्परा को प्रतिष्ठित किया।
परमहंस संन्यासी दो रोटी और दो धोती पर जीकर
देश के कोने-कोने में जाकर,
घर-घर में उपनिषद्, रामायण, भागवत और गीता ज्ञान बाँटते हैं।
सारा समाज उनका अत्यधिक ऋणी है।
उनके काव्य और ग्रन्थ हमारे लिए आज भी
ज्ञान और प्रेरणा के स्रोत हैं।
अवधूत गीता के चन्द श्लोक पढ़कर देखिए।
आपमें तुरन्त उदात्त आध्यात्मिक विचारों का उदय होगा,
सभी प्रकार की निराशा, विषाद और चिन्ता छूमंतर हो जाएगी।
जिस तरह गणित, विज्ञान, अर्थशास्त्र, राजनीति जैसे विषयों में
स्नातकोत्तर और शोध विद्यार्थी होते हैं,
उसी तरह स्नातकोत्तर योगी और संन्यासी भी होने चाहिए,
जो अपना समय स्वाध्याय और अनुसंधान में व्यतीत कर
आत्मा पर शोध कर सकें।
ऐसे संन्यासियों का भरण-पोषण सद्-गृहस्थों का कर्तव्य है।
बदले में संन्यासी उनके आध्यात्मिक योग-क्षेम का भार वहन करेंगे।
इस तरह संसार-चक्र निर्विघ्न रूप से चलता रहेगा
सर्वत्र सुख, शान्ति और समृद्धि व्याप्त रहेगी।

–स्वामी शिवानन्द सरस्वती



सच्चा संन्यास

आरामदायक, सुविधाजनक संन्यास से तुम्हें कुछ नहीं मिलेगा।
संन्यास बहुत कठिन जीवन है,
इसके लिए सहनशीलता, त्याग और वैराग्य की आवश्यकता है।
तुमने पान-सुपारी, सिगरेट-चाय, केश-श्रृंगार
और अखबार पढ़ने के मोह का तो त्याग किया नहीं,
न ही गृहस्थों से स्वच्छन्द मिलना-जुलना छोड़ा,
और इस पर तुम्हारा मन वासनाओं और महत्त्वाकांक्षाओं से भरा है!
लोगों को तुम्हारे अन्दर संन्यास की कुछ झलक दिखनी चाहिए,
संन्यास की कुछ महक तुम्हारे अन्दर से निकलनी चाहिए,
नहीं तो तुम्हारे संन्यास का क्या प्रयोजन?
क्या यह केवल सम्मान और सत्कार पाने के लिए है?
तब तो तुम खुद को और दूसरों को धोखा ही दे रहे हो।
पहले अपनी इच्छाओं को समाप्त करके,
अपने मन को साफ करो
और अपने दिल को रंगो।
यही सच्चा संन्यास है!



ईश्वर-साक्षात्कार की बाधाएँ

द्वैतता, विविधता, अनेकता
वैयक्तिकता, दास-मानसिकता, दादागिरीता
गड़बड़झालिता, दम्भचारिता, अस्मिता
अहंकारिता, राग-द्वेषता, अभिनिवेशिता
कामुकता, भावुकता, संवेदनशीलता
अकर्मण्यता, आडम्बरचारिता
हैं बाधाएँ ये दिव्य मार्ग की,
सर्वव्यापकता, सम्पूर्णता, सच्ची एकता की।

दुर्बलता, रुग्णता, एनीमिकता
पाइरियता, रक्तचापता
अदूरदर्शिता, दूरदृष्टिता, मन्ददृष्टिता
रात्रि-अन्धता, अर्धदृष्टिता
डाक्टरों की महामूर्खता, महा-अन्धकारिता
हैं बाधाएँ ये दिव्य मार्ग की।

नृशंसता, कौतुहलता, क्रूरता
चिन्ता, भेदभाविता, कायरता
द्वैतता, वैयक्तिकता, अनैतिकता
दुर्बलता, रुग्णता, कामुकता
हैं बाधाएँ ये दिव्य मार्ग की।

अठारह सद्‌गुण

श्री राम जय राम जय जय राम ॐ।
श्री राम जय राम जय जय राम ॐ।

प्रसन्नता, निर्मलता, नियमितता,
अशत्रुता, मित्रता, आर्जवता,
समानता, एकाग्रता, अरोषता,
युक्तता, नम्रता, दृढ़ता,
एकता, शालीनता, उदारात्मता,
अभ्यास करो नित्य इन अठारह गुणों का,
पाना चाहो शीघ्र ही जो अमरता।
अद्वितीय ब्रह्म ही एक सत्यता,
और सब संसार है मिथ्य नाता।
पाओगे अमर धाम अनन्तता का,
देखोगे अगर विभिन्नता में एकता।
मिले न यह ज्ञान यूनिवर्सिटी में,
कृपा हो गुरु की मिले शाश्वता।



लोभ गीति

'अठारह सद्‌गुणों' का गीत जिस सकारात्मक गुणों की ओर संकेत करता है, जिनका पोषण एक साधक को करना चाहिए। उसी प्रकार यह 'लोभ गीति' दुर्गुणों के जिस समूह को निदर्शित करती है, उससे साधक को बचकर रहना चाहिए। यह उनसे बचने की युक्ति भी बताती है।



लोभ, अर्थलिप्सा, मूर्खता,
धृष्टता, अव्यवस्था, अस्थिरता,
वक्रता, अनियमितता, अतिउग्रता–
बाधाएँ हैं समाधि के मार्ग की,
मलिनताएँ हैं मन की।

है लोभ लालच या लिप्सा,
विभ्रम या मोह का प्रकट रूप है मूर्खता,
दर्प या निर्लज्जता की जायी है धृष्टता,
अव्यवस्था है संभ्रान्ति मन की,

अस्थिरता में छिपा है विक्षेपण मन का,
दंभ प्रकट होता है रूप धर वक्रता का,
विक्षिप्तता और भ्रान्ति की दासी है अनियमितता,
क्रोध बहुरूप धर लाता है अतिउग्रता,
दूर करो मलिनताएँ प्रतिरोधी गुणों से–

लालच को मिटाओ उदारता के अभ्यास से;
अर्थलिप्सा को शुचिता से;
अस्थिरता को त्राटक, प्राणायाम, उपासना और जप से;
वक्रता को विनम्रता से;
अनियमितता को सत् आचरण के अभ्यास से;
अतिउग्रता को धैर्य, सहिष्णुता के अभ्यास से;
सुगम होगी समाधि और प्राप्ति कैवल्य की।

विश्व प्रार्थना

हे स्नेह और करुणा के आराध्य देव!
तुम्हें नमस्कार है, नमस्कार है।
तुम सच्चिदानन्दघन हो।
तुम सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान् और सर्वज्ञ हो।
तुम सबके अन्तर्वासी हो।
हमें उदारता, समदर्शिता और मन का
समत्व प्रदान करो।
श्रद्धा, भक्ति और प्रज्ञा से कृतार्थ करो।
हमें आध्यात्मिक अन्तःशक्ति का वर दो,
जिससे हम वासनाओं का दमन कर
मनोजय को प्राप्त हों।
हम अहंकार, काम, लोभ और द्वेष से रहित हों।
हमारा हृदय दिव्य गुणों से पूर्ण करो।
हम सब नाम-रूपों में तुम्हारा दर्शन करें।
तुम्हारी अर्चना के ही रूप में
इन नाम-रूपों की सेवा करें।
सदा तुम्हारा ही स्मरण करें।
सदा तुम्हारी ही महिमा का गान करें।
तुम्हारा ही कलिकल्मषहारी नाम हमारे अधर-पुट पर हो।
सदा हम तुममें ही निवास करें।





साधना गीतिका

शुद्धिकरण, एकाग्रता, चिन्तन, ध्यान,
प्रबोधन, तादात्म्य, तन्मयता, परित्राण–
अष्टपदी हैं ये आध्यात्मिक साधना के।
आत्मत्याग, आत्मसमर्पण, स्वार्थत्याग–
हैं विविध उपाय दर्प दलन के।
निःस्वार्थता, आत्मनिग्रह, आत्मशुद्धि,
आत्मविश्लेषण, आत्मनिरीक्षण, आत्मपरीक्षण–
करेंगे प्रशस्त पथ आत्मानुभूति के।

–स्वामी शिवानन्द सरस्वती

नव संन्यासियों से

संन्यास पूर्ण साधना है,
बहिरंग, अन्तरंग दोनों,
अहंकार रहित चैतन्य प्रकट होता है,
चैतन्य प्रकाशित होता है।

संन्यासी की साधना कैसी?
देखते रहना है, करना नहीं।

योग-साधना संन्यासी के लिए स्थूल साधनाएँ हैं,
सूक्ष्म का मैल इनसे छँटता नहीं,
और न सद् वस्तु का बोध होता है।

सबसे पहले आश्रम प्रवेश करो,
दीर्घकाल तक सेवा व्रत धारण करो,
अपने को छोटा और हल्का बनाओ।

संन्यासी के लिए न कोई साधन
और न कोई साध्य।
वहाँ तो तुरीयावस्था की भी गिनती नहीं,
क्योंकि समरसता को पाना है।

चैतन्यावस्था सनातन है,
उसका न उदय है न अस्त–
वह जानी नहीं जा रही,
केवल इस समस्या को सुलझाना है।

शिखा सूत्र का त्याग, पूर्वाश्रम-संगों का त्याग,
जाति, कुल, धर्म के अभिमान का त्याग
ये स्थूल लक्षण हैं।

संन्यास की अवस्थाएँ अपने आप प्रकटती हैं,
सेवा-व्रत से ढक्कन खुल जाता है,
गुरु-तत्त्व संन्यास का रहस्य है।

बुखार उतरते कुपथ नहीं करना,
संन्यास लेने पर भी कुपथ नहीं करना,
अलग रहना संग-विवर्जित होकर
विवाह-श्राद्ध-अन्त्येष्टि से पृथक्–
इसका अर्थ समझना कठिन है।

संन्यास साधना फल जाए तो समझो
इतिहास और समाज पवित्र हो जाएँगे।
एक संन्यासी एक युग का निर्माता होता है
और एक दर्शन का द्रष्टा, परम्पराओं का अगुआ।

पवित्र संकल्प लेकर
संन्यासाश्रम में दीक्षित होओ।

–स्वामी सत्यानन्द सरस्वती



संन्यासियों की माला



यह स्वामी शिवानन्द जी का स्वप्न था,
जिसे स्वामी सत्यानन्द जी ने साकार किया।
यह भारत का प्रथम स्वप्न है–
विश्व को जाग्रत मानव देना।

शरीर और संसार के प्रलोभन से रहित,
केवल समर्पण, सेवा, स्वाध्याय, साधना
और अप्रतिहत प्रवाहमान जलमाला के सदृश
जीवन जो जी सकेंगे,
वे ही समाज की आध्यात्मिक पिपासा को
शान्त कर सकेंगे।

संन्यास त्याग नहीं,
बलिदान की तैयारी है,
बलिदान मृत्यु नहीं,
सेवा के लिए समर्पित जीवन है।

काषाय धारण करने से जीवन नहीं रंगता,
जब वस्त्र की चिन्ता छूट जाती है,
तब जीवन स्वतः रंग जाता है।
जटा-केश से संन्यासी नहीं होता,
जो अहर्निश तत्पर है,
उसे केश-विन्यास की सुध कहाँ?

संन्यासी का पागलपन होता है–
कर्तव्य, गुरु निर्देश के प्रति,
संसार, मानवता और ईश्वर के प्रति।

–स्वामी निरंजनानन्द सरस्वती

विषय सूची

संन्यास वंश-परम्परा

संन्यास उपनिषद्

भूमिका

संन्यास परम्परा को किसी भी प्रकार के व्यवस्थित धर्म की तरह नहीं समझना चाहिए। संन्यास की धारणा और उद्देश्य आज विश्व में प्रचलित सभी धर्मों से बहुत पहले अस्तित्व में आए। संन्यास मात्र एक भारतीय परम्परा नहीं, अपितु एक सार्वभौमिक परम्परा है, जो मानवता के आधारभूत आध्यात्मिक विचारों का प्रतिनिधित्व करती है। ईसाई, इस्लाम तथा बौद्ध जैसे धर्मों के संगठित होने से पहले ही आध्यात्मिक जीवन के बारे में लोगों के अपने मत थे। प्रत्येक सभ्यता में ऐसे लोग हैं, जिन्हें आध्यात्मिक अनुभव हुए हैं। उन्होंने आध्यात्मिक जीवन तथा मान्यताओं के विषय पर विचार किया और इन विचारों के साथ ही आध्यात्मिक समझ के आधार पर विभिन्न पद्धतियाँ अस्तित्व में आईं।

प्रारम्भ से ही मानव ने आत्मा के अस्तित्व पर विश्वास किया है, और इसलिए प्रश्न उठता है कि मृत्यु के पश्चात् क्या होता है? इस प्रश्न ने बहुत लोगों को तत्सम्बन्धी विचारों एवं मान्यताओं के क्षेत्रों में अनुसन्धान करने के लिए प्रेरित किया है। इस प्रकार विभिन्न सभ्यताओं ने आत्मानुभूति के विभिन्न उपाय बतलाए। प्रत्येक सभ्यता में विभिन्नता होते हुए भी अध्यात्म के बारे में कुछ सामान्य विचार मिलते हैं, जिसने आध्यात्मिक विचारों के आधार पर सभ्यताओं को जोड़ दिया है। ये सामान्य विचार हैं–मनन, स्वाध्याय, श्रद्धा, प्रार्थना, भक्ति तथा अन्तरावलोकन। इन धारणाओं के आधार पर ध्यान की विभिन्न प्रक्रियाओं का जन्म हुआ, जो प्रत्येक सभ्यता के अनुकूल थीं।

मनन, ध्यान, स्वाध्याय तथा विश्लेषण के आधार पर जीवन व्यतीत करने के लिए लोगों को बाह्य बाधाओं से अपने आपको मुक्त करना था। फलस्वरूप वे जंगलों में एकान्त में रहे, जहाँ वे अपनी मान्यताओं का अनुस्मरण करने के लिए स्वतन्त्र थे। इन सभी के मध्य लोगों के ये समूह विभिन्न नामों से जाने

गए, जिसमें एक सामान्य नाम 'तपस्वी' था; एसीन, केल्टिक, ताओवादी तथा दूसरी पुरातन परम्पराओं में हम ऐसी ही कड़ी पाते हैं। आत्म-साक्षात्कार, आध्यात्मिक अनुभव तथा व्यक्तित्व की सुषुप्त क्षमता का जागरण जैसे विचारों ने सदैव मनुष्य को आकृष्ट किया है।

समाज में आध्यात्मिक जागरूकता का विकास करने के लिए ईसा मसीह, मोहम्मद और बुद्ध जैसे शक्तिशाली लोग प्राचीन परम्पराओं को उस समय की प्रचलित भाषाओं में अभिव्यक्त कर सके। उनके विचारों तथा सामाजिक परिवेश के अनुसार आध्यात्मिक अनुभवों की व्याख्या ने अनेक नए दर्शनों को जन्म दिया। तत्पश्चात् उनके अनुयायियों ने उनके विचारों तथा शिक्षाओं के आधार पर नए धर्मों की स्थापना कर दी। लोग आध्यात्मिक मार्ग से विमुख न हों, इस बात को ध्यान में रखकर बाद में धर्म को दो विभागों में विभाजित कर दिया गया। पहला, जिसका अनुसरण सामान्य लोग कर सकें एवं दूसरा, जिसका अनुपालन, सुरक्षा तथा प्रचार कुछ चुनिन्दा भिक्षुओं का समूह कर सके। धर्म के उसी रूप को आज हम देख रहे हैं।

संन्यास परम्परा सदैव धार्मिक प्रभावों से अलग तथा विपरीत रही है। बहुत से ऐसे संत हुए हैं जो अपने अनुभव और समझ के आधार पर नए दर्शनों तथा धर्मों की स्थापना कर सकते थे, परन्तु वे आध्यात्मिक विचारों की मुख्यधारा से स्वयं को अलग नहीं करना चाहते थे। अध्यात्म की भारतीय परम्परा में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं। वेद, उपनिषद् तथा भारतीय चिन्तन के अन्य दर्शन; जैसे, सांख्य, न्यास, मीमांसा तथा तन्त्र ऐसे सिद्ध पुरुषों एवं संतों की समझ को दर्शाते हैं। अपने आध्यात्मिक अन्वेषण के अन्त में उन सभी ने अपनी एक-सी राय व्यक्त की और जोर देकर कहा, "हमारे विचार एक धर्म का रूप न लेने पाएँ, वरन् मानवता के आध्यात्मिक चिन्तन में संयुक्त हो जाएँ।" इसलिए जब हम संन्यास परम्परा की बात करते हैं, तब हम किसी ऐसे सम्प्रदाय की बात नहीं करते जो किसी विशेष प्रकार की विचारधारा से सम्बन्ध रखता है, बल्कि हम उस परम्परा की बात करते हैं जिसने युगों-युगों से चली आ रही शिक्षाओं तथा अनुभवों को संगृहीत कर आगे हस्तान्तरित किया। आज इस संग्रह को हिन्दुवाद के नाम से जाना जाता है, परन्तु वास्तव में हिन्दुवाद जैसी कोई वस्तु नहीं है।

'हिन्दू' शब्द का प्रयोग, इस देश पर आक्रमण करने वालों द्वारा सिन्धु नदी के पार रहने वालों की पहचान के रूप में किया गया। यह आज की पूर्व

और पश्चिम की धारणा जैसा है। जो लोग पूर्व में रहते हैं, उन्हें प्राच्य तथा जो पश्चिम में रहते हैं, उन्हें पाश्चात्य कहा जाता है। यह उस सभ्यता की बहुत अल्प व्याख्या है जिसने अपने आध्यात्मिक चिन्तन का इतने बड़े पैमाने पर विकास किया है। इस सभ्यता का नाम सनातन है, जिसका अर्थ है 'अनन्त' और सनातन सिद्धान्तों के मानने वालों को सनातनी कहा गया है। यह नाम उस सभ्यता का प्रतिनिधित्व करता है जिसने अनन्त जीवन का गहन चिन्तन किया है और उसका अनुभव प्राप्त करने के लिए बहुत से तरीकों की खोज की है।

संन्यास परम्परा, जिसने हमेशा इन सनातन नियमों तथा मान्यताओं का समर्थन किया है, मूलत: एक जीवनशैली है, जिसको अन्तर्वर्ती क्षमताओं को खोजने का माध्यम बनाया जा सकता है। इस परम्परा को एक महान् चिन्तक तथा दार्शनिक, आदिगुरु शंकराचार्य द्वारा पुन: व्यवस्थित किया गया। उन्होंने कुछ नियमों का प्रतिपादन किया, जो प्रत्येक संन्यासी के लिए मूल सिद्धान्त हैं। यमों और नियमों का पालन करके जीवन की सीमाओं को रूपान्तरित किया जा सकता है तथा सुषुप्त मानवीय क्षमताओं के पूर्ण विकास का अनुभव किया जा सकता है। इससे मनुष्य अन्ततोगत्वा सुख और दु:ख के बन्धन, राग और द्वेष की सीमाओं से मुक्त होता है और समर्पण की भावना उत्पन्न होती है।

पूर्व में संन्यासियों को तपस्वियों के रूप में जाना जाता था, जो चेतना के उच्च आयामों में प्रवेश करने के लिए एकान्त जीवन व्यतीत करते थे। संन्यास की पूरी अवधारणा स्वामी शब्द में निहित है, जिसका अर्थ होता है, 'स्वयं का मालिक'। एक संन्यासी को अवश्य यह क्षमता प्राप्त करनी चाहिए। कठोपनिषद् में एक कहावत है कि एक संन्यासी का जीवन तीक्ष्ण छुरी की धार पर चलने के समान है। एक गलत कदम पड़ा कि आप गिर कर अपने आपको चोट पहुँचा लेते हैं। उपनिषद् का यह कथन संन्यास के ढाँचे के भीतर एक बहुत ही अनुशासनात्मक, सामंजस्यपूर्ण तथा समग्र जीवनशैली की आवश्यकता को इंगित करता है।

बाद में धर्मों ने संन्यास परम्परा के साथ अपने सम्बन्धों को बनाए रखा। यह उनकी ब्रह्मचर्य, प्रार्थना, करुणा और एकान्त चिन्तन के जीवन की शिक्षाओं से प्रतिबिम्बित होता है। वास्तविक पद्धति प्रत्येक मत तथा धर्म के अनुसार निश्चित रूप से भिन्न है, परन्तु आप प्रत्येक धर्म तथा सभ्यता में संन्यास के आधारभूत सिद्धान्तों को अवश्य पाएँगे।

गुरु परम्परा मन्त्र

ॐ नमो ब्रह्मादिभ्यो ब्रह्मविद्यासम्प्रदायकर्तृभ्यो वंशऋषिभ्यो नमो गुरुभ्यः। नारायणं पद्मभवं वसिष्ठं शक्तिं च तत्पुत्रपराशरं च। व्यासं शुकं गौडपदं महान्तं गोविन्दयोगीन्द्रमथास्यशिष्यम्। श्री शंकराचार्यमथास्य पद्मपादं च हस्तामलकं च शिष्यम्। तं त्रोटकं वार्तिककारमन्यान् अस्मतगुरून्सन्ततमानतोऽस्मि। श्रुतिस्मृतिपुराणानामालयं करुणालयम्। नमामि भगवत्पादं शंकरं लोकशंकरम्। शंकरं शंकराचार्यं केशवं बादरायणम्। सूत्रभाष्यकृतौ वन्दे भगवन्तौ पुनः पुनः। ईश्वरो गुरुरात्मेति मूर्त्तिभेदविभागिने। व्योमवद्व्याप्तदेहाय श्री दक्षिणामूर्त्तये नमः। यस्य देवे पराभक्तिः यथा देवे तथा गुरौ। तस्यैते कथिता ह्यर्था प्रकाशन्ते महात्मनः।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥



संन्यास परम्परा

संन्यास का उद्‌गम

प्राचीनकाल की अधिकतर आध्यात्मिक परम्पराएँ, जो उस समय समृद्ध और प्रभावशाली थीं, आज विलुप्त हो चुकी हैं। ग्रीस, इटली और मिस्र की प्रख्यात परम्पराएँ पूर्णतया काल के गाल में समा गई हैं। सेल्टिक, ट्यूटोनिक और स्लाविक जातियों के साथ-साथ सीरिया और एशिया माइनर के धर्मों का भी यही हाल हुआ है। जबकि भारतीय वैदिक विचारधारा, जिसे सनातन धर्म कहा गया, मजबूती से टिकी हुई है। इसे न केवल विश्व की प्राचीनतम संस्कृतियों में से एक माना गया, बल्कि सम्भवत: यही एक संस्कृति है जो अब तक जीवित है और आज भी भारतीय जीवन का एक अभिन्न अंग है।

सनातन संस्कृति में ऐसा क्या है जिसने इसे अब तक जीवित रखा, जबकि अन्य प्राचीन संस्कृतियाँ टिक नहीं पायीं। मानवता के इतिहास के पिछले एक-दो हजार वर्ष अंधकारपूर्ण थे। युद्धों, आक्रमणों, राज्यारोहण-प्रत्यारोहण और प्राकृतिक विपदाओं ने समय के इस अन्तराल को बोझिल बना दिया था। जब किसी देश को लूटा जाता था, वहाँ की संस्कृति या तो नष्ट हो जाती थी या दुर्बल। जब ईर्ष्या-द्वेष, अनाचार-अत्याचार का अंधकार सम्पूर्ण विश्व को धीरे-धीरे ग्रसता जा रहा था, तब इस देश के मनीषियों ने यह निर्णय लिया कि लुटेरे आक्रमणकारियों और प्रतिकूल परिस्थितियों से अपनी सांस्कृतिक सम्पदा को सुरक्षित रखने के लिए कुछ लोग समाज से अलग होकर रहें, अपना पूरा जीवन आध्यात्मिक परम्परा को सुरक्षित रखने और उसे सम्वर्द्धित करने के लिए समर्पित कर दें। ऐसे लोग सरल जीवनयापन करते थे, ताकि समाज उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके और अनुकूल समय आने पर वे ज्ञान का वह संचित कोष समाज को वापस कर दें।

जो लोग आध्यात्मिक परम्परा को सुरक्षित रखने के लिए समाज से दूर चले गये, उन्हें संन्यासी कहा गया। वे अत्यन्त शक्तिशाली, समर्थ और स्वतन्त्र होते थे, उनका जातिगत या राजनीतिगत कोई परिचय नहीं होता था। जब आक्रमणों, निरंकुश शासकों, अतिवृष्टि या अनावृष्टि के कारण समय प्रतिकूल हो जाता था तब ये लोग सुदूर क्षेत्रों में इस प्रकार लुप्त हो जाते थे कि किसी को उनकी कोई जानकारी नहीं हो पाती थी। वे इस तरह एकान्त में परम्परा को सुरक्षित रखते हुए उसे अपने अनुभव और ज्ञान से भी परिवर्द्धित करते जाते थे, और उस धरोहर को अपने उन विश्वसनीय शिष्यों को हस्तान्तरित कर देते थे जिन्हें वे इस योग्य समझते थे कि वे इस परम्परा को सुरक्षित रख पायेंगे और अगली पीढ़ी को हस्तान्तरित कर पायेंगे। हस्तान्तरण की इस पद्धति को संन्यास परम्परा के नाम से जाना गया। इस प्रकार, राजनैतिक उथल-पुथल और सामाजिक विघटन के समय भी यह सनातन संस्कृति अक्षुण्ण रह गयी, जबकि अन्य देशों की संस्कृतियाँ विलुप्त हो गयीं।

संन्यास परम्परा क्या है? किस दार्शनिक आधार से इसका विकास हुआ? प्राचीन काल की ऋषि परम्परा से यह किस प्रकार भिन्न है? इन प्रश्नों का उत्तर पाने के लिए हमें प्राचीन काल में प्रचलित दर्शन और संस्कृति पर दृष्टिपात करना होगा।

वैदिक संस्कृति

वैदिक सभ्यता बलि और कर्मकाण्ड के धूम्र से धूमिल थी। इन क्रियाओं का मुख्य उद्देश्य अपने इष्ट देवता का आवाहन कर स्वस्थ, समृद्ध और आनन्दपूर्ण जीवन का आशीर्वाद प्राप्त करना था। प्रतिदिन सुबह-शाम बलि, अमावस्या और पूर्णिमा के दिन बलि तथा विभिन्न ऋतुओं में बलि चढ़ायी जाती थी। गृहस्वामी स्वयं पूजा-पाठ के साथ यह बलि चढ़ाते थे। प्रतिष्ठा और समृद्धि के अनुपात में ही बलि के साथ अनुष्ठान भी विस्तृत होता जाता था, जैसे– बलि में चढ़ाई जाने वाली सामग्रियों, पुजारियों की वृहत् व्यवस्था तथा दान में दी जाने वाली विपुल धन-राशि। वह आध्यात्मिक भौतिकवाद का युग था। इस प्रकार के क्रिया-कलापों से उस समय के लोग जीवन के भौतिक और आध्यात्मिक आयामों के बीच संतुलन बनाये रखने का प्रयास करते थे।

बाद में उपनिषदों के रचयिता आये, जो सचमुच सिद्ध, मनीषी और ज्ञानी थे। उन्होंने उस सत्य की खोज की जो इस भौतिक जगत् के ही नहीं, बल्कि पूरी सृष्टि के पीछे छुपा है। उन्होंने अपने अनुभव को ब्रह्म के रूप में व्यक्त किया, जो परम सत्य है तथा जिसकी अनुभूति जीवात्मा और परमात्मा के मिलन से होती है। इस मिलन को मोक्ष कहा गया, अर्थात् संसार के बन्धनों से मुक्ति।

भारतीय दर्शन के अनुसार मनुष्य की नियति उसके कर्मों से नियन्त्रित होती है। एक जन्म के अच्छे या बुरे कर्म अगले जन्म में साथ जाते हैं। सज्जन और दुर्जन, दोनों को ही बार-बार पुनर्जन्म लेना पड़ता है। जन्म और मृत्यु का अनादि और अनन्त चक्र ही संसार है, जिससे तिरोहित होकर ही मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है। कर्मों को नियन्त्रित करते हैं पाँच क्लेश – अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश। यह चक्र प्रारम्भ होता है अविद्या से, जो अहम्-बोध से जुड़ जाता है। आगे चलकर यह इच्छाओं को जन्म देता है और इच्छा-पूर्ति के लिए प्रेरित करता है। इस प्रकार कर्म और संसार का कभी न खत्म होने वाला चक्र चलता ही रहता है। इस चक्र में उलझने से बचने के लिए अपने अन्दर विरक्ति और त्याग की भावनाओं को सम्पोषित करना होगा। यह विवेक द्वारा सम्भव है। विवेक के माध्यम से ही उच्चतम ज्ञान और मोक्ष की प्राप्ति होती है।

मोक्ष का मार्ग

मोक्ष या परम तत्त्व के ज्ञान का मार्ग अत्यन्त दीर्घ और दुःसाध्य है। यह मार्ग बाधाओं और अनिश्चितता से पूर्ण होता है। सच्चे साधक कई जन्मों तक इस मार्ग पर चलते रहे, पर उन्हें लक्ष्य की प्राप्ति नहीं हुई। उन्होंने पाया कि पारिवारिक और सामाजिक कर्तव्यों में बंधकर आध्यात्मिक पथ पर चलना कठिन है। इसलिए अधिक आतुर साधकों ने अपने आध्यात्मिक अभ्यासों को सिद्ध करने के लिए समाज को छोड़ परिवार के साथ वनों में रहने का निर्णय लिया, जहाँ का शान्त और एकान्त वातावरण आध्यात्मिक प्रगति में सहायक होता है। जीवन की इस पद्धति को ऋषि-परम्परा के नाम से जाना गया, जो अत्यन्त प्राचीन है। रामायण और महाभारत से हमें इस परम्परा के महत्त्व का पता चलता है। उस समय के राजा-महाराजा सदैव इन्हीं ऋषियों से मार्ग-दर्शन प्राप्त करते थे और उनके पुत्र भी इन्हीं से हर प्रकार की शिक्षा ग्रहण करते थे।

दक्षिण भारत में आज भी प्रत्येक परिवार किसी-न-किसी महान् ऋषि के वंश से सम्बद्ध है। ऐसी घटनाएँ भी इतिहास में मिलती हैं कि कुछ राजा अपने आध्यात्मिक उत्थान के लिए अपने राज्य का त्याग कर एकान्त वनों में चले गए और अन्ततः उन्होंने राजर्षि का पद पाया।

ऋषिगण ब्राह्मण हुआ करते थे, जिन्हें वैदिक समाज में सर्वोच्च स्थान प्राप्त था। वे वैदिक धर्म के नियमों का कड़ाई से पालन करते थे। उनमें से एक नियम है–प्रत्येक व्यक्ति पर संतानोत्पत्ति के दायित्व का। यही कारण है कि एकान्त में रहकर आध्यात्मिक जीवनयापन करने का निर्णय लेने के बावजूद उन्हें विवाह कर अपने परिवार के साथ रहना पड़ता था। किन्तु वे अपना समय स्वयं के तथा दूसरों के लाभ के लिए आध्यात्मिक साधना, तप और वैदिक क्रियाओं में व्यतीत करते थे। उन्होंने आध्यात्मिक विकास की महत्तर ऊँचाइयों को छुआ, जैसा कि उनके द्वारा रचित उपनिषदों और उनकी शिक्षाओं से ज्ञात होता है।

आध्यात्मिक ऊँचाइयों को प्राप्त करने के बावजूद ऋषियों ने यह अनुभव किया कि पारिवारिक बन्धन अध्यात्म के परम लक्ष्य तक पहुँचने के मार्ग को बाधित करते हैं। इसलिए जिनमें परम लक्ष्य को प्राप्त करने की अभीप्सा थी, उन्होंने जीवन के सभी बन्धनों को पूर्णरूपेण त्याग कर संन्यास-मार्ग को अपना लिया। ये प्रथम संन्यासी नहीं थे। सदा-ही ऐसे त्यागी लोग हुए हैं, जो एकान्त में रहते और जगह-जगह घूमते रहते थे। किन्तु इनका कोई संगठन नहीं था। हर कोई अपनी व्यवस्था स्वयं करता था। कभी ये छोटे-छोटे समूह बना लेते, किन्तु ये समूह शीघ्र विघटित हो जाते। धीरे-धीरे जब ऋषियों ने पूर्ण त्याग का मार्ग अपनाना प्रारम्भ किया तो संन्यास परम्परा एक निश्चित रूप ग्रहण करने लगी और ऋषि परम्परा पृष्ठभूमि में रह गई।

जहाँ ऋषि परम्परा सामाजिक, पारिवारिक और धार्मिक दायित्वों से बँधी हुई थी, वहीं संन्यास परम्परा के साथ ऐसा कोई बन्धन नहीं था। संन्यासियों की ऐसी मान्यता थी कि कर्मकाण्ड, संतानोत्पत्ति या सम्पत्ति से नहीं, बल्कि त्यागपूर्ण जीवन से ही मोक्ष प्राप्त होता है। उनके अनुसार जीवन के सारे बन्धनों से विच्छेद करना ही त्याग था–किसी प्रकार का बन्धन नहीं–पारिवारिक, सामाजिक, जातिगत, साम्प्रदायिक, धार्मिक, राजनैतिक, कुछ भी नहीं। वस्तुतः संन्यास एक तरह से पुनर्जन्म था, जिसमें

एक बार प्रवेश कर लेने के बाद वापस नहीं लौटा जा सकता। इस प्रकार यह माना गया कि संन्यास परम्परा मोक्ष प्राप्ति का प्रत्यक्ष मार्ग है, जबकि ऋषि परम्परा अप्रत्यक्ष।

ऋषि और संन्यास परम्परा पर विचार करते समय एक महत्त्वपूर्ण तथ्य को ध्यान में रखना होगा कि ऋषि परम्परा वैदिक संस्कृति से उत्पन्न हुई, किन्तु संन्यास परम्परा इससे विकसित नहीं हुई। संन्यास की जड़ें प्रागैतिहासिक गहराइयों में छुपी हैं। सामान्यतया यह माना जाता है कि संन्यास परम्परा का शुभारम्भ चार कुमारों के द्वारा हुआ, जो ब्रह्मा के मानस पुत्र थे। उन्होंने पूर्ण रूप से त्यागमय जीवन अपनाया था। संन्यास का उद्गम द्रविड़ तपस्वियों के बीच भी मिलता है, जहाँ तान्त्रिक संस्कृति प्रचलित थी और उन संन्यासियों को 'यति' कहा जाता था। द्रविड़ों की यह तान्त्रिक संस्कृति भारत में वैदिक संस्कृति के उद्भव के पूर्व से ही अस्तित्व में थी। बाद में आर्यों ने इन योगी-तपस्वियों को चतुर्थ आश्रम, अर्थात् संन्यास आश्रम के अन्तर्गत समाविष्ट कर लिया।



आश्रम व्यवस्था

प्राचीन भारत के ऋषियों ने मानव-जीवन को चार आश्रमों में विभक्त किया। जन्म से मृत्युपर्यन्त मानव जीवन को सामंजस्यपूर्ण बनाए रखने के लिए ऐसी पद्धति का प्रतिपादन किया गया। यह एक प्रगतिशील व्यवस्था थी, जिसके अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति अपनी आकांक्षाओं और भूमिकाओं को पूरा कर सकता है। यह एक ऐसा साधन था जिसके द्वारा समय की सामान्य गति के साथ, अपनी स्वाभाविक इच्छाओं का दमन किए बिना और अपने उत्तरदायित्वों से मुँह मोड़े बिना मोक्ष की प्राप्ति सम्भव हो सकती है। इस व्यवस्था ने भौतिक जीवन को आध्यात्मिक जीवन के साथ संयुक्त कर दिया।

इस सम्बन्ध में एक मनोरंजक तथ्य यह है कि प्रारम्भ में केवल तीन आश्रम थे–ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ या आरण्यक। चौथा आश्रम, जो संन्यास आश्रम है, उसे बाद में जोड़ा गया, ठीक वैसे ही जैसे ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद के बाद अथर्ववेद की रचना कर उसे वेदों की पंक्ति में रखा गया। तान्त्रिक संस्कृति के जो तपस्वी, मुनि या यति के नाम से जाने जाते थे, वे भारत में ऋषि परम्परा के प्रादुर्भाव के पूर्व से ही विद्यमान थे, परिणामस्वरूप हम देखते हैं कि आर्यों ने मुनियों को संन्यासियों, भिक्षुओं या परिव्राजक के रूप में अपने चौथे आश्रम में आत्मसात् कर लिया।

पुरुषार्थ

ऋषियों का ऐसा विश्वास था कि मोक्ष प्राप्त करने, अर्थात् जन्म-मृत्यु के चक्र से मुक्त होने के लिए ही मनुष्य इस पृथ्वी पर जन्म लेता है। उन्होंने पाया कि अपनी चेतना का विस्तार कर मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए दो मार्ग बताए गए हैं। एक है 'प्रवृत्ति मार्ग', अर्थात्

बहिर्मुखता का मार्ग, जिसमें सांसारिक वस्तुओं के प्रति आसक्ति सम्मिलित है। दूसरा 'निवृत्ति मार्ग' कहलाता है। इसका तात्पर्य है अन्तर्मुखता से, जिसके द्वारा आत्मज्ञान प्राप्त होता है। मानव-जीवन में ब्रह्मचर्य और गृहस्थ आश्रम का महत्त्वपूर्ण स्थान है। ये दोनों अवस्थाएँ प्रवृत्ति मार्ग के अंग हैं। इनके अन्तर्गत मनुष्य व्यक्तिगत, पारिवारिक और सामाजिक उत्तरदायित्वों का निर्वाह करता है। जब चार आश्रमों की व्यवस्था की गई थी, तब गृहस्थ जीवन के कर्त्तव्यों को पूरा करने के पश्चात् आध्यात्मिक ज्ञान की प्राप्ति के लिए सामाजिक-पारिवारिक जीवन का त्याग कर वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम में प्रवेश करने की अनुमति दी जाती थी। ये दोनों अवस्थाएँ निवृत्ति मार्ग की अंग हैं।

यदि प्रत्येक व्यक्ति के अन्दर आत्मानुभूति की संभावना उत्पन्न हो सकती है तो इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए ही आश्रमों की व्यवस्था की गई थी। तत्पश्चात् ऋषियों ने मानव-जीवन की आवश्यकताओं के मूल रूप से चार विभाग किए और उन्हें 'पुरुषार्थ' नाम दिया। पुरुषार्थ, अर्थात् प्रयत्न, परिश्रम या उद्यम। चेतना के विकास के लिए पुरुषार्थों का विशेष महत्त्व है। ये चार पुरुषार्थ हैं–काम, अर्थ, धर्म और मोक्ष। ये चारों अभिन्न रूप से आश्रम व्यवस्था से सम्बद्ध हैं। 'काम' का तात्पर्य है अपनी इच्छाओं की पूर्ति करना, केवल यौनेच्छा नहीं, बल्कि सभी प्रकार की इच्छाएँ। 'अर्थ' का तात्पर्य है, जीवन के हर क्षेत्र में निपुणता प्राप्त करना। अपने स्वभाव के अनुसार जीवन के कर्त्तव्यों का पालन करना ही 'धर्म' है। 'मोक्ष' का तात्पर्य है आत्म-ज्ञान की प्राप्ति।

यदि जीवन को आद्यान्त पूर्णरूपेण जीना है तो इन पुरुषार्थों का पूर्णरूपेण निर्वाह करना होगा। प्रथम तीन पुरुषार्थों का दमन करने से स्नायु रोग लग जाते हैं और तब मोक्ष प्राप्त करना सम्भव नहीं होता। प्रथम तीन आवश्यकताओं–काम, अर्थ और धर्म की स्वाभाविक अभिव्यक्ति तथा उनका परितोषण ही अन्ततोगत्वा मोक्ष प्राप्ति में सहायक होता है। किन्तु इन तीनों के प्रति अत्यधिक आसक्ति भी माया में डालती है और मोक्ष-मार्ग से दूर ले जाती है। अत: कुशल निर्देशों के अनुसार आश्रम व्यवस्था के अन्दर चलते हुए, प्रथम तीन पुरुषार्थों का निर्वाह किया जाना चाहिए तभी मोक्ष की प्राप्ति सम्भव होती है। यह मोक्ष प्राप्ति का सहज और सरल मार्ग है, जो सभी के लिए अनुगमनीय है।

आश्रम

वर्तमान काल की संन्यास-परम्परा की स्थापना के बहुत पहले से ही आश्रम व्यवस्था प्रचलित थी। आश्रम व्यवस्था के अनुसार जीवन की प्रथम तीन अवस्थाओं से सम्बन्धित सभी इच्छाओं और आवश्यकताओं की पूर्ति के पश्चात् संन्यास का स्थान था, जिसके लिए पूर्ण त्याग अनिवार्य था। प्रथम तीन आश्रमों में सभी इच्छाओं की पूर्ति कर लेने के पश्चात् पूर्ण-त्याग एक स्वाभाविक परिणाम है। यह आश्रम-व्यवस्था एक ऐसी तर्क संगत व्यवस्था है, जो जीवन को क्रमबद्ध और उद्देश्यपूर्ण बनाती है, क्योंकि तब जीवन का उद्देश्य केवल भौतिक इच्छाओं और आकांक्षाओं की पूर्ति तक सीमित नहीं रह जाता, बल्कि इनके साथ परमोत्कर्ष के रूप में मोक्ष प्राप्त करना भी जीवन का एक परम लक्ष्य बन जाता है। वे लोग, जिन्होंने आश्रम व्यवस्था का अनुसरण किया, वृद्धावस्था में संन्यास ग्रहण करते थे। कहने का तात्पर्य यह है कि जब कोई व्यक्ति जीवन की विभिन्न अवस्थाओं से गुजरता है तब स्वाभाविक रूप से अपने आंतरिक अस्तित्व के साथ उसका सामंजस्य स्थापित हो जाता है। अब हम आश्रम व्यवस्था की जीवन शैली का संक्षिप्त वर्णन करते हैं।

ब्रह्मचर्य आश्रम (छात्र जीवन–25 वर्ष की अवस्था तक)–परम्परा के अनुसार, बच्चों को शिक्षा प्राप्त करने के लिए बाल्यावस्था से युवावस्था तक के लिए एक गुरु के पास भेज दिया जाता था। बचपन से ही गुरु-परिवार के साथ रहने पर उनमें जीवन की गहराइयों को समझने की क्षमता आ जाती थी और उनका जीवन अधिक सामंजस्यपूर्ण हो जाता था। यह आश्रम जीवन की आकांक्षाओं की पूर्ति का प्रथम चरण माना जाता है। इस अवधि में ऐसी शिक्षा और ऐसा ज्ञान दिया जाता था जो किसी विशेष व्यवसाय के लिए व्यक्ति को पूर्ण रूप से निपुण बना दे, ताकि वह भविष्य की आकांक्षाओं, आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके और उपलब्धियाँ प्राप्त कर सके। वह मन, वचन और कर्म की शुचिता के लिए प्रतिबद्ध होता था। ब्रह्मचर्य के यही लक्षण होते थे। एक शुद्ध मन-मस्तिष्क में अपार इच्छा शक्ति होती है। जीवन की इस अवस्था में आध्यात्मिक और सांसारिक अध्ययनों के अतिरिक्त व्यक्तित्व और चरित्र के सर्वांगीण विकास पर विशेष बल दिया जाता है, जो आत्म-नियन्त्रण, सत्यनिष्ठा और आत्म-समर्पण से सम्भव होता है।

गृहस्थ आश्रम (पारिवारिक जीवन–25 से 50 वर्ष की अवस्था तक)–उचित समय पर ब्रह्मचारी को उसके घर भेज दिया जाता था। वहाँ विवाह और संतानोत्पत्ति के साथ-साथ वह समाज का एक सक्रिय और उपयोगी सदस्य बन जाता था। अपने छात्र-जीवन में जो ज्ञान, योग्यता, दक्षता और चारित्रिक प्रशिक्षण उसने प्राप्त किया था, उन सब का उपयोग वह अपने समाज और देश की प्रगति तथा उत्थान के लिए करता था। अपने माता-पिता की देखभाल कर वह उनके ऋण से मुक्त होता था। धर्मशास्त्र के रचयिता मनु के अनुसार जीवन की यह अवस्था अन्य तीन अवस्थाओं की आधारशिला है।

वानप्रस्थ आश्रम (वनवास–50 से 75 वर्ष की अवस्था तक)–धर्म और परम्पराओं के अनुसार अपने जीवन के सभी उत्तरदायित्वों का पूरी तरह निर्वाह कर लेने के पश्चात् मनुष्य को वन की शरण लेनी चाहिए। मनु के मतानुसार ऐसे व्यक्ति को सक्रिय जीवन से दूर चले जाना चाहिए, जिसके बाल पक गए हैं, झुर्रियाँ पड़ गई हैं और जो पितामह बन चुका है। त्याग और ईश्वर-प्राप्ति के परम लक्ष्य को सामने रखते हुए उसे वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करने की तैयारी करनी चाहिए। उससे यह भी अपेक्षा की जाती है कि वह वन में रहे। यदि उसकी पत्नी चाहे तो वह भी उसके साथ वन जा सकती है, किन्तु तब वन के कठिन जीवन के लिए उसे भी तैयार रहना चाहिए।

सारे सुखों का परित्याग कर कंद-मूल-फल के मिताहार के साथ अपना अधिकांश समय उन्हें साधना, प्रार्थना और शास्त्रों के अध्ययन में व्यतीत करना चाहिए। इस प्रकार वानप्रस्थ आश्रम में आत्म-ज्ञान की प्राप्ति ही मनुष्य के जीवन का एक मात्र लक्ष्य बन जाती थी। धीरे-धीरे शरीर भी संयम और तपपूर्ण जीवन का अभ्यस्त हो जाता था, जिसके फलस्वरूप आन्तरिक चेतना का विकास सम्भव होता है।

संन्यास आश्रम (पूर्ण त्याग–75 वर्ष के आगे)–जीवन की सारी उपलब्धियों, सारे बन्धनों से मुक्त होकर मनुष्य संन्यास आश्रम में पूर्ण त्याग का जीवन व्यतीत करता था। उसे अपनी पत्नी का भी त्याग करना पड़ता था। जीवन की द्विविधिता से मुक्त होकर वह अपने मन को ध्यान में एकाग्र करता था। मनु ने अपनी छठी पुस्तक में भिक्षु या परिव्राजक के रूप में परिभ्रमण करने का निर्देश दिया है। इस अवधि में उसे अग्नि, घर और आश्रम के बिना रहना होता था। वह दिन में एक बार भिक्षा लेता था, तथा मौन और अहिंसा

का पालन करता था। संक्षेप में, वह सभी सांसारिक बन्धनों का त्याग कर देता था। ऐसी अवस्था में उस पर किसी प्रकार का सामाजिक उत्तरदायित्व नहीं रह जाता था। उसका जीवन निरन्तर जीवात्मा और परमात्मा के सम्बन्धों की खोज में लगा रहता था।

आश्रम व्यवस्था जीवन का ऐसा अभिन्न अंग था कि ऋषियों ने वेदों में प्रत्येक आश्रम के लिए विशेष अध्याय बना दिए, जैसे–ब्रह्मचर्य के लिए संहिता, गृहस्थ के लिए ब्राह्मण, वानप्रस्थ के लिए आरण्यक और संन्यास के लिए उपनिषद्। उन्होंने प्रत्येक आश्रम को चेतना की विभिन्न अवस्थाओं के साथ भी सम्बद्ध कर दिया–ब्रह्मचर्य के साथ 'जाग्रत', गृहस्थ के साथ 'स्वप्न', वानप्रस्थ के साथ 'सुषुप्ति' और संन्यास के साथ 'तुरीय'। चेतना की इन अवस्थाओं की पूर्ण व्याख्या के लिए माण्डूक्य उपनिषद् की सहायता ली।

यद्यपि आश्रम व्यवस्था वैदिक परम्परा का एक महत्त्वपूर्ण अंग थी, किन्तु इसके नियमों का अक्षरश: पालन करने की बाध्यता भी नहीं थी। जाबाल उपनिषद् की व्याख्या से यह स्पष्ट हो जाता है–एक बार विदेह राजा जनक ऋषि याज्ञवल्क्य के पास गए और कहा, 'श्रद्धेय, मुझे त्याग के विषय में ज्ञान दीजिए।' याज्ञवल्क्य ने कहा, "ब्रह्मचर्य के पश्चात् गृहस्थ जीवन में आना चाहिए। गृहस्थ जीवन व्यतीत करने के बाद वनवासी हो जाना चाहिए। और इसके बाद प्रत्येक वस्तु का त्याग कर देना चाहिए, अर्थात् संन्यास ले लेना चाहिए। यदि उपयुक्त अवसर हो तो जीवन की किसी अवस्था–ब्रह्मचर्य, गृहस्थ या वानप्रस्थ–में सारे बन्धनों का त्याग किया जा सकता है। ऐसा व्यक्ति जो सदा त्याग के लिए तत्पर हो, उसे उसी दिन त्याग कर देना चाहिए जिस दिन उसके अन्दर त्याग की महत् भावना और गहन इच्छा उत्पन्न होती है।" (भाग–4)

इस प्रकार नियमों के बावजूद आश्रम व्यवस्था में लचीलापन था।

ऋषि एवं मुनि

संस्कृत के मूल शब्द ऋष् से ऋषि की उत्पत्ति हुई है। ऋष् का अर्थ है, 'अन्तर्मुख' होना या 'प्रवाहित होना'। इस प्रकार ऋषि का अर्थ हुआ–जो आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिए चिन्तन या ध्यान करे, जिसकी चेतना सदा प्रवाहमान हो। वेद मन्त्रों का प्रकाशन करने वाले व्यक्ति ऋषि होते थे। वे लोग प्राचीन भारत में मन्त्रों के रचयिता, कवि, संत और मनीषी थे। ऐसा माना जाता है कि ऋषि परम्परा का प्रारम्भ भगवान् नारायण के द्वारा हुआ था। उन्होंने ब्रह्मा को इसका ज्ञान दिया और ब्रह्मा ने यह ज्ञान अपने मानस पुत्र वशिष्ठ को प्रदान किया। इस प्रकार ऋषि परम्परा की कड़ी वशिष्ठ से शक्ति, पराशर, व्यास, शुकदेव आदि से आगे बढ़ती गई।

ऋषियों में तीन गुण होते थे–सकारात्मकता, सार्विकता और दिव्यता। उनका विश्वास था कि जिसका अपने ऊपर नियंत्रण होता है, उसके लिए आश्रम ही उसका घर हो जाता है। अपनी साधना के द्वारा वे अपनी चेतना को सूक्ष्म बना लेते थे। वे गुरुचर्या का अभ्यास करते, सिद्धान्तों की शिक्षा देते और अपने शिष्यों को आध्यात्मिक शक्ति से अनुप्राणित करते थे।

आज की भारतीय संस्कृति ऋषियों की ही देन है। वे अध्यात्म के ऐसे उच्च शिखर पर पहुँच गए थे, जहाँ से उन्होंने अपनी शक्ति का रचनात्मक उपयोग कर समाज का उत्थान किया। वस्तुत: ऋषियों ने ही इस देश को भारत नाम दिया था। यह शब्द संस्कृत के दो मूल शब्दों 'भा', अर्थात् प्रकाश और 'रत', अर्थात् निमग्न–के मेल से बना है। इस प्रकार ऋषियों के अनुसार भारत ऐसा देश था, जो प्रकाश में निमग्न था।

ऋषियों का गौरव

ऋषि परम्परा को महान् मानने का एक महत्त्वपूर्ण कारण है, उसका मानवीय पक्ष। वे सदा लोकहित के लिए तत्पर रहते थे। परिजनों के प्रति अपने दायित्वों को पूरा करने के पश्चात् वे लेखन और वैदिक ज्ञान के प्रचार-प्रसार और सम्वर्द्धन में लग जाते थे। स्वयं तो धार्मिक अनुष्ठान करते ही थे, दूसरों को भी उसके लिए प्रोत्साहित करते थे। दलितों की सुरक्षा का ध्यान रखते थे और हर प्रकार से समाज के कल्याण में लगे रहते थे। इन्हीं गुणों के कारण ऋषि परम्परा विशिष्ट और चिरस्थायी बन गई। वे वैदिक मन्त्रों के द्रष्टा थे। वे बलि और तपस्या का विभिन्न रूपों में निष्पादन करते थे।

अपनी प्रवृत्ति के अनुसार ऋषियों की अपनी-अपनी विशेषता होती थी, जैसे-कोई गृहस्थ होकर रहना पसंद करते थे, कोई आश्रमवासी थे। कुछ लगातार परिव्राजन में ही रहते थे। शिष्यों को पवित्र ज्ञान देना कुछ ऋषियों का धर्म था, जबकि कुछ ऋषि शस्त्रास्त्रों की शिक्षा देते थे। कुछ ऋषि केवल साधारण तप करते थे, तो कुछ घोर तपस्या में लगे रहते थे। प्रत्येक ऋषि में आत्मसम्मान, दृढ़ इच्छाशक्ति, स्पष्टवादिता, सत्यनिष्ठा, उदारता, आश्रयदेयता, क्षमाशीलता और संतोष के गुण होते थे। तपस्वी होने के कारण वे सामान्यतया इतने दुबले होते थे कि उनकी शिराएँ स्पष्ट दिखाई देती थीं। उनके केश सिर के ऊपर जटामण्डल के रूप में लपेटे हुए रहते थे। उनकी लम्बी-लम्बी दाढ़ियाँ होती थीं और वस्त्र बहुत ही सादा, सामान्यत: या तो कुश का, वृक्ष की छाल का या मृगचर्म का।

जीवन शैली

ऋषियों के आश्रम पूरे भारत में फैले हुए थे। वे विशेषकर पहाड़ों पर, समुद्र तट पर, नदी या झील के किनारे और तीर्थ स्थानों में रहना पसन्द करते थे। परशुराम, वशिष्ठ और व्यास के आश्रम उत्तर में थे। भृगु और अंगीरस के आश्रम पूर्व में, अगस्त्य और कपिल के दक्षिण में तथा दुर्वासा और कश्यप के पश्चिम में थे। तपस्या के लिए हिमालय सर्वाधिक उपयुक्त स्थान था। आश्रमों में अनेक प्रकार के जानवर रहते थे, जैसे, मृग और गायें। अधिकतर ऋषियों के पास विशेष गायें होती थीं, जिन्हें होम-धेनु कहा जाता था। इन होम-धेनुओं का दूध विशेषकर हविष्य के रूप में प्रयुक्त होता था। ऐसा माना जाता था कि वशिष्ठ की प्रिय होम-धेनु नंदिनी को दिव्य शक्तियाँ प्राप्त थीं।

ऋषि-आश्रमों की कुछ निश्चित विशेषताएँ होती थीं, जिनसे तुरन्त यह पता चल जाता था कि वह आश्रम है, जैसे–प्रवेश के पूर्व वृक्षों का उपवन, विशेष द्वार, होमधूनि, शिष्यों के शिक्षण-स्थल और धार्मिक प्रवचन-स्थल। आश्रमों में अभ्यागतों के प्रवेश के लिए प्राय: कोई निषेध नहीं होता था। कुछ ऋषि जंगलों में पाए जाने वाले कन्द-मूल-फल पर निर्वाह करते थे, जबकि कुछ ऋषि गृहस्थों से प्राप्त भिक्षा पर। अधिकतर ऋषि फलाहारी होते थे, किन्तु कुछ लोग केवल जल या वायु पर जीवित रहते थे। वे बलि के समय सोम वृक्ष का मादक रस पीते थे। मांसाहार निषिद्ध नहीं था, किन्तु आमिष-भोजी विरले ही थे।

वैदिक काल की सामान्य मान्यताओं के अनुसार, मृत्यु के बाद सर्वोच्च पद प्राप्त करने के तीन साधन थे–तपस्या, धार्मिक आचरण और सन्तानोत्पत्ति *(महाभारत– आदिपर्व, 13:21)।* कुछ ऋषि वेदों के अध्ययन के पश्चात् तपश्चर्या और धार्मिक आचरण में ही समय व्यतीत करते थे। जबकि अन्य ऋषियों ने पुत्रोत्पत्ति की कामना से विवाह किया, जैसे–अष्टावक्र और सुप्रभा, अगस्त्य और लोपामुद्रा, द्रोण और कृपी, कश्यप और अदिति। इन ऋषियों का विश्वास था कि पुत्र-प्राप्ति से पितरों का पतन नहीं होगा, वंश का नाश नहीं होगा। ऋषि-पत्नियाँ भी ऋषियों के समान तपस्या और धार्मिक अनुष्ठान किया करती थीं।

शैक्षिक और धार्मिक जीवन

ऋषियों का अधिक समय अध्ययन और विभिन्न प्रकार के साहित्यों के सृजन में व्यतीत होता था। सम्पूर्ण वैदिक साहित्य–संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, कल्पसूत्र, उपनिषद्, खिल (वेदों के परिशिष्ट) और वेदांग (व्याकरण, छन्द-शास्त्र, ज्योतिष शास्त्र, खगोल शास्त्र इत्यादि) की रचना ऋषियों ने ही की थी। उन्होंने अनेक दर्शन-साहित्यों का सृजन किया था, जैसे–उलुक (कणाद) का वैशेषिक, गौतम का न्यायशास्त्र, कपिल का सांख्य, पतन्जलि का योगशास्त्र, जैमिनी की मीमांसा, बादरायण का वेदान्त। उन लोगों ने तत्कालीन समय में प्राप्त साहित्य का संग्रह कर उनकी मीमांसा की और आगम साहित्य, पुराण तथा अन्य ऐतिहासिक एवं पद्यात्मक साहित्यों की रचना की थी। धर्म विज्ञान, अर्थशास्त्र, कूटनीति और सैन्य बल सम्बन्धी शास्त्रों के भी रचयिता थे। बोधायन ने कल्पसूत्रों की रचना की, गार्ग्य नक्षत्रों के प्रथम गणक थे, सुश्रुत

शल्य चिकित्सा के जनक थे, सर्वप्रथम अस्थवर्ण ने अग्नि की खोज की एवं कणाद ने ही सर्वप्रथम अणु सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था।

कुछ ऋषियों की शिक्षा एक ही गुरु और शिक्षक के पास हुई, जबकि कुछ ऋषियों ने विभिन्न गुरुओं से प्रशिक्षण प्राप्त किया। वैदिक काल में लड़कों के साथ-साथ लड़कियों को भी शिक्षा दी जाती थी। वे गुरुकुल में रहकर शिक्षा ग्रहण करने के साथ-साथ गुरु की सेवा में भी लगे रहते थे।

ऋषियों का धार्मिक जीवन उनके शैक्षिक जीवन से भिन्न होता था। वे प्रतिदिन कुछ धार्मिक अनुष्ठान किया करते थे, जैसे–संध्या, जप, बलि, ईश्वर-आराधना, अग्निहोत्र इत्यादि। बलि के समय वे सोम-रस का पान करते थे। वे कभी पितरों का तर्पण और श्राद्ध करना नहीं भूलते थे। वे प्राय: तीर्थ पर जाते और वहाँ यज्ञ करते थे। ऋषिगण एकान्त में रहकर तप तथा शिव, विष्णु, ब्रह्मा और अन्य देवताओं का ध्यान किया करते थे। इस प्रकार के अभ्यासों से उन्हें बहुत-सी अलौकिक शक्तियाँ प्राप्त हो जाती थीं। तपस्या के क्रम में अनेक ऋषि केवल जल या वायु पर जीवित रहते थे और कभी-कभी तो केवल अपने प्राण पर आश्रित रहते थे।

मानवीय पक्ष

यह पूर्व सिद्ध तथ्य है कि ऋषियों के जीवन का अधिक समय आत्म-ज्ञान की प्राप्ति में व्यतीत होता था। यद्यपि यह भी सत्य है कि वे समाज के हित के लिए अपने स्वार्थ का त्याग करने को सदा तैयार रहते थे। वे दलितों और अपने आश्रितों की सहायता एवं दुष्टों का नाश करने के लिए भी सदा प्रस्तुत रहते थे। वे स्वेच्छाचारी एवं निरंकुश व्यक्तियों के दमन के लिए शस्त्रों का दक्षता से प्रयोग करते थे। वे प्राय: सामाजिक आयोजनों, जैसे स्वयंवर, राज्याभिषेक आदि में भी जाते थे। राजागण ऋषियों का अत्यधिक आदर करते थे और जो ऋषि महाविद्वान् और परम ज्ञानी होते थे, वे अन्य ऋषियों द्वारा भी समादृत होते थे।

मुनि

'मुनि' शब्द का मूल संस्कृत के 'मन्' धातु में है, जिसका अर्थ होता है 'मनन करना', 'सोचना'। इस प्रकार मुनि का तात्पर्य ऐसे व्यक्ति से है जो चिन्तन-मनन करता है या जिसने मन को जीता है। अध्यात्म में महान्

उपलब्धियाँ प्राप्त करने वाले को मुनि कहा जाता था। संस्कृत में मुनि शब्द का अर्थ भी मनीषी, ज्ञानी, तपस्वी और आश्रमवासी है। भगवान् बुद्ध का एक नाम शाक्यमुनि था, अर्थात् शाक्यों के मुनि। मुनियों के निश्चित उद्गम का पता नहीं चला है। ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक संस्कृति के साथ आर्यों के भारत-प्रवेश के पूर्व से ही मुनियों का स्थानीय रूप विद्यमान था।

मुनि गेरु वस्त्र पहनते थे, उन्होंने अग्नि का भी त्याग किया था और वे वनों में एकान्तवास करते थे। अग्नि पर पके हुए भोजन भी उनके लिए वर्जित थे। वे ब्रह्मचर्य का पालन करते थे और घोर तप में लीन रहते थे। वे सत्य और अहिंसा का कठोरता से पालन करते थे। सामान्यतः वे अपने सिर मुड़ा कर रखते थे। मांसाहार उनके लिए पूर्णतः निषिद्ध था। वे मौन का पालन करते हुए योगाभ्यास में लगे रहते थे। मनन-चिन्तन के द्वारा परमात्मा के साथ एकात्मकता स्थापित करना उनका लक्ष्य होता था। अनेक मुनियों ने अलौकिक शक्ति भी प्राप्त की। वस्तुतः आर्यों ने मुनियों से ही प्रेरित होकर आश्रम व्यवस्था की चौथी अवस्था, अर्थात् संन्यास आश्रम की स्थापना की थी।



वर्ण व्यवस्था

विस्तृत वर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत सम्पूर्ण समाज को औपचारिक रूप से चार वर्णों में विभक्त किया गया है—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। इस प्रकार की वर्ण व्यवस्था विश्व में कहीं और नहीं है, हालाँकि शायद ही ऐसा कोई देश हो जहाँ का समाज विशेष वर्णों या श्रेणियों में न बँटा हुआ हो। वेद की दृष्टि में समाज एक शरीर की तरह है, जिसमें विशेष रुचियों और योग्यताओं वाले व्यक्तियों के अलग-अलग समूह शरीर के विशेष अंगों के रूप में सबके हित के लिए काम करते हैं।

संस्कृत के वर्ण शब्द का अर्थ रंग होता है। इस शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में प्रथम तीन वर्णों का उल्लेख करने के लिए किया गया है। इन तीन वर्णों के सदस्य आर्य होने के कारण चौथे वर्ण—दास्य वर्ण के सदस्यों की अपेक्षा गोरे होते थे। दास्य वर्ण के लोग द्रविड़ मूल के होते थे, जिनका रंग काला होता था। मूल रूप से यह प्रतीत होता है कि आर्यों में पहले तीन ही वर्ण थे। अनेक विद्वानों का मत है कि चौथा वर्ण ऋग्वेद के अंत में तब जोड़ा गया जब आर्य पंजाब से होते हुए मध्य भारत में बसने लगे और द्रविड़ों एवं पहाड़ी जन-जातियों को अपने अधीन करने लगे।

वर्णों का यह विभाजन व्यक्ति की व्यवसाय-विशेष में रुचि के आधार पर किया गया। व्यक्ति की रुचि पर उसकी चेतना की आंतरिक स्थिति और उसके प्रबल गुणों का प्रभाव पड़ता है। वैदिक सिद्धान्तों के अनुसार, तमोगुण चेतना को अकर्मण्यता, क्रूरता और चिड़चिड़ेपन से आच्छादित कर देता है; रजोगुण व्यक्ति को सक्रिय, अशान्त और उत्सुक बना देता है; सतोगुण विश्रान्त, सजग और धैर्यवान् बनाता है, जिससे चेतना के विस्तार में सहायता मिलती है।

वर्ण विभाजन

वैदिक परम्परा में ब्राह्मण को सभी सद्‌गुणों का मूर्त रूप माना जाता था। अत: उन लोगों को वेदों और अन्य शास्त्रों के अध्ययन का विशेष अधिकार प्राप्त था। वर्ण-तंत्र में क्षत्रियों को द्वितीय स्थान प्राप्त था। उनका मुख्य कार्य अन्य तीन वर्णों की रक्षा करना तथा समाज में कानून-व्यवस्था बनाये रखना था, ताकि धर्म की उन्नति हो सके। राजाओं, योद्धाओं तथा छोटे-छोटे राज्यों के प्रमुखों से इस वर्ण की रचना की गयी थी। तीसरे स्थान पर वैश्य थे। वे व्यापार, पशु-पालन एवं कृषि-सम्बन्धी कार्य किया करते थे। वैश्यों पर समाज की आर्थिक स्थिति को संतुलित रखने का उत्तरदायित्व था। शूद्रों को वर्ण-क्रम की अंतिम श्रेणी में रखा गया था। उनका मुख्य कर्तव्य अन्य तीन वर्णों की सेवा करना तथा उनके कार्य के लिए श्रमिक उपलब्ध कराना था।

वैदिक सिद्धान्तों के अनुसार, मनुष्य को अध्ययन कर और सीखकर अपना विकास करना चाहिए। वैदिक समाज की वर्ण-व्यवस्था में प्रत्येक व्यक्ति के सम्यक् विकास तथा उसके गुणों से प्रभावित उसके कर्म पर विचार किया गया था। प्रारम्भ में वर्ण-व्यवस्था इतनी जटिल और अनम्य नहीं थी। विभिन्न वर्ण के लोगों के साथ बैठकर खाना और अन्तर्जातीय विवाह वर्जित नहीं था। उस समय व्यक्ति की योग्यता को उसके वंशानुगत क्रम से नहीं आँका जाता था।

वर्ण-व्यवस्था के जटिल और असह्य हो जाने के विषय में अनेक प्रकार के अनुमान लगाये गये हैं। ऋग्वेद के 'पुरुष सूक्त' में ऐसा ही एक अनुमान प्रतिध्वनित होता है। इस स्तोत्र में यह व्याख्या की गयी है कि 'परम पुरुष' ब्रह्म के मस्तक, बाहु, जंघा और पैरों से क्रमश: किस प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र उत्पन्न हुए। इस व्याख्या से ऐसा माना जाने लगा कि प्रथम तीन वर्ण उच्च कोटि के हैं, जबकि शूद्र निम्न कोटि के। इस प्रकार वैदिक समाज धीरे-धीरे विशेषाधिकार प्राप्त सौभाग्यशालियों और 'अछूतों' के दो वर्गों में विभक्त हो गया।

देश की सभी जनजातियों को शूद्र वर्ण के अन्तर्गत रखा गया। वे धीरे-धीरे वैदिक समाज की मुख्य धारा से कट कर अलग होते गये। कभी-कभी तो ऐसा भी हुआ जब उन लोगों को गाँव या शहर की सीमा से बाहर रहने को बाध्य किया गया। मन्दिरों में उनका प्रवेश निषिद्ध हो गया और वे संन्यास ग्रहण करने के अधिकार से भी वंचित कर दिये गये। शूद्रों का विवाह ब्राह्मण

द्वारा वैदिक मन्त्रों के उच्चारण के साथ भी नहीं होता था। वशिष्ठ और गौतम के धर्मसूत्रों के अनुसार, उच्च वर्ण का व्यक्ति निम्न वर्ण के किसी व्यक्ति के स्पर्श या संसर्ग मात्र से अपवित्र हो जाता था।

इस सन्दर्भ में एक रोचक तथ्य यह है कि शूद्रों की असंख्य उपजातियों में भी साथ भोजन करना और अन्तर-उपजातीय विवाह वर्जित है। इससे यह ज्ञात होता है कि वर्ण व्यवस्था अपनी जटिलताओं के साथ कितनी गहराई से हिन्दू समाज में व्याप्त हो गई है। तत्कालीन समाज में सत्ता का खेल खेलनेवाले स्वार्थी लोगों की पाखण्डपूर्ण जीवन-शैली और विचारों के कारण ही वर्ण-व्यवस्था का ऐसा नकारात्मक प्रभाव पड़ा था। इस प्रकार मौलिक मानवीय मूल्यों का सैंकड़ों, हजारों वर्षों में क्रमशः पतन होता गया और व्यक्ति पर जाति के अनुसार पैतृक व्यवसाय तथा सामाजिक स्थिति को स्वीकार करने की बाध्यता हो गयी।

यथार्थपूर्ण व्याख्या

इस पुस्तक में आगे आने वाले अंशों में उपर्युक्त वर्णित वर्ण-व्यवस्था की व्याख्याओं का खण्डन किया गया है तथा संस्कृत व्याकरण के माध्यम से इसकी व्याख्या करने का प्रयत्न किया गया है। न तो ब्राह्मण ब्रह्मा के मस्तक या मुख से उत्पन्न हुए और न ही शूद्रों की उत्पत्ति उनके पैरों से हुई। संस्कृत व्याकरण के अनुसार, ब्राह्मण शब्द की उत्पत्ति मूल शब्द 'बृहं' से हुई, जिसका अर्थ है फैलना, विकसित होना। इस प्रकार ब्राह्मण उसे कहते हैं जो स्वयं के और समाज के विकास के लिए सतत् प्रयत्नशील रहता है। इस व्याख्या के अनुसार किसी भी जाति का व्यक्ति ब्राह्मण हो सकता है, यदि उसमें उपर्युक्त योग्यता है।

क्षत्रिय शब्द मूलतः दो शब्दों 'क्षत्' और 'त्र' के संयोग से बना है, जिनका अर्थ क्रमशः आहत करना और रक्षा करना है। इस प्रकार क्षत्रिय वह है जो दूसरों को आहत होने से बचाता है, उनकी रक्षा करता है। इसी प्रकार वैश्य मूल शब्द 'विश्' से उत्पन्न हुआ है जिसका अर्थ है 'उत्तरदायित्व का वहन करना'। वैश्यों का मुख्य कार्य था, समाज के आर्थिक उत्तरदायित्वों का निर्वाह करना। शूद्र शब्द की उत्पत्ति मूल शब्द 'शुच्' से हुई है, जिसका अर्थ है 'रोना, शोक मनाना'। इस प्रकार शूद्र ऐसा व्यक्ति है जिसकी चेतना का पर्याप्त विकास नहीं हुआ है, जो परिणामस्वरूप अविद्या या दुःख की स्थिति में रोता रहता है या शोकमग्न रहता है।

चार वर्णों या जातियों की व्याख्या व्यक्ति के जीवन-क्रम के अभिन्न अंग के रूप में भी की जा सकती है। गर्भागमन के पूर्व आत्मा ब्रह्माण्डीय चेतना के साथ एकीकृत रहती है, पवित्र रहती है। गर्भ में आने के पश्चात् आत्मा अपनी दिव्यता कायम रखते हुए धीरे-धीरे मानव आकार ग्रहण करती है। जब शिशु संसार में प्रवेश करता है तो जन्म-मरण के दु:खपूर्ण बन्धन में बँध जाता है, इसीलिए जन्म के तुरंत बाद वह सबसे पहले रोता है। उसका रोना परम चेतन से उसके विलगाव को तथा द्वैत के संसार में उसके प्रवेश को इंगित करता है। अपने प्रथम रुदन के पश्चात् शिशु अविद्या में डूब जाता है। तत्पश्चात् विकास के क्रम में वह अध्ययन करता हुआ जीवन के विषय में ज्ञान अर्जित करता है और अपनी चेतना का, विद्या का विस्तार करता है। इस प्रकार वह शूद्रत्व से मुक्त होता है।

बाल्यावस्था से निकलकर मनुष्य युवावस्था में प्रवेश करता है, जिसमें उसे वैश्य वर्ण के गुणों को अपनाना पड़ता है, अर्थात् पारिवारिक और सामाजिक उत्तरदायित्वों का निर्वाह। इस अवस्था में वह मुख्यत: संतानोत्पत्ति और धन-सम्पत्ति अर्जित करने में व्यस्त रहता है। ज्यों-ज्यों उसका परिवार बढ़ता है और उसकी सम्पत्ति में वृद्धि होती जाती है, त्यों-त्यों उन सब की सुरक्षा के साधन जुटाना भी अनिवार्य हो जाता है। इस अवस्था में उसमें क्षत्रिय वर्ण के लक्षण प्रकट होने लगते हैं–वह अपने परिवार और धन-सम्पत्ति की रक्षा करने में अपनी पूरी शक्ति लगा देता है। किन्तु, अन्तत: मनुष्य को सारी भौतिक वस्तुओं की क्षणभंगुरता का आभास होता है। उसमें शाश्वत सत्य को जानने और उसे प्राप्त करने की अभीप्सा उत्पन्न होती है। तब वह उस आध्यात्मिक पथ की ओर मुड़ जाता है जिस पर चलकर उसकी चेतना का विकास होता है तथा उस परम तत्त्व से उसका साक्षात्कार होता है, जो उसके जन्म के साथ ही उससे बिछुड़ गया था। ऐसी अवस्था में वह ब्राह्मणत्व में प्रवेश करता है जहाँ उसकी चेतना का विस्तार तो होता ही है, वह समाज की प्रगति और उत्कर्ष में भी सहायक होता है।

चेतना के दृष्टिकोण से ऐसा माना जा सकता है कि ब्राह्मण सर्वाधिक विकसित होते हैं और शूद्र न्यूनतम विकसित तथा क्षत्रिय और वैश्य इन दोनों के बीच विकास की दो अवस्थाएँ हैं। पुन: यदि गुणों के दृष्टिकोण से देखा जाए तो ब्राह्मणों में सतोगुण, क्षत्रियों में रजोगुण, वैश्यों में रजोगुण

और तमोगुण तथा शूद्रों में तमोगुण प्रबल होता है। जब उपर्युक्त आधारों पर चार वर्णों की व्याख्या की जाती है, तब व्यक्ति की जाति का निर्णय उसके जन्म से नहीं, बल्कि उसके गुणों और योग्यता के आधार पर लिया जाता है। सर्वप्रथम इसका दृष्टान्त शकुन्तला के पुत्र राजा भरत ने प्रस्तुत किया था, उन्होंने अपने पुत्रों के स्थान पर एक सामान्य नागरिक को अपना उत्तराधिकारी चुना था।

वर्ण व्यवस्था एवं संन्यास

संन्यास की पारम्परिक तथा आधुनिक, दोनों ही धारणाओं का वर्ण व्यवस्था से घनिष्ठ सम्बन्ध है। जब तक संन्यासी अवधूत की अवस्था, अर्थात् त्याग की चरम अवस्था तक नहीं पहुँच जाते थे तब तक उनके आचार-व्यवहार पर भी वर्ण व्यवस्था का प्रभाव बना रहता था। अवधूत-अवस्था प्राप्त करने के पूर्व तक संन्यासी भी छूत-अछूत का विचार किया करते थे और अछूतों की छाया भी उनके लिए असहनीय और अक्षम्य थी। यहाँ तक कि शंकर (आदि गुरु) भी ऐसे आचार-विचारों से मुक्त नहीं थे – इस सन्दर्भ में वाराणसी के चाण्डाल की कथा इसका उदाहरण है।

बीसवीं सदी में महात्मा गाँधी एवं अन्य सुधारकों के प्रयासों से वर्ण-व्यवस्था की विकृति में कुछ कमी आयी है। यद्यपि आधुनिक समाज में संन्यासियों का उत्तरदायित्व और भी बढ़ गया है, क्योंकि उन्हें दलितों के कष्टों का निवारण करना है, जो मानव-रूप में ईश्वर की सेवा करने के समान है। वर्तमान युग में इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं स्वामी शिवानन्द सरस्वती, जिन्होंने अपना जीवन सामाजिक कुरीतियों को दूर करने और उपेक्षितों-दलितों के उद्धार के लिए समर्पित कर दिया। उन्होंने ऋषिकेश में कुष्ठ रोगियों की सेवा के लिए, जिन्हें सर्वाधिक अस्पृश्य माना जाता है, एक बस्ती बनायी और उसे ब्रह्मपुरी का नाम दिया। उन्हें क्रांतिकारी संन्यासी कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी।

संन्यास परम्परा

संस्कृत का शब्द 'संन्यास' दो मूल शब्दों–'सम्', अर्थात् 'सम्पूर्ण' तथा 'न्यास', अर्थात् 'त्याग' से बना है। इस प्रकार संन्यास का शाब्दिक अर्थ 'सम्पूर्ण त्याग' हुआ। न्यास शब्द का अर्थ समर्पण या दान भी होता है। इसलिए संन्यास शब्द का यह तात्पर्य भी हो सकता है–मानव कल्याण के लिए अपनी योग्यताओं और क्षमताओं का पूर्ण समर्पण या दान। संक्षेप में यह भी कहा जा सकता है– *'आत्मनो मोक्षार्थं जगत हिताय च'*, अर्थात् विश्व के कल्याण के लिए और स्वयं के मोक्ष के लिए।

संन्यासी स्वयं को ज्ञान और अज्ञान के परे मानता है। अभ्यास के द्वारा मन को पूर्ण रूप से नियंत्रित कर मन, वचन और कर्म से सांसारिक पदार्थों का त्याग कर आत्म-चिन्तन और ध्यान के द्वारा संन्यासी सांसारिक बन्धनों से मुक्त हो जाता है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए वह इन महावाक्यों को ध्यान में रखता है– *'तत् त्वम् असि'*, अर्थात् 'तुम वह हो'; *'अहं ब्रह्मास्मि'*, अर्थात् 'मैं ब्रह्म हूँ।' साथ-ही यह प्रणव मन्त्र '*ॐ*' का ध्यान करता है।

ऐसा कहा जाता है कि संन्यास के प्रताप से ही सम्पूर्ण सृष्टि कायम है। एक संन्यासी स्वयं को शाश्वत और अनन्त सत्ता के साथ एकात्म कर देने के लिए संतान, सम्पत्ति, नाम और यश की इच्छाओं का, वस्तुतः प्रत्येक क्षणभंगुर-अनित्य वस्तु का परित्याग कर देता है। कठोपनिषद् में हम निम्नलिखित वर्णन पाते हैं–"वह मार्ग तलवार की धार के समान है, जिस पर चलकर उसे पार करना कठिन है।" इस अद्भुत दर्शन के आधार पर संन्यास को सर्वाधिक पवित्रता और शुद्धता का मार्ग माना गया है। जिन लोगों ने संन्यास का मार्ग अपनाया, उन्हें अत्यन्त भाग्यशाली माना जाता था।

संन्यासी आनन्द की प्रतिमूर्ति होता है। वह आध्यात्मिक उन्नति के लिए प्रयत्नशील रहता और उपलब्धि प्राप्त करता है। उसका जीवन त्यागपूर्ण होता है। वह किसी धर्म या सिद्धान्त-विशेष से बँधा हुआ नहीं होता, बल्कि शाश्वत सिद्धान्त और मूल्य उसके जीवन के आधार होते हैं–वह उन्हीं पर अचल, अडिग रहता है। उसके विचारों की व्यापकता उसे जाति, देश और सम्प्रदाय की सीमाओं से मुक्त कर देती है। उसका ध्यान केवल आध्यात्मिक उत्थान पर केन्द्रित हो जाता है और इसीलिए वह कहता है–मुझे तुम्हारी और तुम्हारे समाज की आवश्यकता नहीं। मैं अपने विषय में सोचता हूँ, तुम्हें मेरी चिन्ता नहीं करनी चाहिए।

वैराग्य या विरक्ति

संन्यास जीवन में वैराग्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है, बल्कि इसके बिना आध्यात्मिक प्रगति सम्भव नहीं। पतंजलि के योग सूत्र 1:15 में कहा गया है–"जब कोई इन्द्रियों से प्राप्त होने वाले सुखों की आकांक्षा या उनके विषय में सुनने की प्रबल इच्छा से मुक्त हो जाता है, तब उसकी चेतना वैराग्य की अवस्था में होती है।" 'वैराग्य' की तीन अवस्थाएँ होती हैं। पसन्द-नापसन्द के द्वन्द्व से मुक्त होने का प्रयास इसकी प्रथम अवस्था है। दूसरी अवस्था तक कुछ पसन्द-नापसन्द तो नियंत्रित हो जाती हैं, किन्तु कुछ शेष रह जाती हैं। वैराग्य की तीसरी अवस्था में यद्यपि सभी पसन्द-नापसन्द समूल नष्ट तो नहीं होती हैं, फिर भी उन पर पूर्ण नियंत्रण प्राप्त हो जाता है।

यह निम्न कोटि का वैराग्य है। इसके बाद परावैराग्य आता है, जिसके अन्तर्गत केवल सुखों का त्याग नहीं आता, बल्कि सुखों के प्रति अपनी अभिरुचि का समूल परित्याग करना होता है। इच्छाओं के किसी भी रूप की अनुपस्थिति परावैराग्य का एक लक्षण है। ऐसी अवस्था में किसी भी सुख, आनन्द, ज्ञान, यहाँ तक कि सोने की इच्छा भी शेष नहीं रह जाती है। वैराग्य की इस अवस्था में उच्च स्तर की साधना के द्वारा जागरूक रहकर चेतना अपना विशुद्ध रूप ग्रहण करती है, जहाँ मन भी तीनों गुणों से मुक्त हो जाता है। ये तीन गुण ही मन को संसारिक भौतिकताओं से बाँधे रखते हैं।

वैराग्य और विरक्ति की भावना विकसित करने पर ही त्याग की भावना उत्पन्न होती है। संन्यासी सांसारिक सुखों के प्रति अधिक-से-अधिक विरक्त रहने का प्रयास करता है ताकि वे उसके आध्यात्मिक मार्ग की बाधा न बनें। प्रारम्भ में वह सांसारिक सुखों की इच्छा को आध्यात्मिक अनुभूति प्राप्त करने की इच्छा

में परिवर्तित कर सकता है, किन्तु धीरे-धीरे इस इच्छा से भी विमुख होने की आवश्यकता होती है, क्योंकि आध्यात्मिक अनुभूतियों को अधिक महत्त्व देने से अहंकार बढ़ता है, विशेषकर जब इन्हें प्राप्त करने की आशा लगातार बढ़ती जाती है। इस प्रकार संन्यास के मार्ग पर सर्वप्रथम सांसारिक सुखों के प्रति विरक्त होना पड़ता है और फिर आध्यात्मिक सुखों के प्रति। संन्यासी का यही मार्ग है।

संन्यासियों के प्रकार

वैराग्य के स्तर के अनुसार, संन्यासियों के त्याग और उनकी क्षमताओं के विभिन्न प्रकार होते हैं। परावैराग्य कम ही देखने को मिलता है। यह वैराग्य की असाधारण अवस्था है जो आत्म-ज्ञान प्राप्त होने के बाद ही आती है। अधिकतर संन्यासियों में वैराग्य की भावना शनैः शनैः उनकी अभीप्सा और समझ के साथ आती है।

उच्च स्तर के कुछ संन्यासी ऐसे भी हैं जो पूर्ण वैराग्य की स्थिति में होते हैं– भोजन और कौपीन के अतिरिक्त सभी सांसारिक वस्तुओं का त्याग कर चुके हैं। कुछ संन्यासी तो ऐसे भी हैं जिन्होंने कौपीन का भी त्याग कर दिया है, जैसे अवधूत या दिगम्बर। अन्य संन्यासी आश्रमों या मठों में विभिन्न कार्यों में संलग्न रहते हैं, जैसे शिक्षण, शिष्यों का प्रशिक्षण तथा जिज्ञासुओं का आध्यात्मिक मार्गदर्शन इत्यादि। इस प्रकार वैराग्य धीरे-धीरे विकसित होता है और जब इच्छाएँ पूरी तरह समाप्त हो जाती हैं तब संन्यासी बिना किसी बाधा के या बिना पथ-भ्रष्ट हुए वैराग्य के उच्च स्तर पर पहुँच जाता है।

विभिन्न उपनिषदों में संन्यासियों के भिन्न-भिन्न प्रकार और उनके जीवन-यापन करने की विधियों का वर्णन किया गया है। संन्यास उपनिषद् में चार प्रकार दिये गये हैं- वैराग्य संन्यास, ज्ञान संन्यास, ज्ञान-वैराग्य संन्यास और कर्म-वैराग्य संन्यास। बाद में आदि शंकर ने इनमें संन्यास के दो और प्रकार जोड़ दिये– विविदिशा संन्यास एवं विद्वत् संन्यास। संन्यास का यह वर्गीकरण निम्नलिखित रूप में वर्णित है–

वैराग्य संन्यास– इसके अन्तर्गत ऐसे लोग हैं जिनमें अल्पावस्था से ही विरक्ति की भावना उत्पन्न हो जाती है। उन्हें किसी चीज की अभिलाषा नहीं रहती। वे पूर्व जन्मों के संचित कर्मों के कारण स्वभाव से ही विरागी होते हैं। रमण महर्षि इसके विशिष्ट उदाहरण हैं।

ज्ञान संन्यास– इस कोटि में आनेवाले लोग सांसारिक अनुभव प्राप्त करने के साथ-साथ शास्त्रों का अध्ययन करते हैं और किसी गुरु के शिष्य बन जाते हैं। गुरु के संसर्ग और आध्यात्मिक पुस्तकों के अध्ययन से उन्हें ज्ञान प्राप्त

होता है। स्वामी दयानंद सरस्वती इसके उदाहरण हैं। अपने गुरु के पास रह कर उन्होंने शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त किया था।

ज्ञान-वैराग्य संन्यास–कुछ लोग ऐसे हैं जिनमें गहन ज्ञान और उच्च कोटि की प्रज्ञा के कारण विरक्ति आने लगती है। इस प्रकार का संन्यास ज्ञान संन्यास से ऊँचे स्तर का होता है। शास्त्रों के अध्ययन और सांसारिक अनुभवों की प्राप्ति के पश्चात् ही इस प्रकार का वैराग्य उत्पन्न होता है।

मोक्ष प्राप्त करने के उद्देश्य से ऐसे संन्यासी सक्रिय जीवन का त्याग कर देते हैं और आत्म-चिन्तन एवं ध्यान में लग जाते हैं। अपने प्रयासों को अधिक सरल एवं तीव्र बनाने के लिए वे तपस्वी बन जाते हैं और पूर्ण रूप से त्यागमय जीवन व्यतीत करते हैं। परमहंस सत्यानंद इसके जीवन्त उदाहरण हैं। उन्होंने अपने अत्यन्त सक्रिय संन्यासी जीवन में गुरु की सेवा की, पुस्तकें लिखीं, एक मिशन की स्थापना की, हजारों शिष्यों का पथ-प्रर्दशन किया और फिर इन सब का त्याग कर केवल कौपीन धारण कर एकान्त में चले गये, जहाँ वे मोक्ष प्राप्त करने के लिए सर्वोच्च आध्यात्मिक साधना में लीन रहे।

कर्म-वैराग्य संन्यास–इस श्रेणी में ऐसे संन्यासी हैं, जिनमें जीवन की विभिन्न अवस्थाओं–ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ–के बाद वैराग्य उत्पन्न हो जाता है। यह आश्रम व्यवस्था की अंतिम अवस्था है। संन्यास उपनिषद् में यह लिखा हुआ है कि 75 वर्ष की अवस्था के बाद प्रत्येक व्यक्ति को सांसारिकता का त्याग कर संन्यास ग्रहण कर लेना चाहिए, भले ही उनमें ज्ञान या विरक्ति उत्पन्न नहीं हुई हो। अधिकतर मनुष्य वृद्धावस्था में स्वत: इस अवस्था में चले आते हैं। यह एक स्वाभाविक परिवर्तन है।

विविदिशा संन्यास–इस वर्ग के लोग सांसारिक क्रियाओं के साथ-साथ मोक्ष प्राप्त करने के लिए अतिरिक्त वैराग्य और त्याग का अभ्यास करते हैं। उन्हें जीवन के अनुभवों से ज्ञान प्राप्त होता है, जिसके परिणामस्वरूप उनमें वैराग्य की भावना उत्पन्न होती है। वे जो उदाहरण प्रस्तुत करते हैं, उससे समाज का बहुत भला होता है। श्रीराम और श्रीकृष्ण का त्याग और वैराग्यपूर्ण जीवन आज भी सब के लिए प्रेरणा-स्रोत है। मीराबाई, एकनाथ, तुकाराम तथा अन्य भक्त संत विविदिशा संन्यास के उदाहरण हैं।

विद्वत् संन्यास–दत्तात्रेय जैसे अवधूत इस कोटि में आते हैं, जिन्होंने भौतिक और आध्यात्मिक इच्छाओं के साथ-साथ आत्म-ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा का भी त्याग कर दिया था। यह उच्चतम कोटि का संन्यास माना गया है।

आतुर संन्यास– शास्त्रों में इस प्रकार का संन्यास अनुमोदन उन लोगों के लिए किया गया है जिनमें मृत्यु के सन्मुख होने पर वैराग्य उत्पन्न हो जाता है। यह एक ऐसी आपातकालीन प्रक्रिया है, जिसमें केवल एक विशेष मंत्र का उच्चारण करना होता है। ऐसा करने पर यदि व्यक्ति का जीवन बच जाए तो उसे बताए गए रूप में संन्यास ग्रहण कर लेना चाहिए। यदि ऐसा नहीं होता है तो वह अपने होठों पर उच्चतम स्तर की प्रतिज्ञा के साथ शरीर का त्याग करता है, जिसका सुफल उसे अगले जन्म में मिलता है। आदिशंकर इस श्रेणी के उदाहरण हैं।

संन्यास के लिए योग्यता का पारम्परिक दृष्टिकोण

ऐसा व्यक्ति, जिसकी पत्नी, संपत्ति और संतान इत्यादि प्राप्त करने की इच्छा परिपूर्ण हो चुकी है, जो शरीर के प्रति विरक्त और अहम् से मुक्त हो चुका है, वह संन्यास ग्रहण करने योग्य है। यदि मन में विरक्ति की भावना उत्पन्न हो तो प्रारम्भिक शर्तों के पूरा नहीं होने पर भी संन्यास लिया जा सकता है।

एक ब्रह्मचारी सांसारिक जीवन का त्याग कर उच्च स्तर का संन्यासी-परमहंस बन सकता है। यह अनिवार्य नहीं कि वह प्रारम्भिक अवस्था से होकर ही आगे बढ़े, जो सामान्य रूप से आवश्यक माना जाता है, क्योंकि इस अवस्था में वैराग्य की भावना पूर्णतया स्थिर नहीं हो पाती है।

पारम्परिक दृष्टि से निम्नलिखित कोटि के व्यक्ति संन्यास ग्रहण करने योग्य नहीं–1. नपुंसक, 2. विकृत शरीर वाला, 3. स्त्री, 4. बहरा, गूँगा या अंधा, 5. विधर्मी, 6. शिश्नाग्रछिद्र विहीन पुरुष, 7. बालक, 8. धार्मिक विद्यार्थी, 9. वैखानस, 10. कापालिक, 11. राजा, 12. जो पवित्र अग्नि कायम नहीं रख सकता है, 13. अपराधी, 14. जो सदा दूसरों की सहायता प्राप्त करता है, 15. धन के लिए शिक्षा देने वाला शिक्षक और 16. धन के लिए युद्ध करने वाला क्षत्रिय।

धन के लिए लड़ने वाला क्षत्रिय या ऐसे लोग, जो संन्यास के योग्य नहीं माने गये हैं, उन्हें युद्ध-क्षेत्र में वीर-गति प्राप्त कर लेनी चाहिए, आमरण अनशन करना चाहिए, जल समाधि लेनी चाहिए, अग्नि में प्रवेश कर जाना चाहिए या ऐसी यात्रा पर जाना चाहिए जहाँ उसका निपात हो जाये। *(जाबालोपनिषद् 5:2)*

संन्यास संस्कार

पारम्परिक ढंग से संन्यास में प्रवेश करने के लिए कुछ विशेष संस्कार किये जाते थे। संन्यास ग्रहण करना मृत्यु के समान माना जाता था, क्योंकि संन्यासियों की मृत्यु के बाद उनका श्राद्ध नहीं किया जाता था, जैसा कि किसी सामान्य व्यक्ति की मृत्यु के बाद होता था। संन्यास ग्रहण करने के इच्छुक का सांकेतिक रूप से दाह-संस्कार किया जाता था, जो मानव शरीर का अंतिम संस्कार होता है।

इस प्रकार, संन्यासी जो मृत माना जाता है, बलि या किसी अन्य प्रकार के संस्कार न तो स्वयं कर सकता है और न जीवन या मृत्यु के किसी संस्कार में भाग ले सकता है। इसीलिए संन्यास आश्रम में प्रवेश करने के पूर्व कुछ संस्कार किये जाने की व्यवस्था की गयी थी। संन्यास ग्रहण करने का निश्चय करने के पश्चात् व्यक्ति अपनी सम्पत्ति अपने परिवार के सदस्यों के बीच वितरित कर देता था।

शुद्धिकरण संस्कार

संन्यास में प्रवेश करने के पूर्व जिज्ञासु का 'प्रजापत्य तप' द्वारा शुद्धिकरण संस्कार किया जाता था। इसके अन्तर्गत तीन दिनों तक उसे गर्म दूध, गर्म घी, गर्म पानी पीना पड़ता था तथा गर्म हवा में श्वास लेनी पड़ती थी। इस प्रकार प्रायश्चित करके वह अपने पापों से मुक्त होता था।

प्रजापत्य तप का दूसरा प्रकार बारह दिनों तक चलता है। इसके अन्तर्गत तीन दिनों तक प्रात: दिन में एक बार भोजन किया जाता है। अगले तीन दिनों तक केवल संध्या के समय एक बार भोजन किया जाता है, फिर तीन दिनों तक बिना मांगे, जो भोजन मिल जाये वही खाया जाता है और अन्तिम तीन दिनों में उपवास किया जाता है।

आठ श्राद्धों का अनुष्ठान

उपर्युक्त विधि से शुद्धिकरण के पश्चात् संन्यास ग्रहण करने वाले जिज्ञासु को आठ श्राद्ध करने पड़ते थे। श्राद्धों का ब्रह्माण्डीय आयाम होता है। हिन्दुओं के ब्रह्माण्ड विज्ञान के अनुसार जिनका श्राद्ध किया जाता है वे ब्रह्माण्ड में ही निवास करते हैं। परम ब्रह्म की खोज में लगा हुआ व्यक्ति जो अन्तिम श्राद्ध करता है, वह विश्व के सभी जीवों को समर्पित होता है। हिन्दुओं का ऐसा विश्वास है कि संन्यास ग्रहण करने पर उस व्यक्ति की सांकेतिक मृत्यु हो जाती है और श्राद्ध के द्वारा उसका दाह संस्कार होता है। ये आठ श्राद्ध निम्नलिखितों की आराधना और उनकी संपुष्टि के लिए किये जाते हैं–

1. देवता–ब्रह्मा, विष्णु, महेश;
2. आदिकालीन ऋषि–नारद, जनक;
3. अन्य दैविक शक्तियाँ–रुद्र, आदित्य, वसु;
4. ब्रह्मा के चार पुत्र–सनत् कुमार, सनक, सनंदन और सनातन;
5. पाँच तत्त्व–पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और आकाश;
6. पितर–दादा से लेकर सात पीढ़ियों तक के पूर्वज;
7. माता-पिता एवं भविष्य में आने वाली सात पीढ़ियाँ;
8. स्वयं के लिए।

उपर्युक्त श्राद्ध या तो आठ दिनों में किए जाते हैं या पिण्ड-दान की तरह एक ही दिन में।

संन्यास संस्कार की तैयारी

अपनी सम्पत्ति का वितरण, शुद्धिकरण एवं सभी श्राद्ध कर लेने के पश्चात् संन्यास के संस्कार की तैयारी की जाती है। ये सारे संस्कार मंत्रोच्चार के साथ किए जाते हैं। इनमें से कुछ प्रमुख संस्कार इस प्रकार हैं–

- केश, दाढ़ी इत्यादि मुड़ाना, नाखून कटवाना एवं स्नान करना;
- गायत्री मंत्र का 1000 बार जप करना;
- औपासन, पवित्र अग्नि प्रज्ज्वलित करना;
- दिन में तीन बार मिताहार;
- रात्रि में पुराणों का श्रवण;
- रात्रि के चौथे प्रहर में स्नान;
- चावल का भोग चढ़ाना;

- पुरुष सूक्त की 16 बार पुनरुक्ति;
- अपने पापों से मुक्त होने के लिए विरजा होम करना;
- अग्नि, मरुत आदि के आवाहन के लिए मन्त्रों का उच्चारण तथा उन पर ध्यान;
- ऊषा की आराधना;
- जल में बैठ कर 1000 गायत्री मंत्र का जप;
- यज्ञोपवीत का त्याग।

संन्यास अनुष्ठान

जल में बैठ कर 1000 बार गायत्री-मंत्र का उच्चारण करने के बाद संन्यास ग्रहण करने के मंत्र को निम्नलिखित रूप में तीन बार उच्चरित किया जाता है–

ॐ भूः संन्यस्तं मया
मैं संसार की प्रत्येक वस्तु का त्याग करता हूँ।
ॐ भुवः संन्यस्तं मया
मैं अंतरिक्ष लोक की प्रत्येक वस्तु का त्याग करता हूँ।
ॐ स्वः संन्यस्तं मया
मैं सभी स्वर्गीय वस्तुओं का त्याग करता हूँ।
ॐ भूः भुवः स्वः संन्यस्तं मया
मैं सभी पार्थिव, अंतरिक्षीय और स्वर्गीय वस्तुओं का त्याग करता हूँ।

इसके पश्चात् संन्यास की दीक्षा लेने वाला व्यक्ति जिन वस्त्रों को पहन कर जल में बैठा हुआ था, उन वस्त्रों का त्याग कर देता है। जल से निकलने पर उसे गुरु के द्वारा गेरू वस्त्र, दण्ड, कौपीन तथा कमण्डल प्रदान किया जाता है। अब वह संन्यासी बन जाता है।

नाम का महत्त्व

संन्यास ग्रहण करते समय संन्यासी को जो नाम दिया जाता है, उसका विशेष अर्थ होता है। इस नाम का चुनाव गुरु अपने अन्तर्ज्ञान द्वारा उस संन्यासी की सुप्त क्षमताओं को जाग्रत करने के लिए करते हैं। जब संन्यास का जिज्ञासु अपने मन में संन्यास लेने के विचार के साथ गुरु के पास आता है, तब वह उनके प्रति श्रद्धा, विश्वास, समर्पण और प्रेम की भावना से परिपूर्ण रहता है।

जिज्ञासु की इन भावनाओं के माध्यम से गुरु उसके मानस में प्रवेश कर उसके प्रबल सकारात्मक मौलिक गुणों को पहचानने का प्रयास करते हैं। इसके द्वारा गुरु अपने शिष्य को मोक्ष प्राप्त करने तथा आंतरिक जीवन के विकास के लिए एक संकल्प देते हैं, जो उसके नाम के रूप में होता है।

संन्यासी के नाम के साथ 'आनन्द' शब्द का संयुक्त होना भी बहुत महत्त्व रखता है। सांसारिक जीवन के सभी क्लेशों से मुक्त होकर एक संन्यासी सदा आनन्द की स्थिति में रहता है। उसके नाम के साथ 'आनन्द' शब्द का संयोग उसे अपने लक्ष्य, परमानन्द के स्रोत और अपने द्वन्द्वमुक्त सामंजस्यपूर्ण आंतरिक व्यक्तित्व का अन्वेषण करने की शक्ति देता है।

संन्यासी के नाम के साथ लगा उसका उपनाम संन्यास की उस विशेष शाखा और वर्ग को इंगित करता है जिसके अन्तर्गत वह दीक्षित हुआ है। शंकराचार्य ने संन्यास परम्परा को पुनर्व्यवस्थित कर उसे दस वर्गों में विभक्त किया, जिसे 'दशनामी सम्प्रदाय' के नाम से जाना जाता है। फिर इन 'सम्प्रदायों' को चार मठों के अन्तर्गत इस प्रकार बाँट दिया–

1. दक्षिण के शृंगेरी मठ के अन्तर्गत सरस्वती, भारती और पुरी उपनाम आते हैं।
2. पश्चिम में द्वारका स्थित मठ के अन्तर्गत तीर्थ और आश्रम हैं।
3. गिरि, पर्वत एवं सागर उत्तर में बद्रीनाथ स्थित मठ के अन्तर्गत हैं।
4. वन और आरण्यम् पूर्व स्थित जगन्नाथ पुरी के अन्तर्गत आते हैं।

ये दसों वर्ग विभिन्न आध्यात्मिक गुणों और पक्षों का प्रतिनिधित्व करते हैं। परम्परा के अनुसार 'सरस्वती' विद्या, बुद्धि और वाणी की देवी हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि जिन संन्यासियों के नाम के साथ 'सरस्वती' पदवी लगी हुई है, वे विद्वान् और बुद्धिमान् हैं तथा वक्तृता में भी निपुण हैं। इसी प्रकार जो संन्यासी तीर्थ स्थानों में रहते थे, उन्हें 'तीर्थ', जो पहाड़ों पर रहे उन्हें 'पर्वत', जो समुद्र के किनारे रहे उन्हें 'सागर' तथा वनों-जंगलों में रहने वाले संन्यासियों को 'वनम्' और 'आरण्यम्' कहा गया।

संन्यास की अवस्थाएँ

एक संन्यासी के जीवन में संन्यास की छः अवस्थाएँ होती हैं। इनमें कुटिचक, बहुदक और हंस प्रारम्भिक अवस्थाएँ हैं। उच्चतर अवस्थाएँ परमहंस, तुरीयातीत और अवधूत– धीरे-धीरे कठिन से कठिनतर होती जाती हैं। संन्यास से सम्बन्धित विभिन्न उपनिषदों में इन अवस्थाओं का वर्णन मिलता है। ज्यों-ज्यों संन्यास की प्रत्येक अवस्था एक के बाद एक आती जाती है, संन्यासी के जीवन का विकास एक विशेष रूप में होता जाता है।

कुटिचक (कुटि निवासी)

छः पारम्परिक अवस्थाओं में यह पहला चरण है। इस अवस्था में संन्यास के पारम्परिक और रूढ़िगत नियमों को थोड़ा सरल बना दिया गया है, ताकि नये संन्यासी स्वयं को अपने इस नये जीवन के साथ सुगमतापूर्वक समायोजित कर सकें। एक ब्रह्मचारी या गृहस्थ कुटिचक बन सकता है। यद्यपि उसके केश मुड़ा दिये जाते हैं, फिर भी वह हल्के पीले (राम रज) वस्त्रों के साथ जनेऊ भी पहन सकता है और अपनी शिखा रख सकता है। परिवार का त्याग करने के बावजूद वह माता-पिता और गुरु की सेवा में तल्लीन रहता है। वह हवन आदि का त्याग कर देता है।

कुटिचक की तुलना गुरुकुल से की जा सकती है, क्योंकि वहाँ गुरु के पास रह कर संन्यासी गुरु की सेवा के साथ-साथ संन्यास की अगली अवस्थाओं की तैयारी भी करता रहता है। यहाँ रह कर वह शास्त्रों का अध्ययन करता है, मन्त्रों का प्रयोग करना सीखता है, ध्यान एवं अन्य प्रकार की साधना करता है और यम-नियम का दृढ़ता के साथ पालन करता हुआ एक तपस्वी की भाँति रहना सीखता है। परम्परा के अनुसार गुरुकुल में रहने की अवधि बारह वर्षों की होती

है। इस अवधि में प्रशिक्षण प्राप्त करने के बाद वह स्वतन्त्र रूप से संन्यास जीवन व्यतीत करने में सक्षम माना जाता है और वह परिव्राजक बन जाता है।

बहुदक (बहु आश्रित)

गुरुकुल में बारह वर्ष व्यतीत कर संन्यासी बहुदक बन जाता है। अपने परिवार और हवन की अग्नि का त्याग कर वह गृहस्थ या वानप्रस्थ आश्रम से सीधा बहुदक अवस्था में भी प्रवेश कर सकता है। यद्यपि उसके केश मुड़ा दिए जाते हैं, फिर भी वह कुटिचक की भाँति अपनी शिखा रख सकता है। एक दण्ड भी उसके हाथ में होता है।

अब वह एक परिव्राजक के रूप में वर्ष के आठ महीने यात्रा करता है और चातुर्मास, वर्षा ॠतु में एक स्थान पर रह कर अपना सारा समय साधना और स्वाध्याय में व्यतीत करता है। परम्परा के अनुसार अपनी सुध बिसार कर वह जगह-जगह घूमता रहता है। वह भिक्षा पर ही अपना निर्वाह करता है और धरती पर सोता है। वह अपने साथ केवल एक दण्ड, कमण्डल और कम-से-कम वस्त्र रखता है। वह स्वंतत्रतापूर्वक तीर्थ-स्थलों की यात्रा करता है, किन्तु उसे किसी स्थान पर कुछ दिनों से अधिक रहने की अनुमति नहीं मिलती है।

बहुदक ऐसी अवस्था है जिसमें संन्यासी को कुटिचक में प्राप्त हुए ज्ञान को क्रियान्वित करने के अनेक अवसर मिलते हैं। इस अवस्था में वह गुरु के द्वारा निश्चित किये गये मिशन के अन्तर्गत धर्म का प्रचार कर सकता है। परिव्राजक के रूप में गाँव-गाँव घूमने पर उसे विभिन्न प्रकार की स्थितियों का सामना करना पड़ता है। इस क्रम में उसके वैराग्य की परीक्षा हो जाती है। ब्रह्मचर्य का कठोरता से पालन करना होता है। इस अवस्था में संन्यासी को स्त्रियों के सम्पर्क से आठ प्रकार से दूर रहना पड़ता है–दृष्टि, स्पर्श, क्रीड़ा, उनकी चर्चा, गुप्त-वार्ता, कल्पना, विचार तथा शारीरिक सम्पर्क। यही कारण है कि पारम्परिक रूप से संन्यासी स्त्रियों से दूर रहते थे।

बहुदक के रूप में संन्यासी को कुटिचक में बताये गये यमों और नियमों का अभ्यास करना पड़ता है। वह वेदान्तिक शास्त्रों का अध्ययन और मनन करता है, तथा ब्रह्म का ध्यान करता है। इस प्रकार सुख-दुःख, गुण-अवगुण, अच्छे-बुरे के द्वन्द्वों से मुक्त होकर वह आंतरिक स्तर पर त्याग की भावना को विकसित करता है। वह दूसरों के प्रति बुरी प्रवृत्तियों को पनपने नहीं देता है, जिससे उसके अन्दर समता का भाव उत्पन्न होता है। वह स्वयं को अभिमान और अहंकार से

मुक्त करने का प्रयत्न करता है, ताकि उसका मन शुद्ध हो सके और वह आत्म-ज्ञान प्राप्त करके संन्यास की उच्चतर अवस्थाओं की ओर बढ़ सके।

हंस

इस अवस्था में संन्यासी शिखा नहीं रखता, बल्कि या तो जटाएँ रखता है या पूरी तरह केश मुड़ा लेता है। वह यज्ञोपवीत का भी त्याग कर देता है। वह अन्य लोगों के साथ नहीं, बल्कि अकेला रहता है। वह सारे वस्त्रों का त्याग कर या तो कौपीन या मृग-छाल धारण कर लेता है। वह प्रतिदिन पूर्वनिश्चित आठ घरों से भिक्षा एकत्र कर, मधुमक्खी की तरह अपना निर्वाह करता है।

हंस संन्यासी ऊँचे स्वर में मन्त्रों का उच्चारण नहीं करता है और न ही दूसरों को शिक्षा देता है। वह अंत प्रणव की आठ मात्राओं, अर्थात् 'अ' 'उ' स्वरों और व्यंजन 'म' की अर्द्धमात्रा पर, नाद, बिन्दु, कला और शक्ति पर ध्यान करता है। *(नारद परिव्राजक उपनिषद् 8:2)*। वह आसक्ति, क्रोध, लोभ, अभिमान और भ्रान्तियों का त्याग कर मानसिक रूप से ब्रह्म में निवास करता है।

हंस की अवस्था में संन्यासी निम्नलिखित गुणों का विकास करता है–

- वह जिह्वा विहीन हो जाता है, भोजन और वाणी की दृष्टि से।
- वह नपुंसक हो जाता है, काम-क्रियाओं की दृष्टि से।
- वह लंगड़ा हो जाता है अर्थात् केवल भिक्षा लेने या शौच क्रियाओं के लिए चलता है।
- वह अंधा हो जाता है, इन्द्रिय विषयों को देखने की दृष्टि से।
- वह बहरा बन जाता है, प्रशंसा या बुराई सुनने की दृष्टि से।
- वह बच्चे की तरह सरल बन जाता है ।

परमहंस

परमहंस या तो निर्वस्त्र रहते हैं या केवल एक कौपीन धारण करते हैं और उनके पूरे शरीर में भस्म लगी होती है। वे प्रतिदिन केवल पाँच घरों से भिक्षा ग्रहण करते हैं। वे प्राय: मन्दिरों के प्रांगण में पृथ्वी पर सोते हैं और शीतकाल में केवल एक कम्बल का प्रयोग करते हैं। वे अपने शरीर को अधिक आराम या कष्ट देकर परेशान नहीं करते। सामान्यतया वे केश और दाढ़ी नहीं मुड़ाते, यदि मुड़ाते हैं तो छ: महीनों में एक बार संक्राति के समय।

परमहंस एकान्त में रह कर ब्रह्म में अवस्थित हो जाते हैं, ब्रह्म के साथ एकात्म हो जाते हैं। सभी आसक्तियों का त्याग कर देने के बाद और सभी प्रकार के द्वन्द्वों से मुक्त हो जाने के बाद किसी प्रकार का सांसारिक बन्धन उन्हें नहीं बाँध सकता। उनमें गुणों को परखने और नियंत्रित करने की, पुरुष और प्रकृति को, चेतना और शक्ति को पृथक् करने की शक्ति आ जाती है। वे प्रकृति से परे चेतना की चौथी अवस्था 'तुरीय' या समाधि में प्रवेश कर जाते हैं।

तुरीयातीत

तुरीयातीत ऐसी अवस्था है जो चलने, स्वप्न देखने और सोने जैसी प्राकृतिक अवस्थाओं से भी परे है। संन्यासी की चेतना तुरीयावस्था में अवस्थित हो जाती है। वह सदा उस शाश्वत-सनातन में लीन रहता है, जो सभी गुण-अवगुणों से परे है। यह पूर्ण आंतरिक त्याग की अवस्था है। किन्तु, फिर भी आसक्ति का एक क्षीण सूत्र इस अवस्था में उसे संसार से बाँधे रखता है। समय-समय पर उसकी चेतना तुरीयावस्था से सांसारिक प्रवृत्तियों की ओर झुकने लगती है, किन्तु पुनः तुरीयता प्राप्त कर लेती है।

इस अवस्था में संन्यासी सभी ऋतुओं में निर्वस्त्र रहता है और स्वयं को किसी प्रकार जीवित रखता है। वह किसी से भोजन की याचना नहीं करता, इसलिए उसका जीवन दूसरों की इच्छा पर निर्भर रहता है। वह बिना अपने हाथों का प्रयोग किए गाय की भाँति भोजन ग्रहण करता है, इसलिए तुरीयातीत को 'गोमुख' नाम भी दिया गया है। प्रायः वह फलों पर ही जीवित रहता है। यदि वह पकाया हुआ भोजन ग्रहण करता भी है, तो केवल तीन घरों से। उसका शरीर पूरी तरह भस्म में लिपटा हुआ रहता है। वह अपने मस्तक पर किसी प्रकार का चिह्न नहीं बनाता है।

अवधूत

अवधूत आध्यात्मिक विकास की चरम अवस्था है, कोई भी इससे ऊपर नहीं होता है। अवधूत का अर्थ है अमर-अक्षर, और वह जो सभी सांसारिक बन्धनों को पूर्ण रूप से त्याग चुका है। वह स्वयं ब्रह्म हो जाता है। शुद्ध बुद्धि से उसका आत्म साक्षात्कार होता है। उसे मानव जीवन की छः दुर्बलताओं– दुःख, भ्रान्ति, वृद्धावस्था, मृत्यु, भूख और प्यास–का ध्यान नहीं रह जाता।

वह अनुभूतियों से पूर्ण इस संसार के सारे बन्धनों को तोड़ डालता है और एक बच्चे की तरह, एक पागल की तरह या आत्माओं के वशीभूत हुए व्यक्ति की तरह उन्मुक्त घूमता है।

वह निर्वस्त्र भी हो सकता है या वस्त्रधारी भी। वह किसी सम्प्रदाय का कोई चिह्न धारण नहीं करता। उसमें सोने, भिक्षा माँगने या स्नान करने की इच्छा भी नहीं रह जाती। वह अपने शरीर को एक शव की तरह मानता है और किसी भी वर्ग या जाति से प्राप्त हुए भोजन पर जीवित रहता है। वह शास्त्रों या वेदों पर प्रवचन नहीं देता है। उसके लिए कुछ भी सही या गलत, शुद्ध या अशुद्ध नहीं रह जाता है।

एक अवधूत कर्म से मुक्त होता है। उसके इस जीवन के तथा पूर्व जन्मों के कर्मों का क्षय हो जाता है। उसके अन्दर कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व की अनुपस्थिति के कारण भविष्य के कर्म उत्पन्न नहीं होते हैं। केवल प्रारब्ध कर्म, जो सदा कार्यरत रहते हैं, शरीर को प्रभावित करते और उसे चलाने में सहायता भी करते हैं, किन्तु अवधूत का मन इससे भी सदा अप्रभावित रहता है। वह इस संसार में तब तक रहता है जब तक उसके प्रारब्ध कर्मों का क्षय नहीं हो जाता, इसके बाद उसके शरीर का निपात हो जाता है। तब कहा जाता है कि उसने विदेह मुक्ति प्राप्त कर ली है। इस प्रकार विमुक्त आत्मा फिर कभी शरीर धारण नहीं करती है। वह पुन: जन्म नहीं लेता है, बल्कि अजर-अमर हो जाता है। पृथ्वी पर उसके जन्म लेने का अन्तिम लक्ष्य भी पूरा हो जाता है।



पारम्परिक नियम और शर्तें

प्राचीन काल से ही संन्यास आश्रम एक सुदृढ़ और सुव्यवस्थित सुसंगठन के रूप में रहा है, जिसमें सभी संन्यासियों के लिए कठोर नियमों का प्रतिपादन किया गया है। प्रत्येक संन्यासी से यह अपेक्षा रखी जाती थी कि वह कठोरता के साथ उन नियमों का पालन करे। इन नियमों का सही ढंग से पालन किये जाने की अपेक्षा केवल इसलिए नहीं की जाती थी कि संन्यास का कठिन पारम्परिक स्तर बना रहे, बल्कि इसलिए कि संन्यासी अपने पथ से विचलित नहीं हों। सभी बन्धनों का त्याग करने के बाद भी जीवन में कुछ क्षण ऐसे आ सकते हैं जिनमें अपनी किसी दुर्बलता के कारण वह पथ-भ्रष्ट हो जाये। इसलिए त्याग और संन्यास के मार्ग में आने वाली बाधाओं और कठिनाइयों को समझने वाले प्राचीन समय के संन्यासियों ने इस मार्ग को अपनाने वालों के लिए कुछ विशेष नियम प्रतिपादित किए।

संन्यासियों ने यह जान लिया था कि विरक्ति उनकी खोज का एक अभिन्न अंग है तथा शरीर और मन के प्रति मनुष्य जितना विरक्त होता है, संसार के प्रति भी उसकी विरक्ति उतनी ही रहती है। इसलिए उन्होंने यह बताया कि संन्यासी में ऐसी क्षमता होनी चाहिए कि वह संसार के सभी क्रिया-कलापों से नाता तोड़ सके। यही कारण था कि संन्यासी तीन प्रारम्भिक इच्छाओं–पत्नी, संपत्ति और संतान-का त्याग करता था। त्यागपूर्ण मार्ग पर वह सुगमतापूर्वक चलता रहे, इसके लिए कुछ नियम बनाये गये, जैसे–संन्यासी को किसी स्त्री के सम्पर्क में नहीं आना चाहिए। न्यूनतम आवश्यकता से अधिक कुछ भी एकत्र नहीं करना चाहिए। किसी गाँव या शहर में लगातार तीन दिन से अधिक नहीं रहना चाहिए।

वर्तमान मापदण्डों की दृष्टि से ये नियम अत्यन्त कठोर प्रतीत हो सकते हैं, किन्तु संन्यासी के आध्यात्मिक मार्ग पर सफलतापूर्वक आगे बढ़ने के लिए इन

नियमों को उस पर आरोपित करना अनिवार्य होता था। जो व्यक्ति इन नियमों का अक्षरश: पालन करने में विफल होता था, उसे पथ-भ्रष्ट कहा जाता था, और यहाँ तक कि उसे जाति से बहिष्कृत कर उसके पुत्र को भी संन्यास ग्रहण करने के अधिकार से वंचित कर दिया जाता था। नीचे कुछ सामान्य नियमों का वर्णन किया जा रहा है, जिनका पालन संन्यासियों द्वारा प्राचीन काल से आज तक किया जा रहा है। इनका विश्लेषण ऊपर वर्णित बिन्दुओं की दृष्टि से ही होना चाहिए ताकि एक ऐसी संहिता का विकास हो सके जो आज के युग में भी अर्थपूर्ण हो और साथ-साथ प्राचीन काल के कठिन स्तर के मापदण्ड के अनुसार भी हो, जिसका अनुपालन हजारों वर्षों तक किया जाता रहा है।

वर्जनीय क्रिया-कलाप

संन्यासियों के लिए निम्नलिखित क्रिया-कलाप वर्जित हैं–

- नृत्य का कार्यक्रम
- द्यूत
- पूर्वाश्रम की परिचित महिलाओं से मेलजोल
- किसी भी प्रकार का नशा
- फल तोड़ने के लिए पेड़ों पर चढ़ना
- किसी गाँव में लगातार दो रातें व्यतीत करना
- गोधूलि से ऊषा के बीच, अर्थात् रात में यात्रा करना
- क्रय-विक्रय
- तैर कर नदी पार करना तथा किसी गाड़ी में यात्रा करना
- प्राय: उपवास करना
- किसी तीर्थ स्थान पर बार-बार जाना
- किसी विशेष साधन से जीवन यापन करना
- भौतिक उपलब्धि के लिए शिष्य बनाना
- विवाह, श्राद्ध, बलि, धार्मिक जुलूस और अन्य उत्सवों में उपस्थित होना
- घी खाना
- शरीर में तेल लगाना
- व्यर्थ की वार्ता में संलग्न होना
- अपना पारिवारिक नाम, वंशावली, मूल निवास स्थान, अपनी आयु, जिस शपथ और संहिता का वह पालन कर रहा है उसे प्रकट करना

- क्रोध के बदले क्रुद्ध होना
- किसी बंद द्वार को भिक्षा माँगने के लिए खोल कर अन्दर प्रवेश करना
- समूह में रहना
- गुरु के अतिरिक्त किसी के सामने झुकना

संन्यास के लिए आवश्यक शर्तें

विभिन्न सम्प्रदायों में संन्यास ग्रहण करने की शर्तों में अन्तर है। प्राचीन काल की संन्यास ग्रहण करने की सभी विधियाँ सप्रमाण उपलब्ध नहीं हैं, क्योंकि उस काल में अधिकांश ज्ञान गुरु के द्वारा मौखिक रूप से शिष्यों को प्रदान किया जाता था। फिर भी वैदिक काल या उसके बाद के युगों में प्रचलित पद्धतियों को प्रस्तुत करने के लिए पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध हैं।

संन्यास ग्रहण करने की सामान्य शर्तें– संन्यास ग्रहण करने के अभीप्सु ब्रह्मविद्या के अध्ययन के पूर्व निम्नलिखित चार प्रकार से अनुशासित होने चाहिए–

1. स्थायी और अस्थायी वस्तुओं के बीच अन्तर कर पाना, अर्थात् व्यक्ति वस्तुओं के गुण और स्वभाव का, उनके स्थायित्व-अस्थायित्व एवं सत्य-असत्य की कसौटी पर सदा दृढ़ता से विश्लेषण करे।
2. कर्मों के संचय और उनके प्रभाव से स्वयं को मुक्त करने के लिए कर्म-फल की इच्छा का त्याग करना।
3. धैर्य, श्रद्धा और समर्पण के द्वारा मानसिक शान्ति और आत्म-नियन्त्रण का विकास करना।
4. सांसारिक जीवन से मोक्ष प्राप्त करने की कामना करना।

ब्रह्मचर्य आश्रम से संन्यास में आने वाले अभीप्सुओं के लिए कुछ और शर्तें भी थीं–

1. अपनी जिह्वा, जननेन्द्रियों, उदर एवं हाथों पर पूरा नियंत्रण।
2. सेवा के प्रति निष्ठा और ईश्वर एवं गुरु के प्रति समर्पण।

गृहस्थ आश्रम से संन्यास लेने वालों को तीन ऋणों से मुक्त होकर आना चाहिए–

1. वेदों का अध्ययन कर ऋषियों के ऋण से,
2. बलि चढ़ा कर देवताओं के ऋण से, तथा
3. एक पुत्र उत्पन्न कर पितरों के ऋण से।

वानप्रस्थ आश्रम से संन्यास लेने वालों के लिए यह आवश्यक था कि वे चालीस संस्कारों से परिशुद्ध हो चुके हों। ये संस्कार माता-पिता के विवाह से प्रारम्भ होते हैं। उनमें ये दस गुण होने चाहिए–संतोष, क्षमा, आत्म-नियंत्रण, अस्तेय, नम्रता, शास्त्रों का अध्ययन, सत्यनिष्ठा और संतुलित प्रकृति।

गुरु की खोज

संन्यास ग्रहण करने का अभीप्सु ऐसे गुरु की खोज करता है जो उसे संन्यास आश्रम की दीक्षा दें। केवल गुरु ही होम और पूजा कर सकते हैं तथा उसके कान में मन्त्रों का उच्चारण कर सकते हैं। गुरु उस अभीप्सु को संन्यास के विषय में आवश्यक निर्देश देते हैं। जब तक गुरु दीक्षा न दें तब तक कोई पारम्परिक संन्यास आश्रम का संन्यासी नहीं बन सकता है। शंकराचार्य के द्वारा संगठित दशनाम सम्प्रदाय में गुरु मठों में रहते थे, किन्तु प्राचीन भारत में वे पूरे देश में इधर-उधर बिखरे हुए रहते थे। इसलिए संन्यास ग्रहण का निर्णय लेने के बाद अभीप्सु ऐसे गुरु की खोज करता था जो उसके सबसे निकट के स्थान पर हों और जिनमें संन्यास की दीक्षा देने वाले सभी गुण विद्यमान हों।

सभी संन्यासी दीक्षा देने के योग्य नहीं होते हैं। पारम्परिक संन्यास आश्रम के गुरु में निम्नलिखित गुण और योग्यताएँ होनी चाहिए–

- जो संन्यास परम्परा कायम रखता है,
- जिसकी वंशावली कायम है,
- जिसका वैदिक ज्ञान और सिद्धान्तों में विश्वास है,
- जो अच्छे कुल में उत्पन्न हुआ है,
- जिसे वेदों का अच्छा ज्ञान हो,
- जिसे शास्त्रों से प्रेम हो,
- जो गुणवान् हो और अवगुणों से मुक्त हो।

शैव सम्प्रदाय

बारहवीं शताब्दी के अन्त तक अधिकतर संन्यासियों को शैव कहा जाता था। शैव सम्प्रदाय भारत का प्राचीनतम सम्प्रदाय है। द्रविड़ जाति के लोग जो यहाँ के मूल निवासी हैं, शिव की उपासना अपने इष्ट देव के रूप में करते आये हैं। बाद में कुछ शैवों ने उनकी पत्नी पार्वती की उपासना प्रारम्भ की और फिर धीरे-धीरे तान्त्रिक पद्धतियों का जन्म हुआ। स्त्री शक्ति के उपासकों ने, जिनका शैव सम्प्रदाय से घनिष्ठ सम्बन्ध था, स्वयं को 'शाक्त' नाम दिया।

शैव सम्प्रदाय आगम या तन्त्र-शास्त्र के ज्ञान पर आधारित है। आगम का ज्ञान स्वयं शिव ने सभी वर्गों, यहाँ तक कि स्त्रियों और शूद्रों को भी दिया था। जो लोग शिव की लिङ्ग के रूप में उपासना करते हैं उन्हें लिङ्गायत कहा जाता है। ये अधिकतर दक्षिण भारत में ही होते हैं। पहली शताब्दी में लकुली ने योगाभ्यास के द्वारा आत्मा के शिव से मिलन की पद्धति का प्रतिपादन किया था। इस पद्धति का अनुसरण करने वाले लकुलीश पाशुपत कहलाते हैं। तमिलनाडु शैव सिद्धान्त को मानने वालों का द्वैतवाद और कश्मीर के प्रत्यभिज्ञ सिद्धान्त को मानने वालों का अद्वैतवाद, दोनों की ही उत्पत्ति लकुली के पाशुपत सम्प्रदाय से हुई है।

शैव सम्प्रदाय के चिह्न के रूप में तीन सीधी रेखाओं में से बीच की रेखा के ऊपर, नीचे, बीच में एक बिन्दु हो भी सकता है और नहीं भी तथा एक दीर्घवृत्ताकार, अण्डाकार या अर्ध दीर्घवृत्ताकार, एक त्रिकोण, एक शंकु या कोई भी नुकीली या चाप के आकार की आकृति, जिसका शीर्ष ऊपर की ओर ही रखा जाता है। कुछ शैव अर्ध चन्द्र या त्रिशूल के चिह्न भी धारण करते हैं। ये चिह्न हाथ या धातु की मुहर से बनाए जाते हैं। चिह्न बनाने के लिए यज्ञ की भस्म, गाय के गोबर के उपले की राख या चंदन के लेप का प्रयोग किया जाता है। भस्म भगवान् शिव का प्रतिनिधित्व करता है। शैव सम्प्रदाय के कुछ प्रमुख उप सम्प्रदाय इस प्रकार हैं–

1. *दशनामी सम्प्रदाय*–आठवीं सदी में शंकराचार्य ने इस महत्त्वपूर्ण सम्प्रदाय की स्थापना की थी। दशनामियों को वैदिक शैव भी कहा जाता है। इस दशनामी सम्प्रदाय की स्थापना के पूर्व कनफटा, अघोरी, कालमुखी एवं कापालिक तान्त्रिक शैव उप सम्प्रदायों के रूप में प्रचलित थे। शंकराचार्य ने संन्यासियों की दस श्रेणियाँ बनायीं और उन्हें दस नाम दिये। इन सब को मिला कर दशनामी सम्प्रदाय कहा गया। अपने आध्यात्मिक ज्ञान के प्रचार के लिए उन्होंने उत्तर, दक्षिण, पूर्व और पश्चिम में चार मठों की स्थापना की।

दशनामी संन्यासियों को दो भागों में विभक्त किया गया है–एक वे जो दण्डधारी हैं और दूसरे जो दण्डधारी नहीं हैं। दण्डधारियों को 'दण्डधारी' ही कहा गया और जो दण्डधारी नहीं हैं, उन्हें 'परमहंस' कहा गया। दशनामी सम्प्रदाय के केवल तीर्थ, आश्रम एवं सरस्वती श्रेणी के संन्यासी दण्ड धारण कर सकते हैं, अन्य सात नहीं। इन तीन दण्डी श्रेणियों के संन्यासी केवल ब्राह्मणों को संन्यास की दीक्षा देते हैं, किन्तु अन्य श्रेणी के संन्यासी क्षत्रियों एवं वैश्यों को भी यह दीक्षा दे सकते हैं।

2. *कनफटा या गोरख पंथ*–यह तान्त्रिक शैवों का एक उप-सम्प्रदाय है। अपने कानों को छेद कर उनमें कुण्डल पहनने वाले ही कनफटा कहलाते हैं। इस उप-सम्प्रदाय की स्थापना 'आदिनाथ' या भगवान् शिव के द्वारा हुई थी। दूसरे गुरु मत्स्येन्द्रनाथ थे तथा तीसरे गोरखनाथ, जिन्होंने इस उप-सम्प्रदाय को पुनर्संगठित किया था। कनफटा सम्प्रदाय शिव को ही परम सत्य मानता है- शिव के साथ एकात्म होना ही मोक्ष माना जाता है। 'हठ योग प्रदीपिका' इस सम्प्रदाय का प्रमुख शास्त्र है। नाथ सम्प्रदाय में हठ योग एवं तन्त्र को मोक्ष प्राप्ति का सर्वोत्तम साधन माना गया है। इस उप-सम्प्रदाय में जातियों के सन्दर्भ में छूत-अछूत की मान्यता नहीं है। कनफटा संन्यासियों को जोगी भी कहा जाता है और उनके नाम के आगे 'नाथ' लगाया जाता है।

3. *अघोरी पंथ*–इस उप-सम्प्रदाय की स्थापना गोरखनाथ के एक शिष्य ब्रह्म गिरि ने की थी। 'अघोर' शब्द का प्रयोग प्राय: शिव के लिए किया जाता है। इसलिए शिव की उपासना करने वाले संन्यासी अघोरी कहलाते हैं। ये संन्यासी पूरे वर्ष भ्रमण करते रहते हैं और इन्हें भारत के किसी भी भाग में देखा जा सकता है। किसी भी प्रकार का भोजन इनके लिए निषिद्ध नहीं है। यहाँ तक कि वे सड़ते हुए शव का भक्षण भी कर सकते हैं। ये अघोरी अपने पूरे शरीर में चिता की भस्म लपेटे रहते हैं और गले में रुद्राक्ष एवं हड्डियों की माला पहने रहते हैं।

4. *वीर शैव या लिङ्गायत सम्प्रदाय*– लिङ्ग उपासना के आधार पर यह नाम रखा गया था। लिङ्गायत सम्प्रदाय के संन्यासी चाँदी के छोटे से डिब्बे में लिङ्ग रख कर उसे पहने रहते हैं। यह लिङ्ग उनके विश्वास का प्रतीक माना जाता है तथा उसके खो जाने पर यह माना जाता है कि उनकी आध्यात्मिक मृत्यु हो गई। इस सम्प्रदाय के स्त्री-पुरुष, सभी लिङ्ग को इसी प्रकार धारण करते हैं।

लिङ्गायत सम्प्रदाय जाति प्रथा का विरोधी है। लिङ्ग धारण करने वाले सभी मनुष्य ईश्वर की दृष्टि में समान माने जाते हैं। वीर शैव ब्राह्मणों के वर्चस्व को नहीं मानते हैं। इस उप-सम्प्रदाय की स्थापना बारहवीं सदी में 'बासव' द्वारा की गई थी।

5. *करलिङ्गी सम्प्रदाय*– करलिङ्गी शैव संन्यासी सदा भ्रमणशील रहते हैं। वे समूहों में रहते हैं। वे गेरू वस्त्र पहन भी सकते हैं या निर्वस्त्र भी रह सकते हैं। उनके केश जटा का रूप धारण कर लेते हैं। अपनी काम-वासना पर विजय पाने के लिए वे अपने जननांग को कुचल डालते हैं और उसे लोहे के छल्ले और जंजीर से बाँध कर रखते हैं।

6. *कापालिक पंथ*– यह उप-सम्प्रदाय प्राचीन भारत में प्रचलित था। तान्त्रिक साधु ही कापालिक होते हैं। वे हड्डियों की माला पहनते हैं और मानव-खोपड़ी में भोजन करते हैं। वे श्मशान घाट के पास निर्वस्त्र हो कर रहते हैं। इनके इष्ट देव काल भैरव हैं। अब इनकी संख्या कम हो गई है, फिर भी वे पूरे भारत में यत्र-तत्र मिल जाते हैं।

शाक्त सम्प्रदाय

शाक्त सम्प्रदाय में शक्ति को परम सत्य माना जाता है। ब्रह्मा, विष्णु और शिव, शक्ति के माध्यम से सृजन, पालन और विनाश का काम करते हैं। शक्ति सम्पूर्ण जगत् की माता हैं, वे विश्वजननी हैं। दुर्गा, काली, भगवती, चण्डी, चामुण्डी, त्रिपुर-सुंदरी, पार्वती, सीता, राधा इत्यादि शक्ति के विभिन्न रूप हैं। जो शक्ति की उपासना करते हैं उन्हें शाक्त कहा जाता है। शाक्त पद्धति में कुण्डलिनी योग और तन्त्र का अभ्यास किया जाता है। शाक्त सम्प्रदाय के कुछ कट्टरपंथी उप-सम्प्रदाय हैं, जैसे, मुनि समाज, जो ब्रह्मचर्य पालन का विरोध करते हैं, क्योंकि उनके अनुसार ब्रह्मचारी ब्रह्माण्डीय ध्वनि 'ॐ' की आत्मा को पूरी तरह समझ नहीं पाते हैं। कुम्भी पतित उप-सम्प्रदाय के लोग हिन्दुत्व और उसके मौलिक सिद्धान्तों का विरोध करते हैं।

शंकर का आगमन

वैदिक नियम के अनुसार चार आश्रमों में रहने की जो परिकल्पना की गई थी, उसी के अन्तर्गत संन्यासीगण सम्प्रदायों में संगठित होकर रहते थे। इसके पूर्व संन्यासियों में अपने सम्प्रदाय या सिद्धान्तों के आधार पर समूह बनाकर रहने की प्रवृत्ति थी। ऋषि और मुनि पूरे देश में फैले हुए थे, वे आश्रम या कुटि में रहते थे एवं संन्यासी लगातार भ्रमण करते रहते थे। समय के अन्तराल में नई अन्तर्दृष्टि के साथ कुछ ऐसे आध्यात्मिक प्रणेता हुए जिन्होंने धार्मिक सिद्धान्तों के प्रयोग के ऐसे साधन बताये जो सामान्य लोगों के लिए अधिक सरल-सुगम थे।

ब्राह्मणों के वर्चस्व और बलि के बृहत् अनुष्ठानों के प्रतिरोध स्वरूप बौद्ध धर्म उठ खड़ा हुआ था। भगवान् बुद्ध ने हृदय की शुद्धता और सदाचार पर उपदेश दिये तथा अष्टांगमार्ग के माध्यम से मोक्ष प्राप्त करने की सलाह दी। बौद्ध भिक्षु सामुदायिक रूप से विहारों में रहते थे। ये विहार धीरे-धीरे नालन्दा (बिहार) जैसे शिक्षण केन्द्र बन गये। एक समय ऐसा भी था जब नालन्दा के उस बौद्ध विश्वविद्यालय में एक साथ 10,000 भिक्षु रहते थे।

इसके अतिरिक्त बौद्ध भिक्षु नियमानुसार अपने धर्म को आम लोगों तक पहुँचाने के लिए उपदेश देते थे। जबकि संन्यासियों के लिए यह अनिवार्य नहीं था कि वे दूसरों को आध्यात्मिक सिद्धान्तों पर उपदेश देते। बुद्ध ने नीची जाति और यहाँ तक कि स्त्रियों को भी अपने सम्प्रदाय में स्थान दिया, जो ब्राह्मणवाद के विरुद्ध था। इन कारणों से बौद्ध धर्म का प्रसार तेजी से हुआ और यह आम लोगों के बीच अत्यन्त लोकप्रिय भी हो गया। जबकि वैदिक धर्म और संस्कृति का धीरे-धीरे ह्रास होने लगा।

कुमारिल भट्ट–कर्म का सिद्धान्त

शंकर के आगमन के तुरंत पहले कुमारिल भट्ट और उनके शिष्य मण्डन मिश्र ने वैदिक ज्ञान में नवजीवन संचारित करने का प्रयास प्रारम्भ कर दिया था। शंकर के कई जीवन वृत्तान्तों में यह कहा गया है कि सभी देवताओं ने परमेश्वर के पास जाकर शिकायत की कि संसार में धर्म का ह्रास हो गया है। शाश्वत सत्य को पुनर्जीवित करने के लिए धर्म ने शंकर के रूप में अवतार ग्रहण किया, ब्रह्मा ने मण्डन मिश्र, सरस्वती ने उनकी पत्नी और सुब्रमण्य ने कुमारिल भट्ट के रूप धारण किये।

कुमारिल भट्ट के समय में बौद्ध अत्यन्त शक्तिशाली हो गये थे, उनके लिए वेदों के अध्ययन, उन्नयन और यज्ञ आदि का कोई महत्त्व नहीं था। उन लोगों ने वेदों की आलोचना की तथा लोगों को नास्तिकता के पथ पर ले जाने लगे। बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों को पूरी तरह समझने के लिए कुमारिल भट्ट ने बौद्ध भिक्षु का रूप धरा और बौद्ध शिक्षकों के शिष्य बन गये। यदि उन शिक्षकों को यह ज्ञात होता कि वे ब्राह्मण हैं तो वे उन्हें अपने शिष्य के रूप में कदापि स्वीकार नहीं करते।

कुमारिल भट्ट जब विहार में रह रहे थे तो बिना किसी की जानकारी के वे वैदिक अनुष्ठान भी किया करते थे और बौद्ध शिक्षकों की उन कक्षाओं में भी जाते थे जहाँ वेदों और वैदिक ज्ञान की आलोचना हुआ करती थी। अन्तत: बौद्धों को यह पता चल ही गया कि कुमारिल भट्ट बौद्ध भिक्षु नहीं, बल्कि एक ब्राह्मण हैं। तत्काल उन्हें विहार त्यागने का आदेश दिया गया।

इसके बाद कुमारिल भट्ट ने पूर्व मीमांसा का प्रचार-प्रसार प्रारम्भ किया। इसके अनुसार वेदों में प्रतिपादित कर्म का सिद्धान्त ही मोक्ष-प्राप्ति का मार्ग है। उन्होंने कहा कि कर्म का फल मिलेगा और कर्म के द्वारा ही सभी उपलब्धियाँ प्राप्त होती हैं। शंकर के आने से पहले कर्म की सर्वोच्चता का दृष्टिकोण प्रचलित था। कर्म को आध्यात्मिक उपलब्धि और कल्याण के लिए आवश्यक माना जाता था। जबकि शंकर वेदान्तिक दृष्टिकोण स्थापित करना चाहते थे, जिसके अनुसार केवल कर्म से सर्वोच्च उपलब्धि नहीं होती, भगवत्कृपा से ही कल्याण हो सकता है। केवल कर्मकाण्ड के अभ्यास में लीन नहीं रहना चाहिए, क्योंकि उसका फल ज्ञानकाण्ड में प्राप्त होता है।

शंकर इन बिन्दुओं पर कुमारिल भट्ट से तर्क करना चाहते थे, क्योंकि वे यह जानते थे कि यदि कुमारिल भट्ट उनके विचारों से सहमत हो जायेंगे तो

लोग भी उनके मत और विचार सुनेंगे। यद्यपि शंकर जब कुमारिल भट्ट के पास पहुँचे तो वे अपने बौद्ध गुरु के साथ छल करने के अपराध के प्रायश्चित स्वरूप आत्मदाह करने जा रहे थे। फिर भी उन्होंने शंकर को इस विषय पर तर्क करने के लिए एक अन्य मीमांसक मण्डन मिश्र के पास जाने को कहा, जो कर्म के प्रति पूरी तरह समर्पित थे।

शंकर बनाम मण्डन मिश्र

मण्डन मिश्र वैदिक अनुष्ठानों के बहुत बड़े समर्थक थे। उन्होंने बौद्ध धर्म के विरुद्ध प्रचार किया और वे मीमांसा के दृष्टिकोण को पुन: स्थापित करने में सफल हुए। पूर्व मीमांसा के अनुसार, कर्म का त्याग करना भीषण पराजय है। अत: उन लोगों ने इस आधार पर संन्यास आश्रम का त्याग कर दिया कि स्वेच्छा से कर्म का त्याग कर संन्यास ग्रहण करना ठीक उसी प्रकार है जैसे कोई ब्राह्मण शूद्र बन जाये। उन्होंने कहा कि ईशावास्य उपनिषद् के अनुसार सौ वर्षों के कर्मपूर्ण जीवन की कामना करनी चाहिए। तैत्तिरीय ब्राह्मण ने यह घोषित किया है कि अग्निहोत्र अग्नि का शमन करना किसी वीर की हत्या करने के पाप के समान है। बुरे कर्म करना पाप है। नित्य कर्म, संध्या, वंदना आदि का त्याग करना भी पाप है।

कर्म से मुँह मोड़ना गलत है, इसलिए संन्यासी बनना भी गलत है। संन्यासी पापी है। इसलिए यदि किसी ने केवल उसे देखा भी है तो देखने वाले को इस पाप का उचित प्रायश्चित करना चाहिए। उसका पाप संचित होगा जिसने पापी को देखा है, उससे बातें की हैं, उसे छुआ है या उसके साथ खाया है। अत: संन्यासी को देखना भी नहीं चाहिए। मण्डन मिश्र का यह दृष्टिकोण उस समय था जब शंकर उनसे कर्म-सिद्धान्तों एवं वेदों के सही अर्थ पर तर्क करने गये थे।

शंकर जानते थे कि कट्टर मण्डन मिश्र पर उनकी विजय का उनके लक्ष्य पर अद्भुत प्रभाव पड़ेगा। इस बात को ध्यान में रखते हुए उन्होंने एक शर्त रखी कि यदि मण्डन मिश्र तर्क में पराजित हो गये तो उन्हें संन्यासी बनना पड़ेगा और यदि शंकर पराजित हुए तो वे संन्यास त्याग देंगे।

शंकर का यह मानना था कि उपर्युक्त विचारों वाला मीमांसक कभी परम आनन्द नहीं प्राप्त कर सकता है। मीमांसक क्षणिक आनन्द में एवं बार-बार जन्म लेने में विश्वास रखते थे। शंकर यह चाहते थे कि पूर्व मीमांसकों को यह अनुभव हो कि वे गलत हैं। सभी कर्मों को परमेश्वर के प्रति समर्पित कर दिया

जाना चाहिए। कर्मविहीन स्थिति ही परम सत्य है और इसी में अभूतपूर्व आनन्द है। जब इस बात का ज्ञान हो जायेगा तभी और जन्म नहीं लेने पड़ेंगे। वेदों के सम्पूर्ण कर्मकाण्ड की व्याख्या ज्ञानकाण्ड के सहायक के रूप में की जानी चाहिए, तभी कर्मकाण्ड अर्थपूर्ण हो पायेगा। शंकर के ये विचार मण्डन मिश्र के उस दर्शन के पूर्णरूपेण विरोधी हैं कि वैदिक शास्त्रों का उद्देश्य परमात्मा की प्रकृति का वर्णन करना नहीं है। उनका सत्य केवल कर्म में ही निहित था।

तर्क के क्रम में शंकर अपने विचारों को मण्डन मिश्र के सम्मुख प्रतिस्थापित करने में सफल हुए। मण्डन मिश्र को अपने बौद्धिक प्रहारों से पराजित करने में शंकर को अट्ठारह दिन लगे। तर्क के अंत में शर्त के अनुसार मण्डन मिश्र ने शंकर द्वारा संन्यास की दीक्षा ली और वे शंकर के शिष्य हो गये। उन्हें 'सुरेश्वर' नाम दिया गया।

मण्डन मिश्र पर शंकर की विजय के बाद उन्हें निर्विवाद रूप से भारत का आध्यात्मिक प्रणेता घोषित किया गया। उस समय 72 प्रकार के सम्प्रदाय विद्यमान थे, जैसे बौद्ध, सांख्य, वैशेषिक इत्यादि। शंकर ने उन सब को अस्वीकार कर दिया। उन्होंने उस समय के प्रमुख शिक्षा केन्द्रों की यात्रा की और बड़े-बड़े विद्वानों से मिले। उनके मतों की भिन्नता को समझते हुए शंकर ने उन सब के साथ तर्क किये और उन्हें यह विश्वास दिलाया कि उनके सिद्धान्त वेदों के विरोधी हैं।

संन्यास आश्रम का पुनर्गठन

शंकर ने विद्वानों से तर्क करने के क्रम में तीन बार भारत की परिक्रमा की। उस समय संन्यासियों के विभिन्न समूह पूरे देश में बिखरे हुए थे। शंकर ने उन सब को एकीकृत करने के लिए वैदिक धर्म के ध्वज के नीचे चार मठों की स्थापना की। मठों की स्थापना ने सम्पूर्ण संन्यास व्यवस्था को पुनर्गठित कर दिया और भारत में अध्यात्म का नवजागरण हुआ।

ये चार मठ संन्यास की विभिन्न परम्पराओं के प्रधान केन्द्रों के रूप में स्थापित किये गये थे। अपनी आध्यात्मिक सम्पदा का समान रूप से पूरे देश में प्रसार करने के लिए उन चार मठों को देश के चार कोनों में, स्थापित किया गया। उन मठों में परिव्राजक संन्यासियों को चातुर्मास अवधि में निवास की सुविधा दी जाती है। 1200 वर्ष पूर्व शंकर ने जिन चार मठों की स्थापना की थी वे आज भी सभी धर्मों के अद्वैत में समन्वित हो जाने के उनके शाश्वत सन्देश का सम्प्रेषण करते हैं।

दशनाम संन्यास सम्प्रदाय

शंकर द्वारा स्थापित चार मठों में संन्यास जीवन को एक नया दृष्टिकोण दिया गया ताकि उसके माध्यम से लोगों के बीच अद्वैत सिद्धान्त का प्रचार-प्रसार किया जा सके। इसके पूर्व संन्यासी पूर्णरूपेण तपस्वी हुआ करते थे, संसार के प्रति न उनका कोई कर्त्तव्य होता था और न कोई उद्देश्य। नयी व्यवस्था में संन्यासियों को वैदिक धर्म के प्रचार और उसकी रक्षा के लिए प्रोत्साहित किया गया। वे अपने ज्ञान के माध्यम से समाज का उत्थान और पथ-प्रदर्शन करने लगे। पहले जिन संन्यासियों के लिए आकाश ही वस्त्र था और जो ईश्वर के साथ एकात्म थे उन्हें संन्यास के प्रतीक के रूप में गेरू वस्त्र धारण कर लोगों के साथ सत्संग करने और उन्हें आध्यात्मिक उपदेश देने के लिए उत्साहित किया। इसके बदले समाज ने संन्यासियों की मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति की।

चार मठों में शंकर ने समर्पण की भावना का अनुमोदन और समर्थन किया। प्रत्येक मठ में उन्होंने देवी और देवता की स्थापना की, जिसका उद्देश्य मूर्ति पूजा नहीं, बल्कि उस पथ का प्रदर्शन करना था, जिसके द्वारा शिव और शक्ति के ऐक्य का ज्ञान हो। विभिन्न मठों में विभिन्न देवी-देवताओं की स्थापना की गयी, जो निम्नलिखित हैं–

मठ	देवी	देवता
शारदा (द्वारका)	भद्रकाली	सिद्धेश्वर
शृंगेरी (शृंगेरी)	सरस्वती	आदिवाराह
ज्योतिर् (बद्रीनाथ)	पुण्यगिरि	नारायण
गोवर्धन (जगन्नाथपुरी)	विमला	जगन्नाथ

ये चारों मठ दशनाम संन्यास सम्प्रदाय के केन्द्र माने जा सकते हैं। इन मठों की स्थापना के बाद धीरे-धीरे दशनामी संन्यासियों की संख्या और उनके क्रिया-कलापों में वृद्धि होती गयी। इन मठों और पुनर्व्यवस्थित संन्यास सम्प्रदाय का भारत के आध्यात्मिक, सामाजिक और राजनैतिक उत्थान में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। मठों के प्रधान शंकर के प्रतिनिधि माने जाते हैं और आज भी उन्हें शंकराचार्य कहा जाता है। शंकर ने अपने जिन चार निकटतम एवं योग्यतम शिष्यों को चार मठाधीशों के रूप में चुना, वे इस प्रकार थे–

1. पद्मपादाचार्य — गोवर्धन मठ (पुरी)
2. हस्तामलकाचार्य — शारदा मठ (द्वारका)
3. सुरेश्वराचार्य — शृंगेरी मठ (शृंगेरी)
4. त्रोटकाचार्य — ज्योतिर् मठ (बद्रीनाथ)

प्रत्येक मठ के लिए एक आध्यात्मिक प्रतीक के रूप में चार वेदों में से एक वेद और चार महाकाव्यों में से एक महाकाव्य निर्धारित किया गया, जो इस प्रकार है–

मठ	वेद	महावाक्य
गोवर्धन	ऋक्	प्रज्ञानम् ब्रह्म (ज्ञान ही ब्रह्म है)
शृंगेरी	यजुस्	अहम् ब्रह्मास्मि (मैं ब्रह्म हूँ)
शारदा	साम	तत् त्वम् असि (तू वह है)
ज्योतिर्	अथर्व	अयम् आत्मा ब्रह्म (आत्मा ही ब्रह्म है)

प्रत्येक मठ में प्रशिक्षण के लिए ब्रह्माचार्य होते हैं, उनका अपना क्षेत्र, अपना तीर्थ एवं अपना गोत्र होता है। उसी प्रकार प्रत्येक मठ का अपना सम्प्रदाय होता है। किसी विशेष तर्क के आधार पर सम्प्रदायों का वर्गीकरण नहीं किया गया है, बल्कि संन्यास से सम्बन्धित विभिन्न गुणों के आधार पर उन्हें विभिन्न वर्गों में रखा गया है, जो इस प्रकार हैं–

मठ	महावाक्य
शृंगेरी	भूरिवर (जिन्होंने सुख-सम्पदा का त्याग किया है)
शारदा	कितवर (जिनमें प्राणिमात्र के प्रति करुणा हो)
ज्योतिर्	आनन्दवर (जो काम-वासना से मुक्त हो)
गोवर्धन	भोगवर (जो सुख, भोग-विलास की इच्छा से मुक्त है)

शंकर ने भारत के सभी संन्यासियों को मुख्य रूप से दस वर्गों में विभक्त कर दिया, जिन्हें समष्टि रूप में दशनाम संन्यास कहा गया। प्रत्येक वर्ग को उसके प्राकृतिक वास या संन्यास वंशावली के आधार पर विशेष नाम दिया गया। वे नाम निम्नलिखित हैं–

1.गिरि – जो पहाड़ों पर रहने का अभ्यस्त हो,
2.पर्वत – जो पर्वत की चोटियों पर रहता हो,
3.सागर – जो समुद्र के निकट रहता हो,
4.वनम् – जो वन में रहता हो,
5.आरण्यम् – जो जंगल में रहता हो,
6.आश्रम – जो आश्रम में रहता हो,
7.सरस्वती – जो बड़ा ज्ञानी हो,
8.तीर्थ – जो तीर्थों के पास रहता हो,
9.पुरी – जो नगर में रहता हो,
10. भारती – जो बन्धनों से मुक्त, ब्रह्म विद्या में निपुण हो।

प्रत्येक संन्यासी को अपने संन्यास के नाम के आगे उपरोल्लिखित किसी एक पदवी का प्रयोग करना चाहिए। ये पदवियाँ किसी प्रकार एक-दूसरे से उत्कृष्ट या निकृष्ट नहीं हैं। दशनामी संन्यासियों ने संन्यास परम्परा का प्रचार करने में अधिक सक्रिय रूप से भाग लिया है।

शंकर ने दसों वर्गों को चारों मठों के अन्तर्गत बाँट दिया था। इस विभाजन के पीछे कोई विशेष तर्क नहीं था, विभिन्न सम्प्रदायों की गतिविधियों का संचालन करने के लिए उन्हें एक-एक मठ के अन्तर्गत रख दिया गया, वे मठ उन सम्प्रदायों के प्रधान केन्द्र बना दिये गये। हालाँकि संन्यासियों को इन मठों से संन्यास-दीक्षा या किसी प्रकार का निर्देश लेने की आवश्यकता नहीं है। सम्प्रदायों के निर्धारित मठ निम्नलिखित हैं–

मठ	दशनामी संन्यासी
शृंगेरी (रामेश्वरम्)	सरस्वती, भारती, पुरी
शारदा (द्वारका)	तीर्थ, आश्रम
ज्योतिर् (बद्रीनाथ)	गिरि, पर्वत, सागर
गोवर्धन (पुरी)	वनम्, आरण्यम्

प्रत्येक दशनामी के लिए एक विशेष उपनिषद् का निर्धारण किया गया, हालाँकि उन्हें अन्य उपनिषदों के अध्ययन के लिए भी उत्साहित किया गया। निर्धारित किये गये उपनिषद् इस प्रकार थे–

दशनामी संन्यासी	उपनिषद्
1. सरस्वती	बृहदारण्यक
2. भारती	तैत्तिरीय
3. पुरी	कठ
4. तीर्थ	केन
5. आश्रम	छान्दोग्य
6. गिरि	मुण्डक
7. पर्वत	प्रश्न
8. सागर	माण्डुक्य
9. वनम्	ऐतेरेय
10. आरण्यम्	कौशीतकी

शंकर ने संन्यास परम्परा को पुनः व्यवस्थित करने में जो महत्त्वपूर्ण योगदान दिया उसका वर्णन निम्नलिखित है–

1. संन्यासियों को सभी प्रकार के बलि-अनुष्ठानों से मुक्त कर दिया गया।
2. वे उपनिषदों से सम्बद्ध वेदान्ती साधना से प्रतिबद्ध हो गये।
3. त्याग या वैराग्य पूर्णतया आन्तरिक माना जाने लगा।
4. विवेक, वैराग्य, षट्-सम्पत्ति एवं मोक्ष की प्राप्ति पर बल दिया जाने लगा।
5. चातुर्मास के अतिरिक्त अन्य ॠतुओं के लिए परिव्राजकत्व का समर्थन किया गया।
6. मोक्ष के लिए पूर्वापेक्षा के रूप में सभी सांसारिक बन्धनों से पूर्ण मुक्ति आवश्यक मानी गयी।
7. एक प्रामाणिक गुरु परम्परा की स्थापना हुई।

दशनामी अखाड़ा एवं अलखबाड़ा

दशनामी संन्यासियों को दो श्रेणियों में विभक्त किया गया है–अस्त्रधारी एवं शास्त्रधारी। प्रथम श्रेणी में योद्धा संन्यासी तथा दूसरी श्रेणी में विद्वान् संन्यासी आते हैं। योद्धा संन्यासियों का चुनाव दसों सम्प्रदायों से होता है और उन्हें 'नागा संन्यासी' कहा जाता है। नागा संन्यासी सदा निर्वस्त्र ही रहते हैं। पारम्परिक रूप से इसमें ऐसे लोगों को ही चुना जाता है जो अविवाहित या विधुर हैं, या जिन पर किसी प्रकार का पारिवारिक उत्तरदायित्व नहीं है। उनकी दीक्षा के संस्कार कुम्भ मेला के दौरान होते हैं और शास्त्रधारी संन्यासियों से भिन्न होते हैं।

अखाड़ा

नागाओं का मुख्यालय 'अखाड़ा' कहलाता है। अखाड़ा का शाब्दिक अर्थ है 'शस्त्रास्त्रों के प्रशिक्षण का स्थान।' प्रारम्भ में अखाड़ा की स्थापना का उद्देश्य पारम्परिक संस्कृति की रक्षा करना था। पठानों, मुगलों और अंग्रेजों के समय में जब हिन्दू तीर्थ यात्रियों पर अत्याचार होते थे, उन्हें सताया जाता था, तब ये संन्यासी हथियार उठा लेते थे। नागाओं का जीवन सामुदायिक होता है। वे मढ़ी द्वारा दिये गये अधिकारों और सुविधाओं का उपभोग करते हैं। अखाड़ा में सारी सम्पत्ति समुदाय की होती है। वह विशुद्ध रूप से सैन्य संगठन होता है। उन्हें कठिन शारीरिक प्रशिक्षण और शस्त्र-संचालन के प्रशिक्षण दिये जाते हैं।

नागा अपने केशों को मुड़ा भी सकते हैं या उन्हें जटा के रूप में रख सकते हैं। प्रत्येक अखाड़ा के संन्यासी अपनी जटाओं को विशेष रूप में बाँध कर रखते हैं, जिससे यह ज्ञात होता है कि वे किस अखाड़ा के सदस्य हैं।

उदाहरणार्थ, निर्वाणी अखाड़ा के सदस्य अपनी जटा को सिर के दाहिनी तरफ बाँधते हैं, जूना अखाड़ा के सदस्य बायीं तरफ, जबकि निरंजनी अखाड़ा के नागा अपने केशों को सिर के बीच में लपेटते हैं। नागा अपने भालों की पूजा करते हैं। प्रत्येक अखाड़ा में इसके अलग-अलग नाम होते हैं, जैसे–सूर्य प्रकाश, भैरव प्रकाश इत्यादि। कभी-कभी ये नाम सोने और चाँदी से भालों पर मढ़े रहते हैं। इन भालों को कुम्भ के मेले में सबसे पहले स्नान कराया जाता है, फिर उन्हें लेकर जुलूस निकाला जाता है।

अखाड़ों की उत्पत्ति और उनके इतिहास के विषय में प्रामाणिक तथ्य आज ज्ञात नहीं हैं। फिर भी प्राप्त अभिलेखों और विवरणों के आधार पर मुख्य अखाड़ों की उत्पत्ति की जानकारी दी जा रही है।

अखाड़ा	स्थान	विक्रम संवत्	सन् ईस्वी
आनन्द	अज्ञात	912	856
निरंजनी	कच्छ माण्डवी	960	904
जूना या भैरों	कर्ण प्रयाग	1202	1106
आवाहन	काशी	1603	1547
अटल	गोंडवाना	1704	1648
महानिर्वाणी	बैद्यनाथधाम	1805	1749

अटल, आवाहन और आनन्द क्रमश: महानिर्वाणी, जूना और निरंजनी अखाड़ों से सम्बद्ध हैं। यह सर्वविदित है कि उन्नीसवीं शताब्दी में आनन्दमठ के संन्यासियों की भारत के स्वतंत्रता-संग्राम में कितनी महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। जूना अखाड़े के संन्यासियों ने भी अंग्रेजों के विरुद्ध युद्ध में भाग लिया था, भले ही वे पुर्तगालियों की तरफ से थे।

अखाड़ा का संगठन

अखाड़ा का संगठन लोक-तान्त्रिक आधार पर होता है। कोई भी निर्णय सबकी सहमति से ही लिया जाता है। अखाड़ों को आठ दावों (वर्गों) में विभाजित किया जाता है, जहाँ प्रशिक्षण दिये जाते हैं और बावन मढ़ी होती हैं, जो नये सदस्यों की भर्ती का केन्द्र होती हैं। मढ़ी, अखाड़ा का केन्द्र होती है, जिसके प्रमुख 'महन्त', अर्थात् 'महान् आत्मा' होते हैं। पहले महन्त धनी

व्यक्ति हुआ करते थे, जो संन्यासियों के अभिभावक होते थे। 'कारोबारी', अर्थात् 'प्रशासक' महन्त की प्रबन्ध कार्यों में सहायता करते हैं। थानापति आठ महन्तों का पर्यवेक्षण करते हैं, मण्डलाचार्य आठ से बारह थानापतियों पर नियन्त्रण रखते हैं, महामण्डलाचार्य आठ से बारह मण्डलाचार्यों का अधीक्षण करते हैं और आचार्यों में जो सबसे प्रमुख हैं, वे आठ से बारह महामण्डलाचार्यों को नियंत्रित करते हैं। उन्हें परमेश्वर कहा जाता है।

श्रीपंच को पाँच देवी-देवताओं–ब्रह्मा, विष्णु, शिव, शक्ति और गणेश का समन्वित रूप माना जाता है। वस्तुत: सम्पूर्ण अखाड़ा उसी के नियन्त्रण में रहता है। परमेश्वर को शिव माना जाता है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक अखाड़ा के अपने इष्ट देव होते हैं। कुम्भ के मेले में श्रीपंच का चुनाव होता है। इन पाँच अधिकारियों, व्यवस्थापकों का कार्य-काल चार वर्षों का होता है। श्रीपंच को ही अखाड़ा की कार्य समिति माना जाता है। एक रमता पंच का भी गठन किया जाता है, जो घूम-घूम कर अपने अधीनस्थ संगठनों का निरीक्षण करते हैं तथा वहाँ के संन्यासियों की समस्याओं का समाधान करते हैं। इस प्रकार अखाड़ा का संगठनात्मक स्वरूप संन्यासी, रमता पंच, श्रीपंच एवं आचार्य को मिला कर बनता है।

अग्नि अखाड़ा

कुछ ब्रह्मचारियों ने पृथक् रूप में अपना अखाड़ा बनाया, जिसे अग्नि अखाड़ा कहा गया है। ये सभी ब्रह्मचारी ब्राह्मण एवं अग्निहोत्र होते हैं, ये यज्ञ में आहुति देते हैं। अन्य अखाड़ों में वे ऐसा नहीं कर पाते, क्योंकि संन्यासियों को सभी बलि-अनुष्ठानों का त्याग करना होता है। यह अखाड़ा सन् 1482 ई० में स्थापित हुआ था। अग्नि अखाड़ा की कोई मढ़ी नहीं होती, जहाँ नये सदस्यों को भर्ती किया जाता है। लेकिन पूरे भारत में अब तक छोटे-बड़े कुल 300 मठों की स्थापना हो चुकी है। इस अखाड़ा की देवी गायत्री हैं। ब्रह्मचारीगण होम करते हैं, शास्त्रों का अध्ययन करते हैं और ब्रह्मचर्य जीवन व्यतीत करते हैं।

अलखबाड़ा

जिस प्रकार अस्त्रधारी या नागा संन्यासी अखाड़ों में रहते थे, उसी प्रकार शास्त्रधारी संन्यासी समाज से बाहर 'अलखबाड़ा' में रहते थे। अलखबाड़ा का

अर्थ है 'अदृश्य घेरा या सीमा'। अस्त्रधारी संन्यासियों के संगठित होने के पूर्व शास्त्रों के ज्ञान को सुरक्षित रखते हुए उसे आगे सम्प्रेषित करने का उत्तरदायित्व शास्त्रधारी संन्यासियों पर ही था। जब भी उन्हें किसी प्रकार के खतरे की आशंका होती थी, जो कि प्राचीन काल में विदेशी आक्रमण, राजनैतिक उथल-पुथल और प्राकृतिक आपदाओं के कारण प्राय: हो जाया करती थी, तब वे संन्यासी तुरन्त ऊँचे पर्वतों पर या घने-विस्तृत वनों-जंगलों में विलीन हो जाया करते थे। वे या तो अकेले जाते थे या अपने कुछ शिष्यों के साथ।

वे अलखबाड़ा या 'अदृश्य सीमा' में लम्बी अवधि तक रह जाते थे। उनके अपने समाज के सदस्य भी उन्हें न जान पाते थे, न देख पाते थे। वे जड़ी-बूटी और कंद-मूल पर जीवन निर्वाह करते और समाज की विनाशकारी प्रवृत्तियों से दूर, शान्ति के साथ गहन ध्यान में लीन रहते थे। पुन: जब समाज में शान्तिपूर्ण वातावरण छा जाता था और वे लोगों तक आध्यात्मिक ज्ञान को वापस पहुँचाने की आवश्यकता समझते थे, तब वे अलखबाड़ा से निकलकर समाज में लोगों के बीच चले जाते थे। ऐसे समय में उनके रहने की जो भिन्न व्यवस्था होती थी उसे आश्रम कहते थे, बाद में उसे ही मठ कहा जाता था।

धीरे-धीरे जब विदेशी आक्रमण बढ़ने लगे तब लड़ाकू संन्यासियों का वर्ग तैयार किया गया। जब अखाड़े शक्तिशाली होने लगे तब धर्म और शास्त्रों की सुरक्षा का उत्तरदायित्व उन्हें दे दिया गया। इसलिए जब शास्त्रधारियों को अनजान आश्रमों में एकान्तवास करने की आवश्यकता नहीं रह गयी और इस प्रकार अलखबाड़ा की अवधारणा को धीरे-धीरे लोग भूल गये तब शास्त्रधारियों ने या तो आश्रम-मठों की स्थापना की या किसी आश्रम-मठ से सम्बद्ध हो गये। अखाड़े इन आश्रम-मठों की रक्षा करने लगे।

श्रीपंच दशनाम परमहंस अलखबाड़ा

स्वामी सत्यानन्द सरस्वती ने सन् 1990 ई० में अपने इष्ट देवता की प्रेरणा से देवघर में अपनी साधना आरम्भ की। उस समय अलखबाड़ा की धारणा धीरे-धीरे उनके अन्दर विकसित होने लगी। संन्यास परम्परा के अन्तर्गत अलखबाड़ा संन्यास के उच्चतर स्तरों तक पहुँचने का साधन बन कर आया था। परमहंस के स्तर से यह साधना प्रारम्भ होती है। जब संन्यासी अपने

सभी कर्मों का क्षय कर चुका हो, तब सामाजिक जीवन की भीड़-भाड़ से दूर एकान्त में शान्तिपूर्वक तप और ध्यान कर सकता है।

यह अलखबाड़ा श्रीपंच दशनाम परमहंस अलखबाड़ा के नाम से जाना जाने लगा है। इसकी स्थापना संन्यास की सर्वोच्च परम्पराओं–वैराग्य, त्याग और तपस्या के अनुरक्षण के उद्‌देश्य से की गयी है। अलखबाड़ा में वैदिक युग के ऋषियों और मुनियों के समान तपोवन जीवन-शैली अपनायी गयी है, जो केवल परमहंस संन्यासियों के लिए है।

श्रीपंच दशनाम परमहंस अलखबाड़ा की दिशा साधना, तपस्या, स्वाध्याय और आत्म-चिन्तन की वैदिक परम्परा से ही नियन्त्रित होती है। इनके द्वारा प्रत्येक संन्यासी के अपने सूक्ष्म आध्यात्मिक गुणों को विकसित करने पर बल दिया जाता है। अलखबाड़ा में किसी प्रकार का योग शिक्षण, किसी धर्म का उपदेश इत्यादि नहीं दिया जाता है। श्रीपंच दशनाम परमहंस अलखबाड़ा के इष्ट देव हैं–आदि गुरु शंकराचार्य एवं स्वामी शिवानंद सरस्वती। ब्रह्मा, विष्णु, शिव, शक्ति एवं गणेश श्रीपंच हैं। विभिन्न चिह्नों और संकेतों का मिश्रित यन्त्र श्रीपंच का प्रतीक है। श्रीयन्त्र देवी का, तांबे का कलश ब्रह्मा का, शंख विष्णु का, त्रिशूल शिव का और गणपति यन्त्र गणेश का प्रतीक है।

श्रीपंच दशनाम परमहंस अलखबाड़ा के दीक्षित संन्यासियों के वस्त्र का रंग काला होता है। काला रंग अव्यक्त प्रकृति का प्रतीक माना गया है। श्वेत रंग को व्यक्त प्रकृति का प्रतीक माना गया है जिसमें सभी रंग, आकार, रूप तथा विचार दृश्यमान हो जाते हैं। अव्यक्त प्रकृति का काला रंग काली का रंग है, जिसमें सभी रूप, आकार, रंग और अस्तित्व विलीन हो जाते हैं। निरन्तर जलती रहने वाली धूनि को महाकाल चिता धूनि कहा गया है।

श्रीपंचदशनाम परमहंस अलखबाड़ा से सम्बन्धित अन्य संगठन निम्नलिखित हैं–

1. सुखमन (सुषुम्ना) मढ़ी, अमरवा–स्वामी सत्यानन्द सरस्वती की प्रथम संन्यासी शिष्या परमहंस आत्मानन्द की साधना-स्थली यह मढ़ी रिखिया के अलखबाड़ा के ठीक सामने स्थित है।
2. हंस मढ़ी, मुंगेर–यह परमहंस निरंजनानन्द की साधना स्थली है।

दशनामी सम्प्रदाय का जो संन्यासी चेतना के उच्च स्तर पर पहुँच जाता है उसे एकान्त जीवन व्यतीत करने के लिए अलखबाड़ा में रखा जाता है।

इस प्रकार के एकान्तवासी अवधूत कहलाते हैं। अवधूत शब्द का अर्थ है 'जो विनष्ट हो'। एक अवधूत संन्यासी संसार का त्याग कर अपनी काम-वासना को समूल नष्ट कर चुका होता है। अवधूत अलखबाड़ा में रहता है। 'अलख' का अर्थ है 'अदृश्य', 'बाड़ा' का अर्थ है 'सीमा' या 'घेरा'। अदृश्य घेरा या सीमा, अर्थात् यह सार्वजनिक स्थान नहीं है, यह साधना और तपस्या का स्थान है। अलखबाड़ा तथा अन्य मढ़ियों में प्रवेश नियंन्त्रित होता है, ताकि गम्भीर आध्यात्मिक साधकों की साधना में कोई विघ्न न पड़े।



वैष्णव सम्प्रदाय

आर्यों के भारत में प्रवेश करने तक शैव मत यहाँ के मूल निवासियों की आस्था का अभिन्न अंग बन चुका था। आर्य अपने इष्ट देव विष्णु को अपने साथ लाये थे। उन्होंने पूजा की विधियों और धार्मिक क्रियाओं की अपनी पद्धति का विकास किया था, जिसे वे द्रविड़ों पर आरोपित करना चाहते थे। इस प्रकार दो संस्कृतियों के बीच अनेक विवाद उठ खड़े हुए, वैदिक संस्कृति विष्णु की पूजा करने को कहती और तान्त्रिक संस्कृति शिव और शक्ति की आराधना का अनुमोदन करती। तब विभिन्न सुधारकों, कवियों और संतों के प्रयास से धीरे-धीरे दोनों सम्प्रदायों के बीच समन्वय स्थापित हुआ। इन दोनों के समन्वित रूप को ही आज हम हिन्दू धर्म के रूप में देख रहे हैं, जिसमें शिव और विष्णु, दोनों ही समान रूप से श्रद्धेय और पूज्य हैं।

वैष्णव सम्प्रदाय विष्णु पर आधारित है, जिन्हें सृष्टि का रक्षक और पालनकर्त्ता माना जाता है। वैष्णव संन्यासी विष्णु एवं उनके विभिन्न अवतारों, जैसे, राम और कृष्ण की आराधना करते हैं। साथ-ही वे उनकी अर्द्धांगिनी और सहचरी, सीता और राधा की भी पूजा करते हैं। ये संन्यासी अपने शरीर पर अंग्रेजी के 'U' अक्षर की भाँति चिह्न बनाते हैं, जिसे 'खरा तिलक' कहा जाता है। वे विष्णु के प्रतीक शंख, चक्र, गदा और पद्म भी अपने शरीर पर अंकित करते हैं। वैष्णव चिह्न लाल, पीले, काले या सफेद रंग के भी हो सकते हैं। चिह्न बनाने के लिए तीर्थ स्थलों से लाये गये गोपी चंदन की मिट्टी या चंदन के लेप का प्रयोग किया जाता है।

वैष्णव सम्प्रदाय एवं उसके उप-सम्प्रदायों को दो श्रेणियों में रखा जा सकता है–रूढ़िवादी एवं सुधारवादी। ग्यारहवीं शताब्दी में रामानुज ने शंकर के विचारों का खण्डन करते हुए 'ब्रह्म सूत्र' की नयी व्याख्या की। तत्पश्चात्

निम्बार्क, माधवाचार्य और वल्लभाचार्य ने वैष्णवों के नये सम्प्रदाय की स्थापना की। इन चारों को चतु: सम्प्रदाय कहा जाता है। यद्यपि इष्ट देव के रूप में विष्णु के विभिन्न पक्षों की दैनिक पूजा-अर्चना की जाती है, फिर भी इन विभिन्न उप-सम्प्रदायों के बीच एक समानता यह होती है कि ये सब विष्णु के ही किसी-न-किसी रूप की पूजा करते हैं।

शैवों की भाँति वैष्णवों की भी अपनी गुरु परम्परा थी। वैरागी सम्प्रदाय की स्थापना के पूर्व मठों और संन्यासियों के आदर्श ज्ञान पर आधारित हुआ करते थे। अखाड़ा मल्ल के वैरागी दशनामी सम्प्रदाय के नागा संन्यासियों के समान होते हैं। रामानुज, चैतन्य और रामानन्द ने भक्ति आन्दोलन की नींव डाली। चैतन्य या रामानन्द कभी जाति-धर्म के कारण होने वाले छूत-अछूत के पक्ष में नहीं थे। मुख्य वैष्णव सम्प्रदाय इस प्रकार हैं–

1. *श्री सम्प्रदाय*–यह रूढ़िवादियों का सबसे बड़ा और सबसे पुराना सम्प्रदाय है। इस सम्प्रदाय का नाम 'श्री' इसलिए रखा गया कि ऐसी मान्यता है कि इसकी स्थापना विष्णु की पत्नी लक्ष्मी या श्री ने की थी। इतिहास के अनुसार विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के व्याख्याता रामानुज इसके संस्थापक थे। विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त शंकर के अद्वैत सिद्धान्त का खण्डन करता है। इस सम्प्रदाय के संन्यासी दो वर्गों में रखे जाते हैं–बदगल एवं तेंगल।

बदगल वर्ग के संन्यासी 'मर्कट न्याय' का अनुसरण करते हैं। इसके अनुसार मोक्ष की प्राप्ति के लिए मनुष्य, जो आत्मा का प्रतिनिधित्व करता है, ईश्वर की ओर बन्दर के बच्चे के समान देखता है, जो अपनी माँ से चिपका रहता है। तेंगल वर्ग के संन्यासी 'मार्जार न्याय' का अनुसरण करते हैं, जो ईश्वर की कृपा और नि:सहायता पर आधारित है। इसके अनुसार मनुष्य की आत्मा बिल्ली के बच्चे के समान है, जो अत्यन्त असहाय होता है और जिसे उसकी माँ ही अपने मुँह में उठा कर इधर से उधर रखती है।

इस सम्प्रदाय के संन्यासी रामानुजी कहलाते हैं। वे अत्यन्त श्रमसाध्य एवं नियमित जीवन व्यतीत करते हैं। वे प्राय: संस्कृति के महान् विद्वान् होते हैं तथा 'ॐ नमो नारायण' के अष्टाक्षर मंत्र का उच्चारण करते रहते हैं।

2. *नामावत सम्प्रदाय*–नामावत संन्यासी निम्बार्काचार्य द्वारा प्रतिपादित द्वैताद्वैत सिद्धान्त का अनुपालन करते हैं। उनके अनुसार आत्मा और परमात्मा का अपना-अपना अस्तित्व होते हुए भी दोनों एक-दूसरे से सम्बद्ध हैं। आत्मा और संसार ईश्वर से भिन्न हैं, क्योंकि उनमें जो विशेषताएँ हैं वे ईश्वर के

नैसर्गिक गुणों और विशेषताओं से भिन्न हैं। किन्तु साथ-ही वे ईश्वर से भिन्न भी नहीं, क्योंकि ईश्वर सर्वव्यापी हैं और सभी जीव पूर्णतया उन्हीं पर निर्भर हैं। नामावत संन्यासी तुलसी की एक माला और एक त्रिबन्ध अपने पास रखते हैं। उनमें अधिकतर परिव्राजक होते हैं।

3. *ब्रह्मा सम्प्रदाय*–ऐसा माना जाता है कि विष्णु ने इस सम्प्रदाय के मुख्य सिद्धान्त ब्रह्मा को सम्प्रेषित किये और ब्रह्मा ने उन्हें वायु के माध्यम से संसार के समक्ष उद्घाटित किया। माधवाचार्य को वायु का अवतार माना जाता है, जो शंकर के उपदेशों और विचारों का प्रतिकार करने के लिए इस जगत् में अवतरित हुए। इस सम्प्रदाय के अनुसार कुमारिल भट्ट ने पूर्व मीमांसा में धर्म सिद्धान्तों की जो व्याख्या की, वही सत्य है, शेष सभी मिथ्या है। माधवाचार्य ने द्वैत सिद्धान्त का विकास किया, जो शंकर के अद्वैत सिद्धान्त का विरोधी था। माधवाचारी संन्यासी सतत् उपवास की अवस्था में रहते हैं। इस सम्प्रदाय का मुख्य मठ कर्नाटक प्रान्त के उडुपी नगर में है।

4. *माधवगौड़ीय सम्प्रदाय*–इस सम्प्रदाय के संस्थापक चैतन्य महाप्रभु थे। उनका जन्म सन् 1486 ई० में बंगाल में हुआ था। उन्होंने सभी जाति और धर्म के लोगों को अपना शिष्य बनाया। धीरे-धीरे चैतन्य सम्प्रदाय माधव सम्प्रदाय से सम्बद्ध हो गया। माधवाचार्य ने द्वैत का सिद्धान्त प्रतिपादित किया और चैतन्य ने अचिन्त्या भेदाभेद का। दोनों सम्प्रदायों के सम्बद्ध होने पर उन्हें माधवगौड़ीय सम्प्रदाय कहा गया। माधवगौड़ीय संन्यासी विष्णु को ही परम सत्य मानते हैं। वे विष्णु के सभी अवतारों की पूजा करते हैं, किन्तु कृष्ण को ईश्वर का पूर्ण अवतार मानते हैं। उनका विश्वास है कि इस युग के लिए संकीर्तन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वे 'मनसा-वाचा-कर्मणा' अहिंसा का पालन करते हैं। ये संन्यासी प्राय: भारत के पूर्वी भाग में ही पाये जाते हैं। वर्तमान समय में यह सम्प्रदाय दो भागों में बँट गया है–एक वह जो जाति-प्रथा को मान्यता देता है और दूसरा जो विरोध करता है।

5. *वल्लभाचारी सम्प्रदाय*–वल्लभाचार्य ने शुद्धाद्वैत सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। उनके अनुसार सम्पूर्ण भौतिक जगत् और आत्मा सत्य है और यही ईश्वर का सुस्थिर रूप है। जो जगत् की व्याख्या माया के रूप में करते हैं, जैसा कि शंकर ने किया, उन्हें वल्लभाचार्य शुद्ध अद्वैती नहीं मानते हैं। उनका कहना है कि ब्रह्म माया के बिना भी जगत् की सृष्टि कर सकता

है। वल्लभाचार्य ने कृष्ण के रूप में विष्णु की पूजा का अनुमोदन किया है, क्योंकि उन्हें वे सर्वोच्च ब्रह्म मानते हैं।

वल्लभाचारी संन्यासियों का विश्वास है कि स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मन रहता है। इसलिए वे उपवास या उस प्रकार की कठोर तपस्या नहीं करते हैं।

6. *रामानन्दी सम्प्रदाय*–इस सम्प्रदाय की स्थापना संत रामानन्द ने की, जिन्हें भारत का क्रान्तिकारी संन्यासी माना जाता है। रामानन्द समस्त हिन्दू समाज की भावात्मक एकता के लिए दृढ़तापूर्वक प्रयत्नशील रहे। उन्होंने उच्च-नीच, सभी के लिए भक्ति का द्वार खोल दिया। उन्होंने धर्म, जाति या लिंग का विचार किये बिना सभी अभीप्सुओं को अपनाया। यहाँ तक कि उन्होंने मुसलमान कबीर और शूद्र रविदास को भी अपने शिष्यों के रूप में स्वीकार किया। उनके पूर्व धर्म एवं सम्प्रदाय की सभी पुस्तकें संस्कृत में लिखी गयी थीं ताकि सामान्यजन उन्हें नहीं पढ़ पायें। रामानन्द प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने आम लोगों की बोली में धार्मिक पुस्तकें लिखना प्रारम्भ किया ताकि वे सभी के द्वारा पढ़ी और समझी जा सकें।

इस सम्प्रदाय के संन्यासी वैरागी कहलाते हैं। आध्यात्मिक आनन्द की प्राप्ति के लिए जो सांसारिक बन्धनों का त्याग करता है उसे वैरागी कहते हैं। वैरागी विष्णु के साथ राम और कृष्ण की आराधना करते हैं। वैरागियों को अवधूत भी कहा जाता है, क्योंकि वे पूजा स्थलों की राख अपने शरीर पर लपेटे रहते हैं। वैरागियों की लम्बी जटाएँ होती हैं। वे चिमटा और मृग-छाल साथ रखते हैं। वे श्वेत वस्त्र धारण करते हैं, किन्तु कुछ संन्यासी पूर्णतया नग्न भी रहते हैं। वे धरती पर या लकड़ी के तख्ते पर सोते हैं। सोने के लिए वे पलंग या खाट का प्रयोग कभी नहीं करते हैं। अधिकतर वैरागी राम की जन्म-भूमि अयोध्या में रहते हैं। आज रामानन्दी सम्प्रदाय वैष्णवों का सबसे बड़ा सम्प्रदाय है।

ये मुख्य रूढ़िवादी वैष्णव सम्प्रदाय हैं। इसी प्रकार कुछ छोटे-छोटे सम्प्रदाय भी हैं और साथ ही कुछ सुधारवादी भी, जैसे–कबीर पंथ, दादू पंथ, निर्मल पंथ, राधा स्वामी सम्प्रदाय, भगत पंथ इत्यादि। दशनामी संन्यासियों की तरह वैष्णवों के भी अपने नागा संन्यासी होते हैं। उनका संगठन अनी और अखाड़ा के रूप में होता है, जिसकी स्थापना सर्वप्रथम सन् 1700 ई० के आस-पास हुई थी। इनके सात मुख्य तथा कुछ छोटे-छोटे अखाड़े हैं। इनकी व्यवस्था दशनामी अखाड़ों के समान ही होती है।

आज के युग में संन्यास

संन्यासी का गीत

स्वामी विवेकानन्द का संन्यासी को अमर आह्वान, 1895

छेड़ो संन्यासी, छेड़ो, छेड़ो, वह तान मनोहर,
गाओ वह गान, जगा जो अत्युच्च हिमाद्रि-शिखर पर,
सुगभीर अरण्य जहाँ हैं, पार्वत्य प्रदेश जहाँ हैं,
भव-पाप-ताप ज्वालामय करते न प्रवेश जहाँ हैं,
जो संगीत-ध्वनि-लहरी अतिशय प्रशान्त लहराती
जो भेद जगत् कोलाहल नभ-अवनि में छा जाती,
धन-लोभ, यशोलिप्सा या दुर्दांत काम की माया,
सब विधि असमर्थ हुई हैं छूने में जिसकी छाया,
सत्-चित्-आनन्द त्रिवेणी करती है जिसको पावन,
जिसमें करके अवगाहन होते कृतकृत्य सुधीजन
छेड़ो, छेड़ो, हाँ छेड़ो वह तान दिव्य लोकोत्तर,
गाओ, गाओ संन्यासी, गाओ वह गान सुन्दर

ॐ तत् सत् ॐ

तोड़ो जंजीरें जिनसे जकड़े हैं पैर तुम्हारे–
वे सोने की हैं तो क्या, कसने में तुमको हारे,
अनुराग-घृणा-संघर्षण, उत्तम व अधम विवेचन,
इस द्वन्द्व भाव को त्यागो, है त्याज्य उभय आलम्बन।
आदर गुलाम पाये या कोड़ों की मारें खाये,

वह सदा गुलाम रहेगा कालिख का तिलक लगाये;
स्वातन्त्र्य किसे कहते हैं–वह जान नहीं है पाता
स्वाधीन सौख्य जीवन का, उसकी न समझ में आता।
त्यागो संन्यासी, त्यागो तुम द्वन्द्व भाव को सत्वर,
तोड़ो शृंखल को तोड़ो, गाओ यह गान निरन्तर–

ॐ तत् सत् ॐ

घन अन्धकार हट जाये, मिट जाये घोर महातम,
जो मृगमरीचिका जैसा करता रहता बुद्धि-भ्रम,
मोहक भ्रामक आकर्षण अपनी है चमक दिखाता,
तम से घनतर तम में वह जीवात्मा को ले जाता।
जीवन की यह मृग-तृष्णा बढ़ती अनवरत निरन्तर,
मेटो तुम इसे सदा को पीयूष ज्ञान का पीकर।
यह तम अपनी डोरी में जीवात्मा-पशु को कसकर
खींचा करता बलपूर्वक दो जन्म-मरण छोरों पर।
जिसने अपने को जीता, उसने जय पायी सब पर–
यह तथ्य जान सफेद फन्दे में पड़ना मत बुद्धि गँवाकर।
बोलो संन्यासी, बोलो हे वीर्यवान बलशाली,
सानन्द गीत यह गाओ, छेड़ो यह तान निराली–

ॐ तत् सत् ॐ

'अपने-अपने कर्मों का फल भोग जगत् में निश्चित',
कहते हैं सब, 'कारण पर हैं सभी कार्य अवलम्बित,
फल अशुभ अशुभ कर्मों के, शुभ कर्मों के हैं शुभ फल,
किस में सामर्थ्य बदल दे, यह नियम अटल औ' अविचल
इस मृत्युलोक में जो भी करता है तनु को धारण,
बन्धन उसके अंगों का होता नैसर्गिक भूषण।'
यह सच है, किन्तु परे जो गुण-नाम-रूप से रहता
वह नित्य मुक्त आत्मा है, स्वच्छन्द सदैव विचरता।

'तत् त्वमसि–वही तो तुम हो, यह ज्ञान करो हृदयांकित,
फिर क्या चिन्ता संन्यासी, सानन्द करो उद्घोषित–

ॐ तत् सत् ॐ

क्या मर्म सत्य का, इसको वे कुछ भी समझ न पाते,
सुत बन्धु पिता-माता के स्वप्नों में जो मदमाते।
आत्मा अतीत नातों से, वह जन्म-मरण से विरहित,
वह लिंग-भेद से ऊपर, सुख-दु:ख-भावों से अविजित।
वह पिता कहाँ किसका है, किसका सुत, किसकी माता?
वह शत्रु-मित्र किसका है, उसका किससे क्या नाता?
जो एक, सर्वमय शाश्वत, जिसका जोड़ा न कहीं है,
जिसके अभाव में कोई सम्भव अस्तित्व नहीं है,
'तत् त्वमसि'–वही तो तुम हो, समझो हे संन्यासीवर,
अतएव उठो, गाओ तुम, गाओ यह गान निरन्तर–

ॐ तत् सत् ॐ

चिर मुक्त विज्ञ आत्मा है, वह अद्वितीय, वह अतुलित,
अक्लेद्य अशोष्य निरामय वह नाम-रूप-गुण-विरहित,
उसके आश्रय में बैठी संसार-मोहिनी माया
देखा करती है अपने मादक स्वप्नों की छाया,
साक्षी स्वरूप माया का आत्मा सदैव है सुविदित,
जीवात्मा और प्रकृति के रूपों में वही प्रकाशित;
'तत् त्वमसि'–वही तो तुम हो, समझो संन्यासीवर,
उच्च स्वर से यह गाओ, यह तान अलापो सुन्दर–

ॐ तत् सत् ॐ

हे बन्धु, मुक्ति पाने को तुम फिरते कहाँ भटकते?
इस जग या लोकान्तर में तुम मुक्ति नहीं पा सकते,
अन्वेषण व्यर्थ तुम्हारा शास्त्रों, मन्दिर-मन्दर में,

जो तुमको खींचा करती वह रज्जु तुम्हारे कर में।
दु:ख शोक त्याग दो सारा, तुम वीतशोक बस हो लो,
वह रज्जु हाथ से छोड़ो, बोलो संन्यासी बोलो–

ॐ तत् सत् ॐ

दो अभय-दान सब को तुम–हों सभी शान्तिमय सुखमय,
है प्राणिमात्र को मुझसे कुछ भी न कहीं कोई भय,
पृथ्वी पाताल गगन में मैं ही आत्मा चिर-संस्थित,
आशा भय स्वर्ग नरक को मैंने तज दिया अशंकित।
काटो-काटो तुम इस विधि माया के बन्धन,
नि:शंक प्राणपण से तुम गाओ, गाओ यह गान–

ॐ तत् सत् ॐ

चिन्ता मत करो तनिक भी नश्वर शरीर की गति पर,
यह देह रहे या जाये, छोड़ो तुम इसे नियति पर,
जब कार्य शेष है इसका, तब जाता है तो जाये,
प्रारब्ध कर्म फिर इसको अब चाहे जहाँ बहाये,
कोई आदर से इसको मालाएँ पहनायेगा,
कोई निज घृणा जताकर पैरों से ठुकरायेगा,
तुम चित्त-शान्त मत तजना, आनन्द-निरत नित रहना,
यश कहाँ, कहाँ अपयश है–इस धारा में मत बहना।
जब निन्दक और प्रशंसक, जब निन्दित और प्रशंसित
एकात्म एक ही हैं सब, तब कौन प्रशंसित निन्दित?
यह ऐक्य-ज्ञान हृदयंगम करके हे संन्यासीवर,
निर्भय आनन्दित उर से गाओ यह गान मनोहर–

ॐ तत् सत् ॐ

करते निवास जिस उर में मद काम लोभ औ' मत्सर,
उसमें न कभी हो सकता आलोकित सत्य-प्रभाकर,

भार्यत्व कामिनी में जो देखा करता कामुक मन,
वह पूर्ण नहीं हो सकता, उसका न छूटता बन्धन,
लोलुपता है जिस नर की स्वल्पातिस्वल्प भी धन में,
वह मुक्त नहीं हो सकता, रहता अपार बन्धन में
जंजीर क्रोध की जिसको रखती है सदा जकड़ कर,
वह पार नहीं कर सकता दुस्तर माया का सागर।
इन सभी वासनाओं का अतएव त्याग तुम कर दो,
सानन्द वायुमण्डल को बस एक गूंज से भर दो–

ॐ तत् सत् ॐ

सुख हेतु न गेह बनाओ, किस घर से अमा सकोगे?
तुम हो महान्, फिर कैसे पिंजड़े के विहग बनोगे?
आकाश अनन्त चंदोया, शय्या धरती तृण-शोभित,
रहने के लिए तुम्हारे यह विश्व गेह है निर्मित,
जैसा भोजन मिल जाये, संतोष उसी पर करना,
सुस्वादु स्वाद-विरहित में कुछ भी मत भेद समझना,
शुद्धात्मरूप का जिसमें सद् ज्ञानालोक चमकता,
कुछ खाद्य पेय क्या उसको अपवित्र नहीं कर सकता?
उन्मुक्त स्वतन्त्र प्रवाहित तुम नदी तुल्य बन जाओ,
छेड़ो यह तान अनूठी, सानन्द गीत यह गाओ–

ॐ तत् सत् ॐ

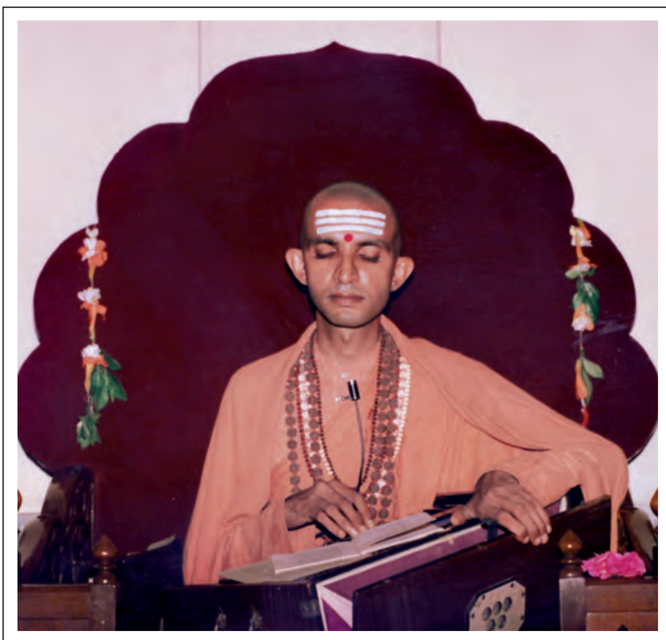
ज्ञानी बिरले, अज्ञानी कर घृणा हँसेंगे तुम पर,
हे हे महान्, तुम उनको मत देखना आँख उठाकर।
स्वाधीन मुक्त तुम जाओ, पर्यटन करो पृथ्वी पर,
अज्ञान-गर्त-पतितों का उद्धार करो तुम सत्वर,
माया-आवरण-तिमिर में जो पड़े वेदना सहते,
तुम उन्हें उबारो जाकर, जो मोह नदी में बहते।
विचरो जन-हित साधन को स्वच्छन्द मुक्त तुम अविजित

दु:ख की पीड़ा से निर्भय, सुख-अन्वेषण से विरहित;
सुख-दु:ख के द्वन्द्व-स्थल के तुम परे महात्मन् जाओ,
गाओ-गाओ संन्यासी, उच्च स्वर से तुम गाओ–

ॐ तत् सत् ॐ

इस विधि से छीज दिनोंदिन, है कर्म स्वीय बल खोता
बन्धन छूटता आत्मा का, फिर उसका जन्म न होता;
फिर कहाँ रह गया-मैं-तू, मेरा-तेरा, नर-ईश्वर?
मैं हूँ सब में, मुझमें सब आनन्द परम लोकोत्तर।
आनन्द परम वह हो तुम, आनन्द सहित अब गाओ,
हे बन्धुवर्य संन्यासी, यह तान पुनीत उठाओ–

ॐ तत् सत् ॐ



आधुनिक युग में संन्यास

वैदिक काल में संन्यास में ब्रह्म की खोज के मौलिक उद्देश्य के साथ कर्मकाण्ड की भी प्रधानता थी। ऐसा प्रतीत होता है कि ऋषि परम्परा ही वैदिक तपस्या का स्वीकृत रूप थी–संन्यास नहीं, क्योंकि इसकी धारणा बाद में विकसित हुई। उपनिषद् काल में कर्मकाण्ड को मोक्ष प्राप्ति का साधन मानने पर आशंकाएँ व्यक्त की जाने लगीं। इस सन्दर्भ में उठने वाले प्रश्नों के परिणामस्वरूप सांसारिक बन्धनों से मुक्ति के लिए विवेक और वैराग्य को महत्त्व दिया जाने लगा।

आठवीं शताब्दी में शंकर ने शैव मठों की स्थापना की, जिनमें ज्ञान को सर्वोच्च मानते हुए कर्मकाण्ड को वर्जित कर दिया गया। बाद में रामानन्द एवं अन्य वैष्णव संतों ने ज्ञान की परम्परा में भक्ति-तत्त्व का समावेश कर दिया। सोलहवीं से उन्नीसवीं सदी के बीच संन्यासी परम्परा को विदेशी आक्रमणों और राजनैतिक उथल-पुथल के कारण अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। फिर बाद में पाश्चात्य सभ्यता के भौतिक प्रभाव के कारण देश का शिक्षित बौद्धिक वर्ग संन्यास परम्परा को प्रचीन प्रचलन मानने लगा।

उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी में रामकृष्ण परमहंस, स्वामी दयानन्द, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ, स्वामी शिवानन्द सरस्वती, परमहंस योगानन्द गिरि एवं स्वामी सत्यानन्द सरस्वती जैसे आध्यात्मिक ज्योति पुंजों के आगमन से लोगों के मन में संन्यास परम्परा के प्रति पुनः आदर और श्रद्धा का भाव जाग्रत हुआ। यद्यपि समाज, धर्म और राजनीति में होनेवाले परिवर्तनों को ध्यान में रखते हुए संन्यास की परम्पराओं और उसके मूल्यों में यथोचित रूपान्तरण किये गये, किन्तु संन्यास के मौलिक आदर्श वही हैं।

प्राचीन परम्पराओं की नवीन व्याख्या

संन्यास के तीन मूलभूत सिद्धान्त–यज्ञ, विरजा और परिव्रजन, संन्यासी की स्वयं अपने प्रति, समाज के प्रति और विश्व के प्रति प्रवृत्ति को चित्रित करते हैं।

यज्ञ–प्राचीन काल में ऋषि ब्रह्माण्ड के साथ एक सम्बन्ध बनाये रखने के लिए बलि का अनुष्ठान करते थे। आज सामाजिक और आर्थिक कारणों से इस प्रकार के अनुष्ठान नहीं किये जाते हैं। अब संन्यासी से यह अपेक्षा की जाती है कि बलि के लिए स्वयं को ही उत्सर्ग कर दे। उसका सम्पूर्ण जीवन ब्रह्माण्डीय स्तर पर कर्मकाण्ड बन जाता है। वैदिक काल में बाह्य स्तर पर जो प्रचलित बलियाँ होती थीं, वे गुह्य रूप में संन्यास जीवन की अभिन्न अंग बन गयीं। इसके लिए गुरु और संन्यास के नियमों के प्रति पूर्ण समर्पण की आवश्यकता होती है।

विरजा होम–ब्रह्माण्डीय बलि में दी जाने वाली आहुति को शुद्ध और कलुष रहित होना चाहिए। अत: स्वयं को आहूत करने के पूर्व संन्यासी को अपना शुद्धिकरण कर लेना चाहिए। त्याग के बिना शुद्धता प्राप्त करना सम्भव नहीं। संन्यास की आधारशिला सांसारिक बन्धनों के त्याग पर रखी जाती है। त्याग के प्रमाण के रूप में अभीप्सु को संन्यास में दीक्षित होने के पूर्व 'विरजा होम' मृत्यु सम्बन्धी एक सांकेतिक संस्कार करना पड़ता है। विरजा होम करने का अभिप्राय यह है कि अपने पूर्व जीवन (सांसारिक जीवन) में अभीप्सु मृत माना जाता है और संन्यास में उसका पुनर्जन्म होता है। अभिनव और शुद्ध होने के कारण वह ब्रह्माण्डीय आहुति के उपयुक्त हो जाता है और इस प्रकार वह त्याग और तप पूर्ण जीवन में प्रवेश के लिए तैयार हो जाता है।

परिव्रजन– परिव्रजन के द्वारा संन्यासी त्याग के आदर्शों का अभ्यास करता है, जिसके फलस्वरूप उसकी शुद्धता की भी जाँच हो जाती है। परिव्राजक संन्यासी को परिव्रजन के क्रम में अपने मनोभाव, क्रोध, भ्रान्ति, स्वत्वबोध, अहंकार एवं द्वैत भावना से मुक्त होने के अनेक अवसर मिलते हैं। आधुनिक युग में परिव्रजन करने वाले संन्यासी अपने गुरु के ज्ञान और उनके उद्देश्यों का निरन्तर प्रसार करते रहते हैं। इस प्रकार परिव्राजक संन्यासी जगह-जगह घूमकर समाज का उत्थान करते हैं। उन्हें अब भिखमंगा या जोंक कहकर हेय दृष्टि से नहीं देखा जाता, क्योंकि वे समाज को उसके उपयुक्त योगदान देने योग्य हो गये हैं। भीख के स्थान पर उन्हें भोजन और आश्रय मिलता है, उनके अगले गन्तव्य तक जाने के राह-खर्च के साथ गुरु दक्षिणा भी मिल जाती है।

संन्यास के प्रति आधुनिक दृष्टिकोण

बीसवीं शताब्दी में संन्यास जीवन की शैली में परिवर्तन आये। तकनीकी समाज की आधुनिकता को आध्यात्मिक अभीप्सा के द्वारा सन्तुलित रखने के लिए संन्यास की नई धारणा का विकास हो रहा है। उदाहरण के लिए आज के संन्यासी आध्यात्मिक ज्ञान से ही परिपूर्ण नहीं होते, बल्कि उनमें से अनेक तो दर्शन, साहित्य, विज्ञान एवं चिकित्सा के क्षेत्र में उपाधियों से विभूषित भी होते हैं। जबकि पहले अल्पवय के अशिक्षित संन्यासी गुरुकुल में रहते और बिना किसी उपयोगी कार्य के बाहर भटकते रहते थे। अब संन्यास में दीक्षित होने के पूर्व उन्हें अपनी शिक्षा पूरी करनी होती है। दीक्षा के बाद उनकी आध्यात्मिक शिक्षा प्रारम्भ होती है, अर्थात् आज के संन्यासी व्यावहारिक तथा आध्यात्मिक, सभी विषयों में शिक्षित होते हैं। इसलिए वे मिशन के रख-रखाव, प्रबन्धन और प्रचार करने में अधिक सक्षम होते हैं।

निष्क्रिय संन्यासियों का समय जा चुका है। ऐसे अभीप्सु जो काम करने को तैयार नहीं, योग्य नहीं या इच्छुक नहीं, उन्हें संन्यास ग्रहण करने योग्य नहीं माना जाता है। संन्यासियों से यह अपेक्षा की जाती है कि वे मिशन के लिए अनवरत कार्यरत रहें, गुरु की आज्ञा का निर्विवाद रूप से पालन करें और आश्रम के अन्दर तथा बाहर समान रूप से अनुशासित रहें। आज का समाज ऐसे संन्यासियों को सहारा नहीं देता है जो व्यर्थ घूमते हैं और समाज के लिए बिना कुछ उपयोगी कार्य किए भीख मांगते हैं। इस प्रकार व्यर्थ भटकने वाले संन्यासी समाज का नासूर बन कर विकार उत्पन्न करते हैं। न तो वे अपना विकास कर पाते हैं और न दूसरों के विकास में सहायता ही करते हैं। इसलिए, लोग उन्हें क्यों खिलायें? यही प्रश्न विभिन्न मिशनों के सन्दर्भ में उठता है। यदि वे समाज की उन्नति में सहायक नहीं और मानवों की वेदना दूर करने में सक्षम नहीं तो उन मिशनों का अस्तित्व ही व्यर्थ है। वे प्राचीन आदर्शों के मानदण्ड तक पहुँच नहीं पाते हैं, किन्तु उनके नाम पर अनुचित लाभ उठाते रहते हैं, इससे सामाजिक संरचना में विकृति आने लगती है।

इस विकृति को दूर करने और भारतीय संस्कृति में होने वाले कालगत परिवर्तन को ध्यान में रखते हुए संन्यास परम्परा के मूल्यों का पुनर्नवीनीकरण किया गया। इसके लिए इसमें 'कर्मयोग' अर्थात् नि:स्वार्थ सेवा के तत्त्व को समाविष्ट करना आवश्यक था। संन्यास की पारम्परिक और आधुनिक धारणा में यह मौलिक अन्तर है। वैदिक धर्म ने कर्म को हेय दृष्टि से देखा था, क्योंकि

मोक्ष प्राप्ति के लिए सर्वप्रथम कर्म का क्षय होना आवश्यक माना गया है। किन्तु सत्य यह है कि हर जीवित प्राणी के लिए कर्म अपरिहार्य है, तो क्यों न इसे आध्यात्मिकता प्रदान की जाये ताकि उन्नत जगत् की संरचना में सहायता मिले। कर्मयोग के द्वारा कर्म को उपासना-आराधना के समान स्थान प्राप्त हो जाता है। ऐसा माना जाता है कि कर्म के द्वारा संन्यासी के अन्दर की दैविक क्षमता प्रकट होती है। इससे संन्यासी की गरिमा में वृद्धि होती है और समाज के साथ उसका अच्छा सम्बन्ध बना रहता है। जो संन्यासी स्वाध्याय और ध्यान के साथ-साथ अपना समय उपयोगी कार्यों में व्यतीत करते हैं, वे ही दूसरों को भी प्रेरित और उन्नत करने में सक्षम होते हैं, अन्य नहीं।

उदार नीति

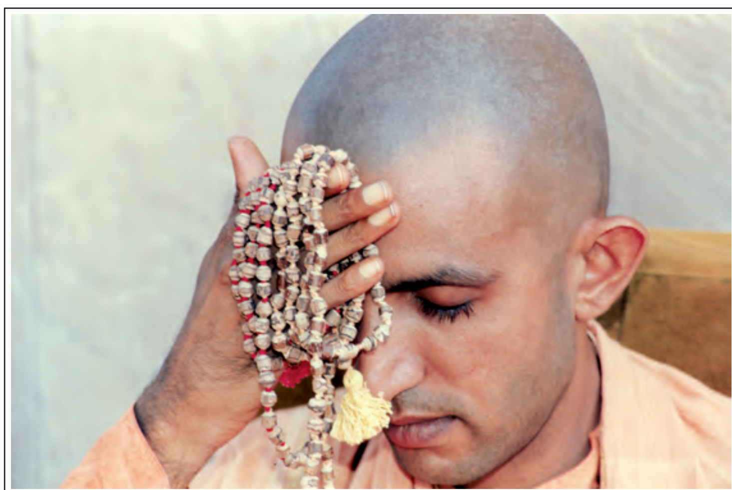
बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में परम्परावादी संन्यासियों और परिवर्तन का अनुमोदन करने वाले संन्यासियों के बीच मतभेद बढ़ गया था। अनेक संन्यासी इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि कुछ विचार और आचार-नियम आधुनिक युग के परिप्रेक्ष्य में सम्भव और व्यावहारिक नहीं हैं। इसके कुछ दृष्टान्त इस प्रकार हैं–

- संन्यासी को मोक्ष प्राप्ति के लिए कर्म का त्याग कर देना चाहिए।
- स्त्रियों के सम्पर्क से बचना चाहिए, यहाँ तक कि किसी स्त्री को देखना, उसके विषय में सोचना या उसकी चर्चा करना भी निषिद्ध है।
- संन्यास ग्रहण करने की पात्रता ब्राह्मणों तक ही सीमित है।
- स्त्रियों के लिए संन्यास ग्रहण करना वर्जित है।

हमलोगों के समय के अनेक प्रमुख संन्यासी पिछले कई दशकों से संन्यास को इस संकीर्ण दृष्टिकोण से मुक्त करने का प्रयास करते रहे हैं। उन्होंने सभी धर्म, जाति, पन्थ, राष्ट्रीयता या लिंग के लोगों के लिए संन्यास का मार्ग खोल दिया है। उन लोगों ने संन्यास को एक नया अर्थ देते हुए सम्पूर्ण विश्व में उसका प्रचार किया है। संन्यास की नवीन धारणा की रूप-रेखा निम्नलिखित है–

- संन्यास का उद्देश्य है स्वयं को उद्घाटित करना और अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व स्थापित करना।
- संन्यास एक जीवन शैली के रूप में मनुष्य के शारीरिक, भावनात्मक, मानसिक, आत्मिक एवं आध्यात्मिक पक्ष को उन्नत करता है।
- संन्यास किसी विशेष धार्मिक, सामाजिक या राजनैतिक संगठन से सम्बद्ध नहीं है।

- सभी कर्म-फलों का त्याग और अनवरत नि:स्वार्थ सेवा संन्यास जीवन में अन्तर्निहित है।
- संन्यास का अर्थ यह नहीं कि समाज के कल्याण के लिए बिना कुछ किये उससे अपनी देखभाल की अपेक्षा की जाये। ऐसा होने पर यह बेरोजगारों को दिये जाने वाले भत्ते के समान होगा।
- सेवा, ध्यान और अध्ययन के प्रति संन्यासी के समर्पण का भाव समाज के लिए आदर्श की स्थापना करता एवं प्रेरणा प्रदान करता है।
- विवेक एवं वैराग्य की सहायता से संन्यासी में आन्तरिक एवं बाह्य रूप से त्याग की भावना उत्पन्न होती है।
- रूढ़िवादी सिद्धान्तों को छोड़कर संन्यासी अपनी आत्मा से, जो दिव्य है, समस्वरता स्थापित करता है।
- जब संन्यासी के अन्दर दिव्यता आ जाती है तो वह दूसरों का कल्याण कर पाने में अधिक सक्षम हो जाता है।
- संन्यासी अपने जीवन के माध्यम से यह सिद्ध कर देता है कि धर्म केवल शब्द जाल में बँधा हुआ नहीं है, इसकी सार्थकता आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त करने और ईश्वर के साथ समागम में है।
- केवल वे संन्यासी, जिन्होंने आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त कर लिया है, दूसरों तक उसे सम्प्रेषित कर सकते हैं। वे ही दीप-स्तम्भ की भाँति दूसरों के मार्ग प्रकाशित करते हैं।



संन्यास के लिए सुपात्र कौन?

सही अर्थों में संन्यासी वही है जिसने अपना सम्पूर्ण जीवन और अपनी सभी क्षमताओं को सर्वोच्च चेतना, दिव्यता या ईश्वर के प्रति समर्पित कर दिया है, त्याग दिया है। संन्यासी का जीवन, उसके विचार और उसकी प्रवृत्ति–सभी एक ऐसे उच्चतर आयाम पर कार्यरत होते हैं जिनका संचालन 'मेरी इच्छा' से नहीं, बल्कि 'उनकी इच्छा' से होता है। जो स्वतन्त्रता वह प्राप्त करता है, वह उसकी हीन मानसिकता और अहंकार की स्वतन्त्रता नहीं होती, बल्कि वह अपनी निम्नतर मानसिकता की नकारात्मक और बाधक प्रवृत्तियों से विमुक्त होता है, अपनी उच्चतर मानसिकता के साथ समस्वर होने पर संन्यासी अपना खोया हुआ सामंजस्य, बुद्धि-विवेक और नैसर्गिकता पुन: प्राप्त कर लेता है। साथ-ही उसमें अपने आस-पास के वातावरण और अन्य लोगों के साथ समस्वरता स्थापित हो जाती है।

इन्हीं कारणों से सम्पूर्ण विश्व के लोगों के अन्दर संन्यास के प्रति आकर्षण बढ़ता जा रहा है। हालाँकि संन्यास-मार्ग का चुनाव करने के पूर्व अपनी उन प्रेरणाओं का सावधानीपूर्वक परीक्षण कर लेना अनिवार्य है जिनके कारण यह मार्ग चुना जा रहा है, क्योंकि संन्यास ऐसे लोगों के लिए उपयुक्त नहीं जो वस्तुत: जीवन से केवल पलायन करना चाहते हैं। संन्यास पलायन करने का एक रास्ता नहीं और न ही यह शान्ति का ऐसा साम्राज्य है जहाँ केवल ध्यान और आत्मज्ञान है। संन्यासियों का जीवन किसी भी सामान्य व्यक्ति की तरह होता है, किन्तु उनमें अन्तर यह होता है कि वे अधिक जागरूक, अधिक सक्रिय, अधिक सचेत होते हैं। यथार्थत: वे जीवन में उपस्थित होने वाली सभी परिस्थितियों का उपयोग अपनी जागरूकता को अधिक प्रखर बनाने तथा अपने अन्दर विवेक एवं वैराग्य उत्पन्न करने में करते हैं।

अतीत में संन्यास क्यों अपनाया गया

तकनीकि संस्कृति के आगमन के पूर्व जन्म-मरण के चक्र से मुक्त होने के लिए संन्यास ग्रहण किया जाता था। सांसारिक सुखों के प्रति वैराग्य की भावना संन्यास की ओर प्रवृत्त करती थी। शास्त्रों के अध्ययन से उत्पन्न विवेक या सांसारिक बन्धनों एवं इच्छाओं की व्यर्थता का अनुभव भी संन्यास की प्रेरणा देता था।

इसके अतिरिक्त आश्रम व्यवस्था का अनुपालन करने वाले लोग जीवन की अंतिम अवस्था में संन्यास आश्रम में प्रवेश करते थे। इस अवस्था में संन्यास की भावना एक क्रमिक परिवर्तन के रूप में आ जाती है, भले ही विवेक और वैराग्य उत्पन्न हुए हों या नहीं।

संन्यास ग्रहण करने के लिए वे समाज और संसार की भौतिकता का त्याग कर देते थे। वे ब्रह्मचर्य और निर्धनता का व्रत लेते थे, एक साधारण धोती या कौपीन धारण करते थे और परिव्राजक की भाँति रहते थे। संन्यासी गाँव और शहरों से दूर ही रहते थे तथा गृहस्थों से मिलने वाली भिक्षा पर जीवन निर्वाह करते थे। वे अल्पाहारी होते थे, न तो उनकी कोई शारीरिक आवश्यकता होती थी और न वे उन पर ध्यान ही देते थे। उनका उद्देश्य होता था– ब्रह्म, चेतना की सर्वोच्च अवस्था को प्राप्त करना और स्वयं को उसी अवस्था में स्थित रखना।

संन्यासी धीरे-धीरे तप और ध्यान के द्वारा अपने अहं का विलोप कर देते थे, जिससे उनकी चेतना ब्रह्माण्डीय चेतना में विलीन हो जाती थी। इस तरह कुछ संन्यासी तो विकास की पराकाष्ठा तक पहुँच जाते थे, जबकि कुछ मोक्ष-प्राप्ति के विश्वास के साथ संन्यास के सामान्य पथ पर ही रहते थे। प्राचीन समय के संन्यासियों का जीवन चूँकि उनके आदर्शों पर ही आधारित रहता था, इसलिए लोग उन पर श्रद्धा रखते थे, उन्हें सम्मान देते थे। संन्यासियों को सांसारिक वस्तुओं की इच्छा नहीं होती थी, वे अपने आध्यात्मिक जीवन की बहुमूल्य निधि को लोगों में वितरित करते और पीड़ितों की वेदना कम करते थे।

संन्यास आज क्यों

परम्परा के अनुसार परिपक्व उम्र में संन्यास ग्रहण किया जाता था– अपनी सारी अभिलाषाओं और महात्त्वाकांक्षाओं को तृप्त कर लेने और शरीर एवं मन पर नियन्त्रण स्थापित कर लेने के बाद। अल्पावस्था में संन्यास ग्रहण

करने वाले नगण्य होते थे और वे भी अपने गुरुजनों की भाँति अपने अन्दर विवेक एवं वैराग्य को स्थिर करते थे। आज सभी उम्र के, विभिन्न पृष्ठभूमि के तथा जीवन के विभिन्न क्षेत्रों के लोग अपनी आध्यात्मिक चेतना का विकास करने के लिए संन्यास मार्ग की ओर प्रवृत्त हो रहे हैं। वे ऐसे सारे अनुभव प्राप्त करने की आकांक्षा रखते हैं जो उन्हें समाज में रहकर प्राप्त नहीं हो सकते।

आज बहुत से लोग अपने अस्तित्व का ठोस आधार नहीं ढूँढ़ पाने के कारण कुण्ठा और अपरिपूर्णता का अनुभव करते हैं। काम-वासनाओं के प्रति आसक्ति और आत्म-निग्रह – ये अनुभूतियों की ऐसी दो चरम सीमाएँ हैं जो समान रूप से व्यर्थ प्रतीत होती हैं। फिर भी व्यक्ति यह समझता है कि जीवन में कुछ और भी अधिक अर्थपूर्ण है जिसके लिए जीया जाये, जिसे ढूँढ़ा जाए। वह यह भी समझता है कि उसका जीवन बहुमूल्य है, उसकी जागरूकता अद्‌भुत है। फिर भी यह नहीं जानता कि उसे कैसे विकास करना है, कैसे प्रगति करनी है। अधिकतर लोग कुछ अवस्थाओं में स्वयं को अपनी आन्तरिक स्थिति का आत्म-परीक्षण करता हुआ पाते हैं, किन्तु कुछ लोगों के लिए अन्तर की पुकार इतनी तीव्र होती है कि उसे शान्त करना कठिन होता है।

ऐसे लोगों के लिए संन्यास ही जीवन का वह मार्ग है जिस पर चल कर वे अपनी सृजनात्मक क्षमता का अन्वेषण कर पाते हैं और सामूहिक रूप से मानव चेतना के सकारात्मक विकास में अपना योगदान दे सकते हैं। संन्यास ही वह जीवन-शैली है जो उच्चतर आत्मज्ञान और आध्यात्मिक उपलब्धियों का मार्ग प्रशस्त करती है। यह विश्व के उन सभी लोगों के लिए जागृति का पथ है जो यह समझते हैं कि उन्हें कुछ अधिक देना है, कुछ अधिक सीखना है और कुछ अधिक प्राप्त करना है, जबकि अधिकतर लोगों को उस पथ के आगे सब कुछ सामान्य-सा प्रतीत होता है।

संन्यास में प्रवेश करने की आकांक्षा तब जाग्रत होती है जब मनुष्य अपनी सीमाओं से ऊपर उठकर अपने जीवन में कुछ अधिक अर्थपूर्ण करना चाहता है। आज अनेक बुद्धिमान्, विचारवान् व्यक्ति असमंजस में पड़े यह सोच रहे हैं कि अपने जीवन में परिवर्तन कैसे लाया जाये। वे उस प्रकार जीवन यापन नहीं करना चाहते जैसे उनके माता-पिता ने किया, वे कुछ सर्वथा भिन्न चाहते हैं। वे विश्वविद्यालयों में ज्ञान की खोज कर रहे हैं या अपने घर-द्वार छोड़ कर देश-विदेश घूम-घूम कर कुछ ऐसा ढूँढ़ रहे हैं जो जीवन को अधिक अर्थपूर्ण और उद्‌देश्यपूर्ण बनाये।

इस प्रकार के अन्वेषकों को अन्ततः यह बोध होता है कि कुछ उपयोगी, शाश्वत और कुछ ऐसा जो अपने साथ दूसरों के लिए भी अतुलनीय रूप से लाभकारी हो, उपलब्ध करने के लिए अपनी अन्तरात्मा में झांकने की आवश्यकता है। आत्मोन्नति बाहर से नहीं लाई जा सकती, इसके लिए आत्मान्वेषण करना होगा। जब व्यक्ति को इस बात का ज्ञान हो जाता है और वह अपने को आन्तरिक खोज के प्रति पूरी तरह समर्पित अनुभव करता है तभी उसके लिए संन्यास के मार्ग को अपनाना सम्भव होता है।

संन्यास के विभिन्न स्तर

आधुनिक समाज में जीवन अत्यन्त जटिल हो गया है। साथ-ही राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक मूल्यों में इतने भीषण परिवर्तन आये हैं कि मनुष्य अपनी महत्त्वाकांक्षाओं के विषय में स्वयं भ्रमित-सा हो गया है। जन्म-मृत्यु के चक्र में फँसे हुए मनुष्य को मोक्ष-प्राप्ति का आदर्श दूरस्थ लक्ष्य के समान प्रतीत होता है। सर्वप्रथम लोग जीवन में शान्ति और समस्वरता चाहते हैं। वे अपनी आध्यात्मिक क्षमता और जागरूकता का विकास कर अपने जीवन को एक उत्कृष्ट स्वरूप देना चाहते हैं।

आध्यात्मिक अन्वेषक अपने आन्तरिक विकास के आधार पर अपनी आकांक्षाओं के अनुसार संन्यास की अवस्था का चुनाव कर सकते हैं। इन विचारों को ध्यान में रखते हुए श्रीपंच दशनाम परमहंस अलखबाड़ा के द्वारा संन्यास की विभिन्न अवस्थाओं का एक विशेष स्वरूप तैयार कर उसका प्रचार भी किया गया है। आज के आध्यात्मिक अभीप्सुओं की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उसकी रूप-रेखा निम्नलिखित है–

1. *जिज्ञासु संन्यास*– ऐसे युवा जो आध्यात्मिक मार्ग पर चल कर अपने जीवन को अधिक सामन्जस्यपूर्ण बनाना चाहते हैं, वे जिज्ञासु संन्यास ग्रहण कर सकते हैं। यह संन्यास की प्रारम्भिक अवस्था है। ये जिज्ञासु अच्छा नागरिक बन कर मानवता की सेवा करने के लिए प्रतिबद्ध होते हैं।

2. *कर्म संन्यास*– ऐसे अनेक व्यक्ति होते हैं जिनमें आध्यात्मिक पथ पर चलने की प्रबल प्रवृत्ति होती है और उनमें अध्यात्म में संलग्न होने की उत्कट इच्छा भी होती है। किन्तु साथ-ही वे आर्थिक एवं अन्य कारणों से अपने परिवार एवं समाज से भी जुड़े रहते हैं। ऐसी प्रवृत्ति के कारण कभी-कभी द्वन्द्व उत्पन्न हो जाता है, क्योंकि वे अपने पारिवारिक और आध्यात्मिक जीवन में

संतुलन कायम नहीं रख पाते हैं। ऐसे लोगों के लिए कर्म संन्यास ग्रहण करना उनके आध्यात्मिक जीवन का एक महत्त्वपूर्ण कदम होता है। यह उनके जीवन को अत्यधिक उद्देश्यपूर्ण बना देता है और वे परिवार, समाज एवं राष्ट्र के उत्थान के एक माध्यम बन जाते हैं।

3. *गुरुकुल संन्यास*– जब कोई अभीप्सु आश्रम में आता है और गुरु से मिलता है तो प्राय: उसकी भावनाओं में उथल-पुथल मच जाती है। गुरु के संसर्ग में रहने की इच्छा इतनी प्रबल होती है कि वह संन्यास ले लेता है। आश्रम में गुरु के निकट रहकर उनकी एकनिष्ठ सेवा करता है। हालाँकि इनमें से कुछ अभीप्सु ऐसे हैं जो सांसारिक बन्धनों का त्याग नहीं कर सकते। इसलिए वे अस्थायी संन्यास लेकर बीच-बीच में आश्रम-जीवन व्यतीत करते हैं।

4. *ज्ञान-वैराग्य या ऋषि संन्यास*– कुछ ऐसे व्यक्ति भी होते हैं जो अपने ज्ञान और अनुभव के द्वारा सांसारिक जीवन की व्यर्थता को समझ गये हैं। संसार की सामान्य भौतिकताएँ उसे आकृष्ट नहीं कर पातीं। उसे नाम, यश, धन या सत्ता में भी कोई रुचि नहीं रहती। यद्यपि वह समाज से दूर एकान्त में रहना चाहता है, फिर भी वह समाज से सम्बन्ध बनाये रखता है और आवश्यकता पड़ने पर सामाजिक उत्सवों या क्रियाकलापों में भी भाग लेता है। ऐसे लोग देहातों में, पहाड़ों पर या समुद्र के किनारे रहते हैं। वह अकेला भी रह सकता है और अपने परिवार के साथ भी। दोनों ही स्थितियों में वह अपनी साधना और स्वाध्याय में संलग्न रहता है। वह एक योग-शिक्षक, उपदेशक या आध्यात्मिक पुस्तकों का रचयिता भी हो सकता है। इस प्रकार के लोग ज्ञान वैराग्य या ऋषि संन्यास के उपयुक्त हैं।

5. *वैराग्य संन्यास*– बहुत कम लोग ऐसे होते हैं जो जन्म से ही सांसारिक सुखों के प्रति उदासीन होते हैं। अल्पावस्था से ही उन्हें संसार से विरक्ति होती है। पूर्व जन्मों के कर्मों के कारण वे स्वभाव से ही विरक्त होते हैं। समाज में रहते हुए उन्हें जल से बाहर निकाली हुई मछली समान छटपटाहट का अनुभव होता है। ये लोग सरलता से सांसारिक जीवन का त्याग कर वैराग्य या पूर्ण संन्यास ग्रहण कर लेते हैं। उनका जीवन सम्पूर्ण त्याग और समर्पण का होता है। उनकी प्रतिबद्धता अटल और जीवन पर्यन्त होती है। वैराग्य संन्यासी अपने गुरु की शिक्षा और मिशन का प्रचार करने के साथ-साथ अपनी साधना और स्वाध्याय में भी लगे रहते हैं।

6. *परमहंस संन्यास*– अपने गुरु के निर्देशों के अनुसार अपने मिशन के सभी कार्य समाप्त करने के बाद कुछ वैराग्य संन्यासी परमहंस संन्यास ग्रहण करने योग्य हो जाते हैं। ये संन्यासी अलखबाड़ा में रहकर अपने जीवन का उत्तरार्द्ध व्यतीत करते हैं, जहाँ उनका पूरा समय साधना के लिए समर्पित रहता है। इस प्रकार वे मोक्ष प्राप्ति के परम लक्ष्य पर पहुँच जाते हैं।

7. *पाखण्ड संन्यास*– संन्यास की पूर्वोक्त छ: अवस्थाओं में आध्यात्मिकता उत्तरोत्तर अवतरित होती हुई परिलक्षित होती है। संन्यास की एक अन्य श्रेणी भी है, जिसमें आध्यात्मिकता विवेचनीय नहीं होती। किसी निकट सम्बन्धी की मृत्यु, व्यापार में विफलता या दिवालियापन, प्रेम में विफलता, पारिवारिक कलह, बेरोजगारी, इसके अतिरिक्त घर-सम्पत्ति के हाथ से निकल जाने पर या नष्ट हो जाने पर कुछ लोगों का मोह भंग हो जाता है। ऐसे लोग इन कारणों से त्रस्त होकर सरल जीवन व्यतीत करने के लिए संन्यास ग्रहण कर लेते हैं। कभी-कभी बदनाम व्यक्ति भी कानून से बचने के लिए गेरू कपड़े पहन कर संन्यासियों की तरह इधर-उधर घूमने लगते हैं। इन पाखण्डी संन्यासियों ने संन्यास परम्परा को, जिसे पहले अत्यन्त प्रतिष्ठित माना जाता था, बहुत क्षति पहुँचाई।

गेरू वस्त्र धारण करने के पूर्व यह बात समझ लेनी चाहिए कि यह सर्वोच्च आकांक्षा– गुरु के मिशन के प्रति त्याग और पूर्ण समर्पण– का प्रतिनिधित्व करता है। यह उन साधकों का पारम्परिक वस्त्र है जो चेतना के विकास के माध्यम से मानवता के उत्थान का प्रयास कर रहे हैं। मूलत: गेरू वस्त्र उस आन्तरिक प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व करता है जो व्यक्ति को सांसारिक मूल्यों के प्रति निर्लिप्त रखती है, और उच्चतम आध्यात्मिक मूल्यों के प्रति जागरूकता प्रदान करता है। यदि एक संन्यासी संन्यास परम्परा के आदर्शों का अनुपालन करने में सक्षम नहीं या उसमें ऐसा करने की इच्छा नहीं तो उसे गेरू वस्त्रों का त्याग कर सामान्य वस्त्र पहन लेना चाहिए।

क्या आप संन्यास के लिए तैयार हैं?

आप संन्यास ग्रहण करने के योग्य हैं या नहीं, इसका निर्णय गुरु को करना चाहिए। वे आपके व्यक्तित्व और आध्यात्मिक स्तर को पहचान लेते हैं, आपके सांसारिक बन्धनों की गहराई की थाह ले सकते हैं। एक सच्चे गुरु आपके अतीत, वर्तमान और भविष्य के कर्मों को जानते हैं।

इसके आधार पर वे यह निश्चित कर सकते हैं कि आप कब संन्यास की कौन-सी श्रेणी में प्रवेश करने योग्य हैं। उदाहरणार्थ, यदि आप एक विद्यार्थी हैं या अविवाहित हैं और स्वयं को जीवन में स्थिर करने का प्रयास कर रहे हैं तो वे आपको जिज्ञासु संन्यास दीक्षा दे सकते हैं। यदि आप विवाहित हैं और गुरु पाते हैं कि आपके जीवन में आध्यात्मिक अभीप्सा और सांसारिक उत्तरदायित्वों के बीच द्वन्द्व चल रहा है, तो वे आपको कर्म संन्यास की दीक्षा दे सकते हैं। इसी प्रकार वे अपने ढंग से आपकी क्षमताओं का आकलन कर यह निश्चित करते हैं कि आप संन्यास की कौन-सी श्रेणी के उपयुक्त हैं।

संन्यास ग्रहण करने की अन्त:प्रेरणा की तर्कयुक्त व्याख्या नहीं की जा सकती। इसलिए गुरु के पास जाकर उनसे संन्यास की दीक्षा की याचना करने के पूर्व यह बुद्धिमानी और विवेकपूर्ण प्रक्रिया होगी यदि आप स्वयं को निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर दें–

- क्या संन्यास ग्रहण करने का निर्णय स्वाभाविक रूप से स्वत: लिया गया है? यह ऊपर से थोपा नहीं जाना चाहिए।
- क्या आप अपनी दुर्बलताओं को पहचान कर उन्हें स्वीकार कर सकते हैं? आत्म-स्वीकृति संन्यास का पहला कदम है।
- क्या आप एक जीवन्त व्यक्ति हैं? अध्यात्म का सम्बन्ध आत्मा से होता है। संन्यास के लिए ऐसे व्यक्ति की आवश्यकता होती है जो जीवन्त हो, जिसमें ओजस्विता हो। संन्यास जीवन में वही सफल हो सकता है जो साहस के साथ बन्धनों को तोड़ सकता है।
- क्या आप बिना किसी पर आश्रित हुए रह सकते हैं? संन्यास का अर्थ है एकान्तवास।
- क्या आप प्रसन्नतापूर्वक कठिनाइयाँ झेल सकते हैं? संन्यास जीवन कठिन, थकानपूर्ण और असुविधाजनक हो सकता है।
- क्या आप यह स्वीकार करते हैं कि संन्यास रूढ़ियों और विश्वासों से परे है? संन्यासियों की न तो कोई धर्मनिरपेक्ष प्रतिबद्धता होती है और न ही वे किन्हीं धार्मिक उपदेशों का अनुपालन करते हैं।
- क्या आप अपने पुराने परिचय और सम्बन्धों का त्याग कर नया जीवन प्रारम्भ कर सकते हैं? संन्यास का अर्थ होता है पुनर्जन्म, इसके बाद जीवन अधिक अध्यात्मोन्मुख हो जाता है।

- क्या आप अपनी क्षमताओं के साथ नि:स्वार्थ सेवा और कठिन कार्य करने के लिए तैयार हैं? आज के संन्यासियों के लिए यह आधारभूत आवश्यकता है, इसके बिना आध्यात्मिक पथ पर प्रगति धीमी हो जाती है।
- क्या आप बिना किसी लाभ या पुरस्कार की अपेक्षा किये गुरु के मिशन को कार्यान्वित करने में संलग्न हो सकते हैं? यह गुरु की कृपा प्राप्त करने का सबसे आसान साधन है।
- क्या आप ईश्वर और संसार में से किसी एक का चुनाव कर सकते हैं? संन्यास में अधूरेपन से काम नहीं चलता है।
- क्या आप ख्याति प्राप्त करने या जीविकोपार्जन, सामाजिक या पारिवारिक समस्याओं से बचने के लिए संन्यास ग्रहण करना चाहते हैं? यदि आप उपर्युक्त कारण से संन्यास लेना चाहते हैं तो ऐसा नहीं करें, क्योंकि तब आप पूरी तरह विफल होंगे और साथ ही दु:खी भी।
- क्या आप आचारसंहिता को स्वीकार कर संन्यास की उस श्रेणी के प्रति समर्पित हो सकेंगे जिसकी दीक्षा गुरु आपको देंगे? परम्परा के उच्च स्तर को बनाये रखने के लिए आपको अनिवार्यत: उन नियमों का पालन करना होगा।

सारांश

आपका हृदय आपको बतायेगा कि संन्यास ग्रहण करने के लिए कौन-सा समय उपयुक्त है। जब आप सचमुच तैयार होंगे तो वर्तमान जीवन के प्रति आप एक तीखे असंतोष का अनुभव करेंगे, और तब आप सामाजिक शिष्टाचार और सतहीपन से परे जीवन को गहराई में ढूँढ़ना प्रारम्भ कर देंगे। साथ-ही अपने गुरु के मिलने पर ही संन्यास लेना उचित होगा। बिना गुरु के संन्यास के किसी सम्प्रदाय में औपचारिक दीक्षा नहीं ली जा सकती है। जब आप अपने गुरु से मिलेंगे तो उनके प्रति समर्पण की भावना आपको अभिभूत कर देगी। जब आप संन्यास के लिए तैयार होंगे तो आपको आपके गुरु मिल जायेंगे, भले ही आप चाहें या न चाहें।

आचार संहिता

बिहार योग विद्यालय परम्परा के संन्यासियों के लिए

आचार संहिता व्यवहार को सुव्यवस्थित करने में सहायक होती है और संन्यास जीवन को सुगम्य बनाने वाले गुणों को उत्पन्न करती है। संन्यासियों के दैनिक जीवन में उनसे जो अपेक्षा रखी जाती है, उसके प्रति उन्हें जागरूक बनाने के लिए इन नियमों का प्रतिपादन किया गया है। सभी संन्यासियों को इस आचार संहिता का ईमानदारी और सच्चे संकल्प के साथ पालन करना चाहिए। संन्यास एक गौरवपूर्ण, उत्कृष्ट और प्रेरणाप्रद जीवन-शैली है। यदि संन्यासी इसका सम्मान नहीं करेंगे और इसे गंभीरता से नहीं लेंगे तो संन्यास की परम्परा और सम्प्रदाय का पतन होगा। गेरू वस्त्र जिन महान् आदर्शों का प्रतिनिधित्व करता है, उन्हें किसी भी दुराचरण के द्वारा कलंकित होने से बचाना होगा।

एक बार किसी ने स्वामी सत्यानन्द सरस्वती से पूछा कि संन्यासी को कैसे रहना चाहिए, तो उनका उत्तर था – संन्यास की जीवन शैली को समझने के लिए किसी गृहिणी को चावल पकाते हुए देखें। चावल पकाने के पहले वह कंकड़-पत्थरों को चुन-चुन कर निकाल बाहर करती है। इसी प्रकार तुम भी अपने व्यक्तित्व की दुर्बलताओं और दुर्गुणों को, जो तुम्हारे आध्यात्मिक विकास में बाधक हैं, एक-एक कर दूर करो। इसके बाद गृहिणी चावल को फटक-फटक कर उसकी धूल, भूसी और तिनकों को अलग करती है। तुम्हें भी इसी प्रकार स्वयं को अनुशासित कर अपने अन्दर की सूक्ष्म बाधाओं को बाहर निकाल देना चाहिए। सबसे पहले अपने चरित्र की प्रमुख दुर्बलताओं और दुर्गुणों – जैसे, ईर्ष्या, क्रोध, घृणा, आसक्ति, धैर्यहीनता इत्यादि को ढूँढ़ कर उनका विश्लेषण करो, अनुशासित जीवन के द्वारा उनको नियंत्रित करने का प्रयास करो। धीरे-

धीरे बुरे विचार, बुरी वाणी और बुरे व्यवहारों का स्थान सद्विचार और सदाचरण ले लेंगे। ये तुम्हें मानसिक संतुलन, धैर्य और एक लक्ष्य निर्धारण में सहायता करेंगे, जो आध्यात्मिक प्रगति के लिए नितान्त आवश्यक है।

आचार संहिता की रूप-रेखा इस प्रकार बनाई गयी है, जो सभी श्रेणियों के संन्यासियों के लिए समान रूप से सहायक होगी। मन को अनुशासित और शुद्ध करने के लिए नियमित जीवन-शैली होनी चाहिए। ऐसी गतिविधियाँ और आचरण जो मन को शान्ति देते और चेतना को जाग्रत रखते हैं, उन्हें अंगीकृत करना चाहिए तथा ऐसी गतिविधियाँ त्याग देनी चाहिए जो मन को अशान्त करती एवं चेतना को निम्नगामी बनाती हैं।

आश्रम-जीवन और पारिवारिक-जीवन के लिए अलग-अलग आचार संहिताएँ प्रतिपादित की गयी हैं, जिनके द्वारा वस्त्र, कर्म-योग एवं साधना के विषयों में निर्देश दिये गये हैं। हो सकता है प्रारम्भ में सभी नियमों का पालन कर पाना सम्भव नहीं हो, किन्तु जैसे-जैसे वैराग्य एवं विरक्ति का विकास होगा, यह आसान होता जायेगा। यदि आप अपने प्रयासों के प्रति ईमानदार और कृतसंकल्प हैं तो आपको लक्ष्य की प्राप्ति अवश्य होगी।

जिज्ञासु संन्यासियों के लिए आचार संहिता

घर में

दैनिक चर्या– जल्दी सोने जायें और सुबह जल्दी उठें ताकि आप अपनी साधना ब्रह्ममुहूर्त (प्रात: 4 से 6 बजे) में कर सकें। इस समय वातावरण शान्त और नीरव रहता है, जो योग के अभ्यास के अनुकूल है। ठण्ढे जल से स्नान कर आसन, प्राणायाम और साधना का अभ्यास करें। इसके अतिरिक्त दीपक या मोमबत्ती जलाकर *सौन्दर्यलहरी, गुरु-स्तोत्रम् एवं सिद्ध प्रार्थना* के चुने हुए भजनों को सुबह-शाम अपने परिजनों के साथ बैठ कर गायें। प्रतिदिन एक निश्चित समय में मौन का अभ्यास करें।

वस्त्र– सामाजिक औपचारिकता के लिए एवं अपने काम पर जाने के लिए सामान्य वस्त्र पहने। साधना एवं अनुष्ठान में और समाज में जब कर्मयोग करें तो पीली धोती-कुरता पहने और उत्तरीय रख लें। कपाल पर भस्म से क्षैतिज रेखा खींच लें। यह ब्रह्मचर्य के सतोगुण का द्योतक है (साहस और जागरूकता का संरक्षण)।

आचरण– अपने सभी काम पूरे मन से करें और निम्नलिखित बिन्दुओं पर ध्यान दें :

- यदि आप विद्यार्थी हैं तो अपने अध्ययन के प्रति समर्पित रहें।
- यदि आप किसी नौकरी में हैं तो एक कर्मयोगी की भावना के साथ पूरी कुशलता से अपना काम करें।
- मन, वचन या कर्म से भी किसी दूसरे को व्यथित या पीड़ित नहीं करें।
- किसी मादक पदार्थ का प्रयोग न करें।
- स्वयं को स्पष्टवादिता और ईमानदारी के साथ अभिव्यक्त करें।
- दुर्व्यवहार या अपशब्द का प्रयोग होने पर स्वयं को नियन्त्रित रखें और ऐसी स्थिति में आत्म-नियन्त्रण की आदत डालें।
- बिना दूसरों को कष्ट पहुँचाए सत्यनिष्ठा का पालन करें।
- सफलता आने पर भी सरल एवं विनम्र बने रहें।
- प्रलोभनों से बचें और आने वाले अवसरों का लाभ उठायें।
- श्रमसाध्य और कठिन काम भी दृढ़ता और लगन से करें।
- जब समय प्रतिकूल हो तो धैर्य धारण करें।
- अपने माता-पिता, परिवार और मित्रों की आवश्यकताओं का ध्यान रखें।

स्वाध्याय– आध्यात्मिक प्रगति के लिए स्वाध्याय आवश्यक है। एक आध्यात्मिक डायरी बनायें और निश्चित अन्तराल पर परिणामों का अध्ययन करें। अपना ज्ञानवर्द्धन करने के लिए आध्यात्मिक पुस्तकें पढ़ें। *बृहदारण्यक उपनिषद्* का गहन अध्ययन करें, क्योंकि 'सरस्वती' सम्प्रदाय के सभी संन्यासियों के लिए इसका अनुमोदन किया गया है।

कर्मयोग– निःस्वार्थ सेवा आपकी साधना का अभिन्न अंग है। प्रतिदिन या प्रति सप्ताह आप इसके लिए कितना समय निकाल सकते हैं, इसका आकलन कर लें। अपनी अभिरुचि और क्षमता के अनुरूप आप किसी भी प्रकार के काम का चयन कर सकते हैं। इनमें से कुछ ये हैं–योग शिक्षण, योग सम्मेलन, संगोष्ठी एवं शिविरों के आयोजन में सहायता, आध्यात्मिक विषयों पर पुस्तकें और रचनाएँ लिखना, पुस्तकों का प्रादेशिक भाषाओं में अनुवाद करना। विभिन्न प्रकार की समाज सेवा भी कर सकते हैं। उदाहरणार्थ, अपने क्षेत्र में वयस्क शिक्षा के कार्यक्रम में मदद कर सकते हैं। आप अस्पतालों में भी सेवा-कार्य कर सकते हैं और रोगियों को योग के

कुछ मौलिक आसन, श्वसन एवं शिथिलीकरण की प्रक्रियायें सिखा सकते हैं। वृद्धों और नि:सहायों की भी मदद कर सकते हैं। आप स्वयंसेवक की हैसियत से बाढ़, अकाल, भूकम्प, आग जैसी प्राकृतिक विपदाओं के समय भी सहायता कार्य कर सकते हैं। जब आप समाज-सेवा कर रहें हो तो ऐसा नहीं सोचें कि आप कर्ता हैं, बल्कि अपने आपको गुरु या ईश्वर के एक साधन के रूप में देखें।

आश्रम में

दैनिक चर्या– आश्रम की सभी गतिविधियों में भाग लेना एवं कर्मयोग के रूप में जो काम आपके जिम्मे दिया गया है उसे पूरा करना नितान्त अनिवार्य है। आश्रम सम्बन्धी अनुशासन, सफाई, भवन एवं मैदानों के रख-रखाव के जिन नियमों का प्रतिपादन किया गया है, उनका यथातथ्य पालन होना चाहिए।

साधना– प्रतिदिन प्रात: एवं संध्या के समय गायत्री मंत्र एवं गुरु द्वारा दिये गये मंत्र का अभ्यास करें। आचार्य के निर्देशानुसार आसन, प्राणायाम एवं ध्यान का अभ्यास करें।

वस्त्र– हमेशा पीला धोती-कुर्त्ता पहने रहें और उत्तरीय साथ रखें। यदि आप यज्ञोपवीत धारण करते हैं तो उसे धारण किये हुए रह सकते हैं। सिर, दाढ़ी-मूँछ मुड़ाना है, शिखा रख सकते हैं। भस्म की एक क्षैतिज रेखा कपाल पर लगायें।

आचरण– प्रत्येक गतिविधि और कर्तव्य के प्रति जागरूकता उत्पन्न करें और निम्नलिखित बिन्दुओं पर ध्यान दें :

- छेड़े जाने पर भी क्रुद्ध होने से बचें।
- शारीरिक कष्टों को धैर्य के साथ सहन करें। डॉक्टरी चिकित्सा की माँग तब तक न करें जब तक यह अपरिहार्य न हो जाये।
- आश्रम में जो भोजन दिया जाता है, उसे प्रसाद के रूप में ग्रहण करें।
- आश्रम का भोजन साधना के उपयुक्त होता है। पाँच सितारा होटल के समान भोजन की अपेक्षा नहीं रखें।
- आश्रम-निवासियों की नकल नहीं करें।
- अपना समय व्यर्थ की बातों में नहीं गँवायें।
- प्रत्येक वर्ष कम-से-कम पन्द्रह दिनों तक आश्रम में रहने का प्रयास करें।

कर्म संन्यासियों के लिए आचार संहिता

घर में

दैनिक चर्या–प्रात: चार बजे ब्रह्ममुहूर्त में, जब वातावरण सतोगुण से परिपूर्ण रहता है, साधना का अभ्यास करें। ठण्ढे जल से स्नान करने के बाद कर्म संन्यास की दीक्षा के समय दिये गये कार्यक्रम का अभ्यास करें। सुबह-शाम पूजा-स्थल पर एक दीप या मोमबत्ती जलाकर अपने परिवार के साथ बैठकर सौन्दर्यलहरी, गुरु स्तोत्रम्, भज गोविन्दम् तथा सिद्ध प्रार्थना के चुने हुए भजनों को गायें। प्रतिदिन एक निश्चित समय के लिए मौन का अभ्यास करें।

वस्त्र–सामाजिक औपचारिकता तथा अपने काम पर जाने के लिए सामान्य वस्त्र पहने। साधना, अनुष्ठान और कर्मयोग के समय गेरू धोती-कुरता-चादर, रुद्राक्ष की माला पहनें। कपाल पर भस्म की दो क्षैतिज रेखायें बनायें, जो ब्रह्मचर्य के सतोगुण और कर्म संन्यास के रजोगुण की द्योतक हैं।

आचरण–कर्मयोगी के दृष्टिकोण से अपने सभी कर्तव्य करें और निम्नलिखित बिन्दुओं पर ध्यान दें :

- मन, वचन या कर्म से भी किसी को व्यथित या पीड़ित न करें।
- आप जितना उपार्जित करते हैं, उसी पर जीवन निर्वाह करने का प्रयास करें। उससे अधिक पाने की लालसा न करें।
- फल की कामना किये बिना सारे काम करते रहें।
- सुख-दु:ख और आदर-निरादर में शान्त और प्रकृतिस्थ रहें।
- अपने प्रति जागरूक रहें और स्वयं को स्वीकार करें।
- अपने अतिरिक्त किसी वस्तु या व्यक्ति पर निर्भर न रहें।
- 'मैं' और 'मेरा' की भावना को दूर करने का प्रयास करें।
- स्वयं को परमात्मा का एक साधन समझें।
- दूसरों को दु:खी किये बिना सत्यनिष्ठा का पालन करें।
- प्रलोभनों से बचें और आने वाले अवसरों का लाभ उठायें।
- मन और कर्म, दोनों से ही ब्रह्मचर्य पालन करने का भरसक प्रयत्न करें।
- मित्र और शत्रु के प्रति समान मनोभाव रखें।
- इसमें आप बिना किसी खर्च के लाभ-ही-लाभ पायेंगे।

- क्रोध के क्षण में कुछ न करें। स्वयं को नियन्त्रित रखें और मन के शान्त होने पर ही कुछ करें।
- अपने माता-पिता, परिवार और मित्रों की सेवा करें।

स्वाध्याय– अपनी क्षमताओं और दुर्बलताओं को समझने के लिए एक आध्यात्मिक डायरी बनायें। आध्यात्मिक पुस्तकों का अध्ययन करें। विश्व के साथ-साथ भारतीय संस्कृति के विभिन्न धर्मों, दशर्नों और आध्यात्मिक शिक्षा का विस्तृत ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करें।

भगवद्गीता के उपदेशों और बृहदारण्यक उपनिषद् के साथ तैत्तिरीय, कठ और ईशावास्य उपनिषद्, भर्तृहरि के वैराग्य शतक, शंकराचार्य की अपरोक्षानुभूति और स्वामी सत्यानन्द सरस्वती द्वारा लिखित कर्म संन्यास का अध्ययन कर उन पर चिन्तन-मनन करें।

कर्मयोग– एक कर्म संन्यासी को अधिक-से-अधिक जितना सम्भव हो निष्काम कर्मयोग करना चाहिए। आपको किसी काम, किसी वस्तु या किसी व्यक्ति के प्रति भावनात्मक रूप से आसक्त नहीं होना चाहिए। आपको अपने कर्मों का फल अपने गुरु या इष्ट के प्रति समर्पित कर देना चाहिए, इससे आन्तरिक शान्ति प्राप्त होती है। कर्म संन्यासी के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण कर्मयोग योग का शिक्षण देना है। अपने जीवन और अपने घर को, अपने समुदाय के सदस्यों के बीच एक उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करना आपका उत्तरदायित्व है। अपने जीवन को यौगिक शैली में ढालकर और अपने घर को लघु-आश्रम का रूप देकर आप अन्य लोगों को यह दिखा सकते हैं कि उन्हें अपने जीवन में क्या परिवर्तन लाने चाहिए।

कर्म संन्यासियों का यह उत्तरदायित्व है कि वे अपने समुदाय के बीच योग की कक्षाएँ चलाएँ। योग की उत्तम शिक्षा देने के लिए आपको स्वयं आश्रम में रहकर योग के विभिन्न पाठ्यक्रमों द्वारा प्रशिक्षण प्राप्त करना चाहिए। आपको अपना अभ्यास नियमित रूप से करते रहना चाहिए ताकि आप विभिन्न अभ्यासों की आन्तरिक प्रक्रियाओं को अच्छी तरह समझ सकें। आपको विभिन्न विषयों, जैसे, स्वास्थ्य की समस्या, मनोवैज्ञानिक भ्रान्तियाँ, आध्यात्मिक शंकाएँ इत्यादि में सुपठित होना चाहिए और उन विषयों की अच्छी जानकारी होनी चाहिए जिनके सम्बन्ध में विद्यार्थी प्रश्न कर सकते हैं।

कर्म संन्यासी के रूप में आपको प्रत्येक वर्ष कम-से-कम एक बार अपने क्षेत्र में योग शिविरों और संगोष्ठियों का आयोजन कर उनमें कार्यक्रम चलाने

के लिए आश्रम से संन्यासियों को आमंत्रित करना चाहिए। आपको अपने राज्य में वार्षिक सम्मेलन करना चाहिए ताकि वहाँ के लोग योग के लाभकारी पक्ष से अवगत हों और उसके प्रति जागरूक हों।

यदि किसी क्षेत्र में योग मित्र मण्डल है तो प्रत्येक कर्म संन्यासी का यह कर्तव्य है कि वह उसको अपना सहयोग दे और सम्भव हो तो अधिक अन्यथा सप्ताह में एक दिन वहाँ कक्षाएँ चलाए। यदि वहाँ योग मित्र मण्डल नहीं है तो कर्म संन्यासी को इसकी स्थापना करने का प्रयास करना चाहिए। इसके द्वारा समाज को यौगिक क्रियाकलापों का एक केन्द्र मिल जायेगा, जहाँ नियमित रूप से योग की कक्षाओं, सत्संग, कीर्तन एवं भजन का आयोजन हो सकेगा। साहित्यिक क्षमता वाले कर्म संन्यासी पुस्तकें, रचनायें, कवितायें लिख सकते हैं या आश्रम के प्रकाशनों का हिन्दी या प्रादेशिक भाषाओं में अनुवाद कर सकते हैं।

सामाजिक उत्थान निष्काम कर्मयोग का एक अन्य महत्त्वपूर्ण पक्ष है। समाज के पिछड़े हुए लोगों का जीवन स्तर उन्नत करने का प्रयास करना, उनके लिए शिक्षा और कृषि की आधुनिक तकनीकों को उपलब्ध कराना, कुआँ खोदना, चिकित्सा केन्द्र और अस्पतालों का निर्माण करना इत्यादि इसके अन्तर्गत आते हैं।

भारत में सामाजिक उत्थान की आवश्यकता है और इसके अवसर भी उपलब्ध हैं, कर्म संन्यासी के रूप में इसमें अपना योगदान देना आपका कर्तव्य है। आपको इस कार्य के लिए धन एकत्र करने में लोगों की मदद लेनी चाहिए। केवल कर्म संन्यासी ही आवश्यकता पड़ने पर राहत कार्य में निष्काम सहयोग दे सकते हैं। इसलिए जितनी जल्दी हो सके, इस काम को प्रारभ्भ करे दें। ईश्वर, मंदिर या मस्जिद में नहीं, बल्कि गरीबों की अंधेरी और असुविधाजनक झोपड़ी में मिलते हैं।

आश्रम में

वस्त्र– गेरू धोती-कुर्ता, चादर और रुद्राक्ष की माला पहनें। सिर-दाढ़ी-मूँछ मुड़े हों। कपाल पर भस्म की दो क्षैतिज रेखाएँ हों। स्त्रियाँ अपने केश लम्बे रख सकती हैं और गेरू साड़ी पहन सकती हैं, किन्तु उन्हें सभी आभूषणों को उतार देना चाहिए और पाउडर, क्रीम, तेल तथा अन्य प्रसाधनों का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

साधना– कर्म संन्यास की दीक्षा लेते समय गुरु ने जो निर्देश दिये हैं उनके अनुसार सभी अभ्यास करें। वर्ष में कम-से-कम एक बार नवरात्रि अनुष्ठानों में भाग लेने का प्रयास करें।

आचरण– आश्रम के निवासी-संन्यासियों के समान अनुशासित रहें और उन्हीं की दिनचर्या का अनुपालन करें। उनके साथ ही काम करें और उनके साथ अधिक-से-अधिक समय व्यतीत करें। स्वयं को आश्रम का अतिथि न समझें।

आश्रम सम्बन्धी अनुशासन, सफाई, भवन एवं मैदानों के रख-रखाव के लिए जिन नियमों का प्रतिपादन किया गया है उनका यथातथ्य कठोरता से पालन करें। जिस कार्य को करने की जिम्मेदारी आपको दी गयी है, उसका पूर्णता और समर्पण-भाव के साथ निष्पादन करें।

- आश्रम को सोने या आराम करने का स्थान नहीं समझें। शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक, हर प्रकार से आश्रम का अर्थ है– श्रम।
- व्यर्थ बैठकर समय नष्ट न करें। प्रत्येक क्षण का उपयोग करें।
- शारीरिक कष्टों को धैर्य के साथ सहन करें। अपरिहार्य होने पर ही डॉक्टरी चिकित्सा करें।
- आराम के समय, खाते समय या सोते समय भी, अर्थात् सभी क्रियाओं के प्रति जागरूकता उत्पन्न करें।
- छेड़े जाने पर भी क्रोध से बचें।
- आश्रम के भोजन को प्रसाद के रूप में ग्रहण करें और आप जो प्राप्त करते हैं उसमें सन्तुष्ट हों। साधक की आवश्यकता के अनुरूप ही आश्रम का भोजन तैयार किया जाता है।
- आश्रम के निवासियों के आचरण की नकल न करें।
- अपने व्यवहार के द्वारा ब्रह्मचारियों, संन्यासियों और आश्रम के अतिथियों के बीच एक आदर्श प्रस्तुत करें। व्यर्थ के गपशप में समय न गँवायें।
- सभी कर्म संन्यासियों को प्रत्येक वर्ष कम-से-कम एक महीना आश्रम में रहना चाहिए। आश्रम में रहने का उद्देश्य है अपनी आध्यात्मिक वचनबद्धता का नवीकरण करना और अपने आन्तरिक व्यक्तित्व को गहराई से खोजना। किसी भी उद्देश्य से आश्रम द्वारा बुलाये जाने पर आने के लिए तैयार रहें।

पूर्ण संन्यासियों के लिए आचार संहिता

आश्रम में

साधना – संन्यासी को अलग से साधना करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि उसका सम्पूर्ण जीवन ही एक साधना है। उसने स्वयं को गुरु के मिशन और उनकी शिक्षा के प्रचार के लिए समर्पित कर दिया है। बाद में जब गुरु उचित समझते हैं तो उसे सक्रिय सेवा से वापस बुलाकर गहन साधना के लिए अधिक समय देते हैं। यद्यपि सर्वाधिक संन्यासियों को पूर्णकालिक रूप से गुरु के मिशन का कार्य करने की प्रतिबद्धता होती है। जो संन्यासी स्वयं को अनेक वर्षों तक इस कार्य में लगाये रहते हैं उनका शरीर और मन इस सीमा तक शुद्ध हो जाता है कि उन्हें स्वत: आध्यात्मिक अनुभव होने लगते हैं, क्योंकि वे उसके लिए तैयार रहते हैं। सभी संन्यासियों के लिए मंत्र 'ॐ' है। संन्यासियों को उच्च स्वर में और मानसिक रूप से सुबह-शाम 'ॐ' मंत्र का उच्चारण करना चाहिए।

त्याग ही संन्यास का आधार है। सभी क्रियाओं और पारस्परिकताओं के प्रति त्याग, वैराग्य और विरक्ति का भाव उत्पन्न करने का प्रयत्न करें। साथ ही कर्तव्य-निष्ठा, पूर्णता और समर्पण भाव के साथ कार्य करें। यही सफलता की कुंजी है। बिना आसक्ति के सभी प्राणियों का ध्यान रखें और उन्हें महत्त्व दें। आत्मा के साथ तादात्म्य स्थापित करें, बाह्य शरीर, कार्य या स्थिति के साथ नहीं। अपनी दृष्टि को शुद्धता और आध्यात्मिकता प्रदान करें। सभी प्राणियों को अपनी आत्मा के प्रकाश में देखें। 'मैं' और 'वह' में अंतर न करें। सृष्टि की सभी रचनाओं में निहित एकत्व को समझने का प्रयास करें।

वस्त्र – गेरू धोती-कुर्ता-चादर हमेशा पहनना है। रुद्राक्ष की माला गले में पहनने के अतिरिक्त बाँहों और कमर में भी पहनी जा सकती है। सिर-दाढ़ी-मूँछ मुड़े रहेंगे। कपाल पर भस्म की तीन रेखाएँ बनानी हैं। संन्यासियों को सुंदर और सुसज्जित लगने की इच्छा को समूल बाहर निकाल देना चाहिए, किन्तु साथ ही उन्हें स्वयं को साफ-सुथरा रखना चाहिए। इत्र, तेल प्रसाधन या शरीर पर फूलों का प्रयोग भी उन्हें नहीं करना है। अँगूठी या अन्य आभूषण भी वे धारण न करें। प्रतिदिन पहनने के लिए अधिक वस्त्र न रखें।

निर्देश – सभी साधकों और आश्रमों के अतिथियों के सम्मुख संन्यासी का एक आदर्श रूप होना चाहिए।

- उसे आश्रम की सभी गतिविधियों में पूरा सहयोग देना चाहिए।
- संन्यासी का बैंक में कोई खाता खुला हुआ नहीं होना चाहिए।
- उन्हें अपने पास न तो पैसे रखने चाहिए और न बाहर से उनके पास पैसे आने चाहिए।
- संन्यासियों से यह अपेक्षा रखी जाती है कि वे आश्रम के सभी अंतेवासियों और अतिथियों के साथ बैठकर भोजन करें।
- संन्यासियों को सादा, सात्त्विक भोजन करना चाहिए और उनके भोजन की मात्रा परिमित होनी चाहिए– न अति, न अल्प।
- संन्यासियों को जैसा भोजन, वस्त्र या आश्रय मिले उसी में संतुष्ट रहना चाहिए, उससे अच्छा प्राप्त करने का प्रयास नहीं करना चाहिए। संन्यासियों को ऐसी वस्तुएँ नहीं रखनी चाहिए जिनके प्रति आसक्ति उत्पन्न होने की आशंका हो।
- संन्यासियों को अपने नाम, पहचान और गेरू वस्त्र के प्रति आसक्त नहीं होना चाहिए। संन्यास ग्रहण करने के बाद उन्हें उन सभी उपाधियों और पदवियों को त्याग देना चाहिए, जो उन्हें पूर्व में प्राप्त हुई थीं।
- संन्यासियों को अपने संकल्प के अनुसार विशेष अवधि के लिए मौन धारण करना चाहिए।
- शराब, गांजा, चरस या अन्य मादक पदार्थों का सेवन सर्वथा निषिद्ध है।
- संन्यासियों का ज्योतिष शास्त्र, हस्त-रेखा शास्त्र, भविष्यवाणी इत्यादि से कोई सम्बन्ध नहीं होना चाहिए। उसे प्रेतात्माओं को दूर भगाने या बीमारियों के इलाज के लिए मंत्र या ताबीज बाँटने या बेचने के काम में कदापि संलग्न नहीं होना चाहिए। संन्यासियों को अपना भरण-पोषण करने के लिए कभी व्यापार से धन अर्जित नहीं करना चाहिए।
- संन्यासियों को अनिवार्यत: वर्तमान में जीना चाहिए।
- उन्हें अपने अतीत को भूल जाना चाहिए और भविष्य के लिए कुछ भी नहीं रखना चाहिए। संन्यासियों का चरित्र निष्कलंक होना चाहिए।
- संन्यासियों को एक-दूसरे के साथ या विपरीत लिंग के साथ सम्बन्ध नहीं बनाने चाहिए। संन्यास में केवल एक सम्बन्ध होना चाहिए– गुरु या ईश्वर के साथ, शेष सभी सम्बन्ध तोड़ देने चाहिए।
- संन्यासी विनम्रता का मूर्तरूप होता है। ईश्वर को सबके हृदय में स्थित देखकर उसे स्वयं को मानवता का सेवक मानना चाहिए। समाज की सेवा

करते समय संन्यासियों को निर्विवाद रूप से सावधानी और समर्पण के साथ आश्रम के आदेशों और अनुशासन का पालन करना चाहिए।

भगवद्गीता के संन्यास विषयक अंश

- संन्यासी को इच्छा, भय, घृणा, क्रोध, स्वत्वबोध, अहमन्यता, प्रतिशोध, ईर्ष्या, जुगुप्सा और आसक्ति से मुक्त रहना चाहिए।
- संन्यासी को मित्रवत्, करुणापूर्ण, धैर्यवान्, संतुष्ट, समर्पित, शुद्ध, कुशल, उदासीन, शान्त, गृह-त्यागी, स्थिरचित्त, गुणवान्, विश्वसनीय, साधनारत और निष्पाप होना चाहिए।
- संन्यासी को आकर्षण-विकर्षण, सुख-दुःख, आनन्द-क्षोभ, प्रशंसा-निन्दा, सम्मान-अपमान, मित्रता-शत्रुता, ताप-शीत से प्रभावित नहीं होना चाहिए।
- संन्यासी निरन्तर आत्म ध्यान में लीन रहता है और 'स्व' से सम्बन्धित भ्रान्तियों से मुक्त रहता है।

परिव्राजक अवधि के आचार

- संन्यास लेने के बाद बारह वर्षों तक बिना गुरु के निर्देश के अपने मूल नगर या गाँव यात्रा न करें।
- किसी को भी पत्र न लिखें।
- सांसारिक व्यक्तियों से किसी प्रकार का सम्पर्क न रखें।
- अपने पूर्व जीवन के विषय में या उससे सम्बद्ध लोगों से बातें न करें।
- अकेले और स्वतंत्र रहें, दूसरे संन्यासियों का साथ पाने की इच्छा न करें। दो मिलकर एक युग्म बनाते हैं, जो परस्पर जुड़े होते हैं। तीन मिलकर एक गाँव बनाते हैं, जो स्वयं में कलहपूर्ण होता है। तीन से ज्यादा तो शहर ही बना देते हैं, जो हलचल और भ्रम से परिपूर्ण होता है।
- आदर, सम्मान और विशेष आतिथ्य की अपेक्षा न रखें।
- केवल सेवा करने का ही विशेषाधिकार आपको प्राप्त है।
- जब तक आपसे कोई प्रश्न न करे तब तक न बोलें।
- यदि कोई व्यक्ति उचित शिष्टाचार के साथ बात नहीं करता है तो आप चुप और उदासीन रहें।

- संन्यासी को गरिमा, गंभीरता और धैर्य के साथ रहना चाहिए।
- रात्रि में कभी न घूमें; सूर्यास्त के बाद एक ही स्थान पर रहें।
- अवैतनिक होने पर भी कोई पद या नौकरी स्वीकार न करें।
- सामाजिक या राजनैतिक संगठनों से सम्बद्ध न हों।
- लोकमत की परवाह न करें।
- आकर्षण का केन्द्र या श्रद्धा का पात्र बनने का प्रयास न करें।
- पहले अपने अभिप्रायों का विश्लेषण करें और तब ऐसे कार्य करें जो सराहनीय हों। अपने भक्तों और प्रशंसकों पर निर्भर न रहें।
- किसी व्यक्ति का अनुग्रह पाने के लिए उसकी प्रशंसा न करें।
- ऐसे समाचार पत्र, पत्रिकाएँ या उपन्यास न पढ़ें जो सांसारिक विषयों से सम्बन्धित हों।
- जब तक आपसे अनुरोध न किया जाये तब तक उपेदश या प्रवचन न दें। जहाँ भी लोगों में ग्राह्यता हो और वे आपके ज्ञान से लाभान्वित होना चाहें, वहाँ अपने सभी सम्भव साधनों के साथ योग की कक्षाएँ लें, व्याख्यान दें और ज्ञानप्रद निर्देश दें।



संन्यासी की विशेषताएँ

बिहार योग विद्यालय परम्परा के संन्यासियों के लिए

अपने आचरण को नया रूप देने और जीवन में आध्यात्मिक दृष्टिकोण का विकास करने के लिए संन्यास जीवन में अपने अन्दर कुछ विशेष गुणों को उत्पन्न करना होता है। जो संन्यास जीवन में प्रवेश करना चाहते हैं उन्हें इन गुणों के प्रति जागरूक हो जाना चाहिए ताकि दृष्टिकोण का विस्तार हो और मानसिक शान्ति नैसर्गिक रूप से प्राप्त हो। इन गुणों के विकास के साथ ही अपने और जीवन के प्रति मनोवृत्ति और दृष्टिकोण में परिवर्तन आ जाते हैं। इन गुणों की मदद से व्यक्ति सहजता से अपने संस्कारों और कर्मों को समझ सकता है। ये गुण उसकी जागरूकता में वृद्धि करते हैं, जिससे वह प्रतिक्षण अधिकाधिक सचेत होता जाता है।

जिज्ञासुओं की विशेषताएँ

संन्यास की पहली अवस्था जिज्ञासु की है। जिज्ञासु का अर्थ है आध्यात्मिक अन्वेषक, अध्यात्म को जानने की इच्छा रखने वाला। संन्यास की इस अवस्था में जिज्ञासु को अपने अन्दर कुछ सकारात्मक गुणों का विकास करने की आवश्यकता होती है, जो रातों-रात विकसित नहीं होते हैं। समय के साथ जैसे-जैसे हम अपने पथ पर आगे बढ़ते हैं, हमारी क्षमताएँ बढ़ती जाती हैं और एक के बाद एक विशेषताएँ अन्दर आती जाती हैं।

सर्वप्रथम अपने अन्दर आत्मनियन्त्रण का विकास करने की आवश्यकता होती है। जब हमारे साथ दुर्व्यवहार होता है तो हम तुरन्त प्रतिक्रिया व्यक्त करते हैं। यह प्रतिक्रिया हमारे व्यवहार को विच्छिन्न कर देती है, हम अपना

संतुलन खो देते हैं, जिससे हमारे अन्दर दुश्चिन्ता, कुण्ठा और क्रोध उत्पन्न होता जाता है। इसलिए दुर्व्यवहार के समय आत्मनियन्त्रित रहने का गुण विकसित करना है। हमें अपनी प्रतिक्रियाओं की गहरी जानकारी होनी चाहिए ताकि विभिन्न लोगों से और विभिन्न परिस्थितियों में प्रतिक्रिया व्यक्त करते समय हम सचेत रहें।

सत्यनिष्ठा दूसरी विशेषता है, जिसे हमें अपने अन्दर उत्पन्न करना है। संसार में सत्य दो प्रकार के होते हैं। एक वह जो सुखद होता है, दूसरा वह जो दूसरों को विक्षुब्ध कर देता है। इसलिए हम लोगों को मध्यम मार्ग अपनाना चाहिए और ऐसी सत्यनिष्ठा का विकास करना चाहिए जो दूसरों को आहत या व्यथित न करे। यदि कोई बहुत बुरा व्यक्ति है और हम उससे यह सत्य व्यक्त करना चाहते हैं तो यह सत्य उसकी निन्दा का रूप ले लेगा और उसके मस्तिष्क को असन्तुलित कर देगा। इस पर उसकी प्रतिक्रिया नकारात्मक होगी, जो हमें भुगतनी पड़ेगी। इसलिए योग में सत्यनिष्ठा की जो अवधारणा है उसके अनुसार दूसरे को आहत किये बिना अपना सन्देश सकारात्मक ढंग से दूसरों तक पहुँचना चाहिए, इससे पारस्परिक सम्बन्ध भी सुधरते हैं।

तीसरी विशेषता जिसका विकास करना है, वह है सफलता प्राप्त होने पर भी विनम्र बने रहना। जब हम सफलता प्राप्त करते हैं तो यह हमारे मस्तिष्क को आन्दोलित कर देती है। यदि इसे हम अपने हृदय में ही संजोकर रखें तो हम विनम्र रह सकेंगे। लेकिन मस्तिष्क में जाकर यह हमारे अहंकार को जगाती है। इसलिए अपने आक्रोश और अहंकार को नियन्त्रित रखने के लिए हम लोगों को हर कदम पर विनम्र रहने का प्रयत्न करना चाहिए। किन्तु विनम्रता का अर्थ यह नहीं कि हम किसी भावना या किसी व्यक्ति के समक्ष समर्पण कर दें। यह आत्म-ज्ञान की वह अवस्था है जो अपनी विचार-शक्ति का अवलोकन करने तथा विचार-शक्ति और अहंकार के परस्पर प्रभाव का विश्लेषण करने में सक्षम बनाती है।

ईमानदारी चौथी विशेषता है जिसको विकसित करना है। जब प्रलोभन और अवसर आपके सम्मुख उपस्थित हों तब अपने प्रति ईमानदारी रहे। जीवन में हम बहुत कुछ करना और पाना चाहते हैं। जब हम किसी अवसर को देखकर प्रलोभित हो जाते हैं तो अपने छोटे से स्वार्थ की पूर्ति के लिए उस अवसर को पकड़ लेना चाहते हैं। तब ऐसे अनेक मूल्य, जो सन्तुलित व्यक्तित्व और जागरूकता बनाये रखने के लिए आवश्यक हैं, कहीं दब जाते

हैं और हम नये नियमों को अपनाने के लिए प्रवृत्त होते हैं। इसलिए जब अवसर सामने हो तो हमें स्वयं का निरीक्षण करना चाहिए और यह सुनिश्चित कर लेना चाहिए कि ईमानदारी की धारणा अपने पूरे अर्थ में सुरक्षित है।

आध्यात्मिक जीवन की सतत् प्रगति और विकास के लिए जो पाँचवीं विशेषता आवश्यक है, वह अध्यवसाय है। अध्यवसाय मानसिक नियन्त्रण की एक अवस्था है। जब भी कोई कष्ट-साध्य कार्य हमारे सामने आ जाता है तो हम चिन्तित हो जाते हैं, जिससे हमारा व्यक्तित्व तनावग्रस्त हो जाता है और हमारी नैसर्गिक गतिविधियाँ बाधित हो जाती हैं। अध्यवसाय के द्वारा हम अपनी प्रत्येक क्रिया को रचनात्मकता प्रदान करते हैं और हमारा कार्य प्रेम और पूर्णता से भर उठता है। इस प्रकार यहाँ कर्मयोग का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष जोड़ दिया गया है।

विकसित करने योग्य छठी विशेषता है धैर्य। जब समय हमारे प्रतिकूल होता है तो हम धैर्य खो बैठते हैं और व्यग्र हो जाते हैं। वर्षों के अभ्यास की उपलब्धि एक क्षण की धैर्यहीनता से छिन्न-भिन्न हो जाती है। मानसिक और भावनात्मक सन्तुलन बनाये रखने के लिए धैर्य होना आवश्यक है। धैर्य ही हमें धीरे-धीरे आध्यात्मिक साधना की गहराइयों में ले जाता है। सांसारिक जीवन हो या आध्यात्मिक जीवन, कार्य की पूर्णता के लिए प्रत्येक क्षण धैर्य अनिवार्य है। धैर्य के अभाव में हमारी आकांक्षाएँ कभी पूरी नहीं हो सकती हैं।

ये छः विशेषताएँ हैं, जिन्हें जिज्ञासु संन्यासियों को अपने अन्दर उत्पन्न कर इनका विकास करना चाहिए।

कर्म संन्यासियों की विशेषताएँ

संन्यास की दूसरी अवस्था है कर्म संन्यास की। कर्म संन्यासियों को जीवन में, अध्यात्म में और उस दिशा या पथ में जिस पर उन्हें चलना है गहन अनुभवगम्यता और समझ की आवश्यकता होती है। इस अवस्था में आप योग के प्रचार और उसके शिक्षण के लिए प्रतिबद्ध होते हैं। साथ-ही आप अपने पारिवारिक जीवन में आश्रम-जीवन के मूल तत्त्वों का समावेश करने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं, किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि आप अपने घर को आश्रम जैसा बना दें, बल्कि परिवार में रह कर भी आप आश्रम की ही तरह अनुशासित, नियन्त्रित एवं जागरूक रहें। देर रात तक टेलीविजन देख कर आपको यह नहीं कहना चाहिए कि 'मैं देर से सो रहा हूँ, इसलिए सुबह देर

से उठूँगा और योगाभ्यास नहीं करूँगा'। संन्यास के आदर्श आपके जीवन के अभिन्न अंग होने चाहिए।

सांसारिकता का निर्वाह करते हुए भी आध्यात्मिक पथ पर चलने के लिए आपको अपनी जीवन-शैली में कुछ परिवर्तन लाना नितान्त आवश्यक है। सर्वप्रथम आपको आवश्यकता से अधिक पाने की इच्छा या लालसा को नियन्त्रित करना होगा। किसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहना अच्छा है, किन्तु अपना प्रत्येक क्षण उसकी लालसा या इच्छा में लगा देना अनुचित है। उपलब्ध साधनों के अन्दर आपको सादगी से रहना सीखना चाहिए और अधिक पाने की इच्छा को नियन्त्रित करना चाहिए।

कर्म संन्यास का एक अन्य महत्त्वपूर्ण पक्ष है निःस्वार्थ सेवा का; अपने काम के बदले कुछ पाने की अपेक्षा न रखें, बल्कि दूसरों के प्रति अपना कर्तव्य या अपनी प्रतिबद्धता समझ कर काम करें। इस प्रकार अपने कार्य के फलों के प्रति आसक्त हुए बिना एकाग्रता और सावधानी के साथ अपने सभी कर्तव्य करते जायें। जीवन में इसी प्रकार की निःस्वार्थता या विरक्ति के भाव का विकास कर आप अपने अहंकार को नियन्त्रित कर पायेंगे और उस स्वभाव को प्रबल होने से रोक पायेंगे।

कर्म संन्यासी को जो अगली विशेषता विकसित करनी चाहिए, वह है सुख-दुःख, मान-अपमान, हानि-लाभ, सफलता-विफलता में समान रूप से शान्त और प्रकृतिस्थ रह पाना। ऐसा करना थोड़ा कठिन होता है। आप सुख और दुःख में समान रूप से शान्त और प्रकृतिस्थ कैसे रह पायेंगे? कोई-न-कोई प्रतिक्रिया तो अवश्य होगी। यदि आप किसी प्रतिक्रिया-विशेष का अवलोकन करें और फिर स्वयं को उससे असंपृक्त कर अपना आन्तरिक सन्तुलन बनाये रखने का प्रयास करें तो वह आत्मनियन्त्रण की ऊँची अवस्था होगी।

आत्मनिरीक्षण कर्म संन्यास का एक अन्य महत्त्वूपर्ण पक्ष है। यह प्रक्रिया आपके जीवन में निरंतर प्रतिक्षण चलती रहनी चाहिए। आत्मनिरीक्षण अपनी साधना के लिए ही आवश्यक नहीं, बल्कि आपके सृजनात्मक स्वभाव की अभिव्यक्ति के लिए भी आवश्यक है। अवलोकन या निरीक्षण तभी सम्भव है जब आप जागरूक हों। आपकी जागरूकता आपको अपने विचारों, क्रियाओं, आचरण और पारस्परिक क्रियाओं को देखने में आपकी सहायता करेगी। इसलिए कहा गया है, 'आत्मनिरीक्षण में तल्लीन रहें और क्षण-प्रतिक्षण अपनी क्रियाओं के प्रति सजग रहें।'

विकसित करने योग्य अगली विशेषता है स्वतन्त्रता। स्वयं के अतिरिक्त किसी अन्य पर निर्भर न रहें। आप अपने परिवार और समाज में अन्य लोगों के साथ रह सकते हैं, आप अनेक लोगों के साथ विभिन्न प्रकार के कार्य कर सकते हैं, किन्तु सदा आपके अन्दर विरक्ति और वियुक्ति का भाव रहना चाहिए। जीवन में ऐसे अनेक सम्बन्ध हैं जिन्हें कायम रखना है, लेकिन उसमें आसक्ति का भाव नहीं रहना चाहिए। आसक्ति से पराश्रयता उत्पन्न होती है और आप तब तक स्वतन्त्र नहीं होंगे जब तक पराश्रित रहेंगे, क्योंकि सांसारिक जीवन में पराश्रयता अपना प्रभाव दिखाती ही है।

अपने अहं को सुव्यवस्थित करने के लिए कर्म संन्यासी को 'स्वत्व बोध' से मुक्त होकर जीना चाहिए। 'स्व' का विचार स्वार्थी स्वभाव का बोध कराता है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि कोई व्यक्ति आकर आपकी चीजें ले ले और आप कहें, 'ठीक है, यद्यपि मैंने इसे पाने के लिए बहुत धन व्यय किया है, फिर भी यह मेरा नहीं है।' यह मनोवृत्ति भी उचित नहीं है। यहाँ 'स्वत्व' का तात्पर्य आसक्ति से है। यदि आप वस्तुओं के प्रति अनासक्त हैं तो 'स्वत्व' और अहं के तुष्टिकरण की भावना चली जायेगी।

कर्म संन्यासी के लिए मन, वचन और कर्म में यथासम्भव सन्तुलन बनाकर रखना आवश्यक है। मित्र और शत्रु के प्रति सन्तुलित मनोभाव उत्पन्न करें। मित्र और शत्रु के प्रति भाव के द्वारा दूसरों के विषय में आपकी धारणा का पता चलता है। यदि कोई आपके हित में कुछ करता है तो वह आपका मित्र बन जाता है और दूसरी तरफ यदि उससे आपकी हानि होती है तो वह आपका शत्रु बन जाता है। आपको किसी व्यक्ति या वस्तु से घृणा क्यों होती है जो अस्थायी है, क्षणभंगुर है? इस प्रकार की अवधारणाओं के द्वारा आप तनाव उत्पन्न कर लेते हैं, मित्रों के प्रति आसक्त होते जाते हैं तथा शत्रुओं से और घृणा करने लगते हैं। अत: हर समय मित्र और शत्रु के प्रति समान मनोभाव बनाये रखने का प्रयास करें।

कर्म संन्यासियों के याद रखने योग्य एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बिन्दु यह है कि उन्हें क्रोध के क्षणों में कुछ भी नहीं करना चाहिए। क्रोध के क्षणों में आप नकारात्मक और विघटनकारी मानसिक अवस्था में होते हैं। क्रोध अन्दर गहराई में छिपे अवगुणों को ऊपर ले आता है। क्रुद्ध होने पर प्रतिक्रिया व्यक्त करने के बदले इन विचारों और भावनाओं के प्रति सचेत हो जायें। समय के साथ आप अपने नकारात्मक विचारों और भावनाओं

को नियन्त्रित करने में सक्षम हो जायेंगे और सकारात्मक मानसिकता की अवस्था में पहुँच जायेंगे।

वैराग्य संन्यासी की विशेषताएँ

वैराग्य संन्यास की परम्परा को अपनाने वाले संन्यासी वे हैं जिन्होंने सम्पूर्ण त्यागमय जीवन चुना है। यह मार्ग जिज्ञासु और कर्म संन्यास से इस प्रकार भिन्न है कि ये संन्यासी परिवार या समाज में नहीं रहते। इन्हें समाज का सहारा मिल सकता है, लेकिन ये उन सारे सम्बन्धों को तोड़ चुके हैं जो इनके पूर्व जीवन से जुड़े हुए थे। प्रारम्भ में इन संन्यासियों को आश्रम या मठ में गुरु या आचार्य की सतर्क नजरों के सामने कठोर प्रशिक्षण प्राप्त करना चाहिए। यदि इन्हें आश्रम या मिशन के सहारे के बिना स्वतन्त्र रूप से इस पथ पर चलना है तो इन्हें इस प्रशिक्षण की अवधि में कुछ विशेष गुणों का विकास करना चाहिए।

इन गुणों में सर्वप्रमुख है आज्ञाकारिता। आज्ञाकारिता संन्यास जीवन का आधार है। इसके द्वारा आप धीरे-धीरे अपने अहं को समूल नष्ट कर सकते हैं और इस प्रकार आप अपनी हीन भावनाओं को नियन्त्रित कर सकते हैं। इसीलिए कहा गया है, 'पहले आज्ञा पालन करना सीखो, तब तुम शासन करने योग्य होओगे।' सच्ची आज्ञाकारिता में कोई टाल-मटोल, कोई प्रश्न नहीं होता है। एक संन्यासी के रूप में आपको केवल आज्ञा का पालन करना सीखना चाहिए-बिना किसी वाद-विवाद या सोच-विचार के। तभी आपके गुरु आपकी चेतना को रूपान्तरित करने में सक्षम होंगे, अन्यथा नहीं। जब तक आप पूरी तरह आज्ञाकारी हैं तब तक इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता कि आप कितने बुद्धिमान् या कितने मन्दबुद्धि हैं, क्योंकि गुरु अपनी कल्पना के अनुरूप संन्यासी की छवि में आपको रूपान्तरित कर देंगे। वे पथ पर सदा आपको सहारा देंगे, तब आप पीछे मुड़ कर देखने को प्रलोभित नहीं होंगे।

संन्यास जीवन में आद्योपान्त विकसित करने वाली अगली आवश्यक विशेषता है कार्य करने की तत्परता और अनुशासन का अनुपालन। संन्यास जीवन सरल या आलस्यपूर्ण नहीं होता है। एक संन्यासी को पाँच व्यक्तियों के बराबर कार्य करना चाहिए। उसमें भार उठाने का सामर्थ्य होना चाहिए, उसमें निर्देशन और प्रशासन की, शिक्षण और प्रेरणा की क्षमता होनी चाहिए, और साथ-ही उसे अपनी साधना एवं अपने अनुशासन को कायम रखना चाहिए। जब संन्यासी प्रशिक्षण प्राप्त कर रहा होता है तो कार्य और अनुशासन उस पर

गुरु एवं आश्रम या मिशन द्वारा ऊपर से आरोपित किये जाते हैं। बाद में कार्य करने की क्षमता और अनुशासन-पालन की भावना उसके अन्दर स्वत: उत्पन्न होनी चाहिए, ताकि संन्यासी गहन साधना और तप के मार्ग पर चलता हुआ समाधि की अवस्था को प्राप्त कर सके।

ऐसे संन्यासी, जो आज्ञा-पालन करना, कार्य करना या अनुशासन का अनुपालन करना नहीं चाहते, वे प्रारम्भ से ही स्वतन्त्र रूप से रहने लगते हैं। उन्हें अपनी आध्यात्मिकता के विषय में यह भ्रम होता है कि वे उसमें बहुत ऊँचा स्थान प्राप्त कर चुके हैं, जबकि वे आध्यात्मिक जीवन में स्वयं को एक ठोस आधार भी प्रदान नहीं कर पाते हैं। वे अपने विचलित पथ को आध्यात्मिक स्वतंत्रता समझ बैठते हैं और यही कारण है कि उनका विकास नहीं हो पाता। अपनी निष्क्रियता और अनुशासनहीनता के कारण वे न तो अपनी साधना कर पाते हैं, न सेवा कर सकते हैं और न स्वयं को सजगता की उच्च अवस्था में स्थापित कर पाते हैं। इस प्रकार के संन्यासी उद्देश्यविहीन इधर-उधर भटकते रहते हैं और निरर्थक बातों के साथ जीवन-मुक्त होने का ढोंग करते हैं। उनमें कोई आध्यात्मिक गुण नहीं होते और कोई उन्हें सहारा भी नहीं देना चाहता है।

अनुकूलन की क्षमता संन्यासियों के लिए अत्यन्त आवश्यक है। भौतिक जगत् में आप एक विशेष जीवन-शैली या जीवन स्तर की अपेक्षा रख सकते हैं, किन्तु संन्यास में ऐसा नहीं है। संन्यासी मूलत: गृहविहीन होते हैं। यद्यपि आश्रम में आप अनेक वर्षों तक रहते हैं, फिर भी वह आपका घर नहीं है और वहाँ कुछ भी आपका नहीं है। आपसे अनेक बार अपना कमरा, अपना काम, अपना भोजन बदलने के लिए कहा जा सकता है और हर बार आपको इन निर्देशों का अनुपालन करना है। संन्यास-जीवन परिवर्तनों से परिपूर्ण होता है, उत्थान-पतन, यश-अपयश आते रहते हैं।

आश्रम में हों या उसके बाहर, संन्यास जीवन में आप यह उम्मीद नहीं कर सकते कि अगले क्षण क्या होने वाला है। किसी दिन तो आप प्रभारी हैं और अगले दिन आप भिक्षा माँग रहे हैं, वृक्ष के नीचे आश्रय ले रहे हैं। संन्यास जीवन में केवल एक तत्त्व है, जिसे स्थायी होना चाहिए – आध्यात्मिक दृष्टि। अन्य सब परिवर्तित हो सकते हैं, किन्तु आपको सभी परिस्थितियों में स्वयं को अनुकूलित करना आना चाहिए। यह संन्यासी की पहचान है। अपने आन्तरिक विकास के लिए आप में अनुकूलन की क्षमता होनी चाहिए।

अनुकूलन के बाद समर्पण आता है। समर्पण का गुण ही संन्यास की दक्षता और क्षमता निर्धारित करता है। संन्यास जीवन के लक्ष्य तक आप पहुँच पायेंगे या नहीं यह आपके समर्पण की सीमा पर निर्भर रहता है। कुछ संन्यासियों में तनिक भी समर्पण की भावना नहीं होती, वे केवल इस मार्ग से आकृष्ट होकर इस पर चले आते हैं और एक वर्ष से अधिक भी इस पर टिक नहीं पाते। कुछ ऐसे संन्यासी जिनमें आंशिक समर्पण होता है, वे इस पथ पर डगमगाने लगते हैं। वे हमेशा अपने परिवार, संसार और अपनी इच्छाओं का आकर्षण महसूस करते रहते हैं। कुछ वर्षों बाद वे उन सब के बीच वापस भी चले जाते हैं। बहुत थोड़े संन्यासी अपने पथ पर समर्पित होते हैं और उन थोड़े में भी एक-दो ऐसे हैं जो दृढ़निश्चय और पूर्ण त्याग के साथ ऐसी गौरवपूर्ण ऊँचाइयों तक पहुँच जाते हैं जहाँ से प्रत्यागमन नहीं होता है।

त्याग एक ऐसी विशेषता है जिसे संन्यासियों को साकार करना चाहिए। आत्म-त्याग, आत्म-समर्पण करने के लिए गुरु और उस मार्ग पर जिसे आपने चुना है, पूरा विश्वास और श्रद्धा होनी चाहिए। प्राय: आत्म-समर्पण को भक्ति के अर्थ में लिया जाता है, किन्तु यहाँ त्याग और आत्म-समर्पण में अप्रतिबन्धित पूर्णता अन्तर्निहित है। जिस क्षण आपका अहं अपना सिर उठाता है, उसे काट डालें, अन्यथा आपके गुरु को आपका यह कार्य करना होगा। जब पूर्ण आत्म-समर्पण आपके जीवन का अभिन्न अंग बन जाता है तभी आप ईश्वर के साथ एकात्म हो पाते हैं। उसके पूर्व आप संसार में घूमते रहते हैं और आध्यात्मिक होने का प्रयत्न करते हैं। सम्पूर्ण त्याग के द्वारा ही गुरु या ईश्वर कृपा अवतरित होती है। इसी कृपा के सहारे संन्यासी भौतिक चेतना से ऊपर उठकर आत्म चेतना में अवस्थित होता है। संन्यासी को हर कदम पर गुरु और ईश्वर की कृपा की अनुभूति होनी चाहिए और उसके प्रति समर्पित होना चाहिए।

परम्परा का संरक्षण

भारत में संन्यास परम्परा को बहुत-ही उन्नत और गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त है। यहाँ तक कि राजा और राजनीतिज्ञ भी उस परम्परा के सम्मान में झुक जाते थे जिसका प्रतिनिधित्व संन्यासीगण करते हैं। प्रश्न यह नहीं कि संन्यासी के सामने कौन झुकता है, लेकिन इस परम्परा का संरक्षण प्रत्येक संन्यासी के

जीवन और उसके उदाहरण के रूप में होना चाहिए। यह सभी सम्प्रदायों या उप-सम्प्रदायों के संन्यासियों का कर्तव्य है।

संन्यासी का व्यक्तिगत आचरण दूसरों पर गहरा प्रभाव डालता है। उसका एक विचारपूर्ण शब्द या आचरण दूसरों का अध्यात्म के क्षेत्र में मार्गदर्शन कर सकता है, जबकि इसके विपरीत उसका एक विचारहीन शब्द या आचरण दूसरों को हतोत्साह या विकर्षित भी कर सकता है। संन्यासी के जीवन में किसी प्रकार का आडम्बर या दिखावा नहीं होना चाहिए। प्रत्येक आचरण विवेकपूर्ण होना चाहिए। यदि आप दूसरों की निन्दा करते हैं, व्यर्थ की बातें करते हैं और असामाजिक गतिविधियों में संलग्न रहते हैं तो आप दूसरों को किस प्रकार उत्साहित और प्रेरित कर पायेंगे? वह आपकी साधना का अंग नहीं है।

गेरू वस्त्र आध्यात्मिकता की उच्चतम परम्परा का प्रतिनिधित्व करता है। साधु और वैरागी अपने वस्त्र के द्वारा अपने धर्म का प्रतिनिधित्व करते हैं। संन्यासी गेरू के द्वारा आध्यात्मिक संस्कृति और परम्परा का प्रतिनिधित्व करते हैं। इसलिए विचारहीन शब्द या आचरण संन्यासी, उसके गुरु और परम्परा की प्रतिष्ठा को अपमानित करेंगे। यद्यपि संन्यास का मार्ग सभी बाधाओं और अवरोधों से मुक्त करता है, किन्तु इस मुक्ति या स्वतन्त्रता का दुरुपयोग या प्रदर्शन नहीं किया जाना चाहिए। अविवेकपूर्ण आचरण व्यक्ति की अपरिपक्वता प्रदर्शित करता है, स्वतन्त्रता नहीं।



गुरु की महिमा

संन्यास जीवन गुरु और शिष्य के पारस्परिक सम्बन्धों पर आधारित होता है। वस्तुत: गुरु उस अन्धकार को दूर करता है जो महतर चेतना के विकास को अवरुद्ध किये रहता है। अविद्या, अज्ञान, अवगुण और चेतना के अन्धकार को दूर करने वाले को ही गुरु कहते हैं। लेकिन सांसारिक जीवन में गुरु केवल एक शिक्षक बन कर रह गये हैं। इतिहास, गणित, संगीत, भोजन पकाने, बागवानी या आध्यात्मिक जीवन से सम्बद्ध शिक्षक भी गुरु कहलाता है। हालाँकि यह गुरु शब्द की गलत व्याख्या है। गुरु शब्द का अर्थ है प्रकाशित करने वाला, प्रबुद्ध करने वाला। वह प्रकाश जो अविद्या को दूर करता है, गुरु कहलाता है।

गुरु शब्द को सत्गुरु या परमगुरु जैसे वर्गों में विभक्त नहीं किया जा सकता। केवल गुरु होते हैं, ठीक उसी प्रकार जैसे प्रकाश केवल प्रकाश होता है। आप 15 वाट का बल्ब लगायें या ट्यूब लाइट, उनमें खर्च होने वाली बिजली और उनसे विकीर्ण हुआ प्रकाश समान है। दोनों में अन्धकार को दूर भगाने और प्रकाशित करने की शक्ति है। अत: गुरु वह आध्यात्मिक प्रकाश है, जो अविद्या या अज्ञान का अन्धकार दूर करता है। उनकी शिक्षा या उपस्थिति का प्रकाश कम हो या अधिक, लेकिन उन्हें गुरु कहा जाता है। शिक्षक, अध्यापक, प्राध्यापक या आचार्य कितने भी विद्वान् या सम्माननीय हों, उन्हें आध्यात्मिक सन्दर्भ में गुरु अर्थात् अन्धकार को दूर करने वाला नहीं कहा जा सकता।

गुरु ही प्रत्येक संन्यासी के जीवन की धुरी या केन्द्र बिन्दु होते हैं। गुरु के बिना संन्यास नहीं हो सकता, क्योंकि गुरु त्याग और संन्यास के मूर्तरूप होते हैं। गुरु शिष्य के कर्म और उसकी नियति को पहचान जाते हैं। शिष्य को दीक्षा देने के पूर्व गुरु को उसके विकास के स्तर का मूल्यांकन करना पड़ता है। उन्हें यह निश्चय करना होता है कि शिष्य किस सीमा तक भौतिक

जगत् से बँधा हुआ है और किस सीमा तक उन बन्धनों को तोड़कर ऊपर उठ सकता है। तब उसके आधार पर गुरु निर्णय लेते हैं कि वह संन्यास के किस मार्ग के उपयुक्त है। इस सम्बन्ध में गुरु का निर्णय ही अन्तिम रूप से मान्य होता है, इसलिए शिष्य को उस निर्णय को बदलने का आग्रह नहीं करना चाहिए।

संन्यास की दीक्षा केवल गुरु दे सकते हैं। दीक्षा के बाद शिष्य गुरु के माध्यम से संन्यास पथ पर स्थापित होता है। गुरु शिष्य को शिक्षित-प्रशिक्षित करते हैं और यह निश्चय करते हैं कि उसके लिए सर्वोत्तम क्या होगा। गुरु के निर्देशों का पालन करते हुए संन्यासी संन्यास के निर्दिष्ट पथ पर सफलतापूर्वक आगे बढ़ता जाता है। अपनी प्रगति को सुनिश्चित करने के लिए संन्यासी-शिष्य को अपने अहंकार को व्यवस्थित करने के लिए गुरु के हाथों में छोड़ देना चाहिए। तभी शिष्य गुरु की कृपा से संन्यास की उच्चतर अवस्थाओं तक विकास कर पायेगा।

अपने संन्यासी-शिष्यों की अहंकारी प्रवृत्तियों को उत्तरोत्तर तराशते जाने का गुरु का अपना तरीका होता है। वे शिष्य को उन कर्मों और संस्कारों का क्षय करने में उसकी सहायता करते हैं जो उसे संसार में बाँधे रखते हैं। बाद की अवस्थाओं में गुरु उसे एकान्त में जाकर साधना और तप के द्वारा अपने कर्मों का क्षय करने को कह सकते हैं। प्रारम्भ में गुरु उसे कर्मयोग के माध्यम से कर्मों का क्षय करने का निर्देश देते हैं। जिज्ञासु और कर्म संन्यास में कर्मयोग के रूप में समाज सेवा और सामाजिक उत्थान के कार्य होते हैं। वैराग्य संन्यास में यह संगठनात्मक कार्यों और मिशन के अन्दर और बाहर शिक्षण कार्य के रूप में होता है।

सम्प्रेषण द्वारा मार्ग-दर्शन

प्रारम्भ में संन्यासी चेतन अवस्था में बाह्य स्तर पर गुरु के द्वारा मार्ग-दर्शन प्राप्त करता है। गुरु अपने शारीरिक रूप में उसके सम्मुख होते हैं। कुछ समय बाद गुरु अपने आध्यात्मिक आयाम के प्रति शिष्य को सजग और सचेत करने के लिए अपने प्रत्यक्ष सान्निध्य से दूर कर देते हैं। इस अवस्था में संन्यासी सम्प्रेषण-शक्ति के माध्यम से अपने गुरु के निर्देश प्राप्त करने लगता है। गुरु अपने शिष्य से हजारों मील दूर हो सकते हैं, किन्तु वे अपने अस्तित्व के स्पन्दन को निरन्तर अपने शिष्य तक संचारित करते रहते हैं।

धीरे-धीरे संन्यासी अपने अन्दर ऐसी क्षमता उत्पन्न करता है जिसके द्वारा वह उनके स्मरण-मात्र से ही उनके साथ अदृश्य सम्पर्क स्थापित कर सकता है। वह आन्तरिक प्रयासों के द्वारा गुरु सम्प्रेषित स्नेह-तरंगों और निर्देशों के प्रति संवेदनशील हो जाता है। गुरु की अप्रत्यक्ष उपस्थिति पर स्वयं को केन्द्रित कर वह उनके सम्प्रेषणों के प्रति सजग रहना सीख जाता है। जब वह अपनी इच्छाओं को पूरी तरह निकाल चुका होता है तब धीरे-धीरे सूक्ष्म सम्प्रेषण भी ग्रहण करना सीख जाता है। तब संन्यासी पूर्णरूपेण गुरु को अभिग्रहित करने का आनन्द उठाने लगता है और गुरु भी अपने आध्यात्मिक ज्ञान और अपनी आध्यात्मिक शक्ति सुगमता से उस तक संचारित-सम्प्रेषित कर पाते हैं।

सम्प्रेषण के प्रकार

गुरु-शिष्य परम्परा में गुरु की सिद्धि के अनुसार उनकी सम्प्रेषण-विधियाँ भी विभिन्न प्रकार की होती हैं। उनमें से कुछ निम्नलिखित हैं–

- *चन्दन गुरु* चन्दन वृक्ष की भाँति अपनी उच्च चेतना के प्रभाव से पूरे वातावरण को सुगन्धित करते रहते हैं। गुरु का सान्निध्य ही दूसरों को मोक्ष के लिए प्रेरित करता है।
- *अनुग्रह गुरु* की कृपा से ही उद्धार हो जाता है।
- *पारस गुरु* अपने स्पर्श से शिष्य में अपेक्षित तत्त्वों का सम्प्रेषण करते हैं।
- *कच्छप गुरु* केवल स्मृति के द्वारा अपने शिष्य का उद्धार कर देते हैं, जैसे कछुआ विचारों के द्वारा अपने बच्चों का परिपोषण करता है।
- *चन्द्र गुरु* अपनी आध्यात्मिक किरणों के द्वारा शिष्य के अस्तित्व को पिघला देते हैं, ठीक उसी प्रकार जैसे कि चाँदनी रात में होता है।
- *छायानिधि गुरु* अपनी छाया से ही अपनी दिव्यता शिष्य को प्रदान कर देते हैं।
- *नादनिधि गुरु* की पुकार के साथ ही उनका ज्ञान शिष्य तक पहुँच जाता है, ठीक उस नाम के बहुमूल्य पत्थर की तरह।
- *क्रौंच पक्षी गुरु* अपने शिष्य के स्मरण से ही उसका आध्यात्मिक उद्धार कर देते हैं।
- *सूर्यकान्त गुरु* अपनी दृष्टि से ही शिष्य के पापों को जला डालते हैं, जैसे सूर्य की किरणें लेंस के माध्यम से रुई को जला डालती हैं।

इस प्रकार सम्प्रेषण के अनेक उदाहरण हैं। जैसे, स्वामी विवेकानन्द को अपने गुरु रामकृष्ण परमहंस के स्पर्श से अलौकिक अनुभूति हुई थी। बिल्वमंगल को भी ऐसी ही अनुभूति हुई और वे संत सूरदास हो गये। हालाँकि इस प्रकार के सम्प्रेषण से ही सब कुछ प्राप्त नहीं हो जाता। संन्यासी को पूर्णता प्राप्त करने के लिए कठिन परिश्रम करना पड़ता है। स्वामी विवेकानन्द अपने गुरु का स्पर्श पाने के बाद भी मोक्ष प्राप्त करने के लिए सात वर्षों तक संघर्षरत रहे।

आश्रम जीवन

ब्रह्म विद्या या अध्यात्म विद्या या आत्म विज्ञान मात्र बौद्धिक स्तर के अध्ययन, विचार या तर्क के द्वारा समझा और प्राप्त नहीं किया जा सकता। इसके लिए पूर्ण अनुशासन और साधना आवश्यक है। गुण-अवगुण, अच्छा-बुरा इत्यादि जैसे द्वित्व भाव को जीतना होगा। यह सरल मार्ग नहीं है, कठिन श्रम और संघर्ष के बाद ही लक्ष्य की प्राप्ति होती है। इस अवस्था में लोग पूछते हैं, 'यह कैसे करें?' इसके लिए किसी आश्रम या किसी आध्यात्मिक समुदाय में किसी गुरु या आध्यात्मिक उपदेशक के प्रत्यक्ष मार्ग-दर्शन में रहना सर्वोत्तम होगा। परम्परा के अनुसार संन्यासी को बारह वर्षों की अवधि के लिए गुरु के आश्रम में रहकर निष्काम सेवा करनी चाहिए।

नव-दीक्षित संन्यासी के लिए आश्रम जीवन की तुलना जंगल के जीवन से की जा सकती है, जहाँ जीवन के लिए पल-पल संघर्ष होता है और जो योग्य होता है वही टिक पाता है। संन्यासी को ऐसा वातावरण चाहिए जिसमें उसकी भ्रान्त धारणाएँ और मिथ्या आस्थाएँ खुलकर सामने आयें, जहाँ वह सतत् द्वन्द्वों और कठिनाइयों से संघर्ष करता रहे। आश्रम जीवन में वह सजगता के साथ इच्छा, घृणा, ईर्ष्या, लोभ तथा इसी प्रकार की अन्य भावनाओं का अनुभव कर सकता है, किन्तु साथ-ही उन भावनाओं में बहने से स्वयं को बचाकर रखना सीखता है। धीरे-धीरे वह स्वयं अपने प्रति ईमानदार, विनम्र, अध्यवसायी और धैर्यपूर्ण रहना सीखता है। जैसे-जैसे उसमें सजगता विकसित होती जाती है, वह अपने मन के साथ-साथ दूसरों के मन को भी समझने लगता है। वह अपनी गलतियों और दुर्बलताओं के समान दूसरों की गलतियों और दुर्बलताओं को स्वीकार कर अंगीकार कर लेता है।

आश्रम में रहकर गुरु की सतर्क निगरानी में संन्यासी को चार आध्यात्मिक गुणों–1. विवेक, 2. वैराग्य, 3. षड्सम्पत्ति–शम, दम, उपरति, तितिक्षा,

श्रद्धा एवं समाधान, एवं 4. मुमुक्षत्व का विकास करने के पर्याप्त अवसर प्राप्त होते हैं। ये चार गुण संन्यास जीवन की आधारशिलाएँ हैं, जिनकी उपलब्धि के बिना इस पथ पर प्रगति करना सम्भव नहीं है।

गुरु के मार्ग-दर्शन में संन्यासी अपने व्यक्तित्व की दुर्बलताओं को दूर करता है। आश्रम-समुदाय के एक सदस्य के रूप में वह अपने लिए कार्य नहीं करता है। स्वार्थ की भावना से कार्य करने के बदले अब गुरु के निर्देशन में उसकी सेवा समुदाय के प्रति समर्पित होती है। इस प्रकार की समर्पित और निष्काम सेवा संन्यासी के जीवन की प्रारम्भिक अवस्थाओं में, जब वह कठिन तप और साधना के लायक नहीं होता है, अत्यन्त अर्थपूर्ण होती है। कर्म के द्वारा वह मन को अनुशासित करना, शुद्ध करना और सजगता का विकास करना सीखता है। गुरु की सेवा के द्वारा स्वयं को अध्यात्म के लिए सुपात्र बनाने के बाद वह प्रत्येक जीव में ईश्वर का दर्शन करने लगता है और तब मानवता की सेवा के लिए तैयार हो जाता है।

गुरु की महत्ता

गुरु की सेवा करते हुए संन्यासी उनके आदर्श के अनुरूप बनना और बिना 'क्यों-कैसे' जैसे प्रश्न पूछे, आदेशों का पालन करना सीखता है। इस प्रकार वह अपनी दुर्बलताओं को गहराई से समझने लगता है। तब उसे आश्चर्य होता है कि गुरु ने उस जैसे निकृष्ट व्यक्ति की मदद क्यों की। गुरु अपने संन्यासियों पर उनकी अपेक्षाओं और योग्यता से कहीं अधिक अपनी कृपा और अपने अनुग्रह की वर्षा करते रहते हैं। कुछ समय बाद जब संन्यासी में गुरु के द्वारा असंख्य प्रकार से सम्प्रेषित मौन निर्देश निरन्तर परिलक्षित होने लगते हैं, तब गुरु की कृपा उसे स्पष्ट समझ में आने लगती है। गुरु की कृपा के रूप में जो उपहार उसे प्राप्त होता है वह उसके अन्दर कृतज्ञता के ऐसे भाव को जाग्रत करता है जो इस जगत् में अद्वितीय है। गुरु की यह कृपा और मार्ग-दर्शन कठिन समस्याओं के बीच भी संन्यासी को एक आन्तरिक अवलम्ब प्रदान करते हैं। अब वह जानता है कि गुरु ही वास्तविक संचालक हैं, वह तो मात्र एक माध्यम है।

महान् गुरुओं ने इस भ्रान्ति को दूर कर दिया है कि आध्यात्मिक उपलब्धि केवल गुफाओं और पर्वतों की चोटियों पर होती है। वे अपने संन्यासियों को जटिल और कठिन परिस्थितियों में भी आन्तरिक सन्तुलन बनाये रखना सिखाते

हैं। गुरु जानते हैं कि कठिन परिस्थितियों में प्राप्त किया गया आत्म-नियन्त्रण सर्वाधिक लाभप्रद और चिरस्थायी होता है। आध्यात्मिकता में व्यावहारिक ज्ञान का ही महत्त्व होता है, क्योंकि उसके द्वारा ही मन का शुद्धिकरण और उन्नयन होता है। गुरु संन्यासी को आश्रम में अपने साथ रहने की अनुमति देते हैं। वे उसके अहं के मुखौटे को उसके पास ही छोड़ देते हैं ताकि वह उसके साथ भी विभिन्न परिस्थितियों का सामना कर सके। लेकिन गुरु परोक्ष रूप से अन्ततः उसे उसके अहंकार से मुक्त करने के लिए तैयार करते रहते हैं। गुरु की एक हल्की-सी ठोकर से संन्यासी का अहंकार एक पल में ही अदृश्य हो जाता है।

कर्मों का क्षय

संन्यासी के कर्मों के क्षय के लिए गुरु अपना खेल खेलते हैं, जिसे 'गुरु माया' कहते हैं। वे संन्यासी के व्यक्तित्व को अच्छी तरह समझते हैं और कर्मों का क्षय करने के लिए उसे विभिन्न गतिविधियों में संलग्न कर देते हैं। गुरु उसे किसी प्रकार के कर्म-योग में लगा देते हैं, जैसे, रसोईघर, उद्यान, छापाखाना या आश्रम की सफाई। प्रत्येक कर्म-योग में भिन्न प्रकार की सजगता की आवश्यकता होती है, जिसका उपयोग आत्म-विश्लेषण के लिए किया जा सकता है। गुरु संन्यासी को कर्मयोग के क्रम में मौन रहने का निर्देश भी दे सकते हैं। संन्यासी के अन्दर गहराई में दबे संस्कारों को सतह पर लाने का यह एक प्रभावकारी उपाय है, इसके द्वारा उसे अपने कर्मों का क्षय करने में मदद मिलती है।

इस प्रकार संन्यासी को विभिन्न प्रकार के कार्य देकर गुरु यह समझ जाते हैं कि स्वाभाविक रूप से कौन-से कार्य के द्वारा वह अपने कर्मों का क्षय कर पायेगा। संन्यासी अपनी सुप्त प्रवृत्तियों को एक योगाचार्य, लेखक, शोधकर्त्ता, लेखापाल, माली, प्रबंध निदेशक, सचिव इत्यादि के रूप में प्रकट कर सकता है। इस प्रकार संन्यासी जब गुरु की सेवा करता है तो बिना नये कर्मों का संचय हुए, पुराने संचित कर्मों का क्षय होता जाता है। कार्यों के माध्यम से अपने सुप्त संस्कारों को प्रकट कर संन्यासी सांसारिक जीवन से आध्यात्मिक जीवन में सन्तुलित संक्रमण करने में सक्षम होता है और इस प्रकार वह उच्चतर साधना के लिए आधार तैयार कर लेता है।

गुरु-सेवा के द्वारा जैसे-जैसे संन्यासी के कर्मों का क्षय होता जाता है, वह अधिक शान्ति और वैराग्य का अनुभव करता है। जब मन अधिक एकाग्र और

स्थिर हो जाता है तब वह अधिक गहराई से और अधिक देर तक ध्यान कर सकता है। उसका मन एक स्वच्छ दर्पण की तरह काम करने लगता है जिसमें गुरु की शिक्षा एवं ज्ञान तथा उसका अपना आन्तरिक अस्तित्व प्रतिबिम्बित होने लगता है।

संगठनात्मक कार्य

गुरु का सेवक बनकर ही संन्यास जीवन में सफलता प्राप्त हो सकती है। यह आपको आत्म-ज्ञान के द्वार तक ले जायेगा। जो संगठनात्मक कार्य आपको सौंपे गये हैं, उन्हें अपने संकल्प का अंग मानकर बिना कोई प्रश्न किये सुनिश्चित ढंग से करते जायें। आप स्वयं को गुरु के प्रति पूर्णतया समर्पित कर दें तथा उन्होंने जो कार्य आपको दिया है उसे अपने हित में सर्वोत्तम मान कर एकनिष्ठ होकर करते जायें। संगठन का कोई भी कार्य छोटा या बड़ा, हीन या उत्तम नहीं है। गुरु हमेशा कार्य के प्रति संन्यासी की दत्तचित्तता, उसके आशय और उसके समर्पण का मूल्यांकन करते हैं, जबकि संन्यासी अपने कार्य को ही अधिक महत्त्वपूर्ण समझता है।

समय-समय पर गुरु आपको एक काम से दूसरे काम में लगा सकते हैं। उनके ऐसा करने के पीछे कुछ विशेष कारण होता है। इस प्रकार के कार्य-परिवर्तन से अपनी दुर्बलताओं और अपनी प्रतिभाओं के विषय में वह अधिक जान पाता है। इस प्रकार जागरूकता वर्द्धित और विकसित होती है। निष्ठापूर्वक संगठनात्मक कार्य करने से संन्यासी की प्रतिभाएँ और साथ ही उसके संस्कार प्रकाश में आते हैं। उन्हें जानने के बाद वह गुरु की सेवा में उनका उपयोग सरलतापूर्वक कर सकता है। गुरु-सेवा शान्ति और सन्तोष प्रदान करती है तथा संन्यास के पथ को निश्चित रूप से बाधा मुक्त करती है। गुरु की कृपा वह प्रकाश है जिसको प्राप्त करने के लिए संन्यासी को सतत् प्रयत्नशील रहना चाहिए, क्योंकि इसी के द्वारा सत्य उद्भासित होता है।

समाज सेवा

मानवता के उत्थान में योगदान किये बिना अपनी साधना को पूर्णता प्रदान करने का प्रयत्न करना भी व्यर्थ है। आप जितना अधिक मानवता की सेवा करते हैं, आप में उतनी ही दिव्य शक्ति संचरित होती है। गुरु सदा सत् कर्मों

के लिए प्रोत्साहित करते हैं। हालाँकि सत्कर्म अज्ञान को दूर करने के लिए अपने आप में पर्याप्त नहीं है। यह तभी हो सकता है जब वह कर्मों को अपने गुरु के प्रति अर्पित कर दे, किसी और को नहीं। अच्छे कार्य समाज के लिए, बीमार के लिए, भूखे के लिए, अज्ञानी के लिए अच्छे हो सकते हैं, फिर भी वे माया के आवरण के अन्दर होते हैं, आप उसके जाल में फँस सकते हैं। जब तक आप गुरु या ईश्वर की सेवा अपने अन्तर से नहीं करते तब तक किसी भी रूप में की गयी समाज सेवा साधना नहीं कही जाएगी, क्योंकि इसके द्वारा कर्मों का क्षय होने के बदले कर्म संचित होते हैं।

गीता में भगवान् श्री कृष्ण ने कहा है, *कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन,* अर्थात् तुम्हें कर्म करने का अधिकार तो है, किन्तु फल की आशा कभी न करो (भगवद्गीता 2/47)। एक संन्यासी को कभी स्वयं को समाज की सेवा करने वाला समाज-सेवी नहीं समझना चाहिए। वह समाज की सेवा नहीं करता, बल्कि गुरु की सेवा करता है। सम्पूर्ण मानवता की सेवा करना ही गुरु का मिशन है और आत्म-ज्ञान के कारण ही उनमें महान् शक्ति होती है। इस सांसारिक धरातल पर भी गुरु का जीवन दिव्य-जीवन होता है। गुरु की सेवा में संन्यासी अनेक लोगों का कल्याण करता हुआ समर्पित और आसक्ति-मुक्त होकर काम करना सीखता है।

गुरु की शिक्षा का प्रचार

आश्रम का प्रशिक्षण पूरा करने के बाद गुरु प्राय: संन्यासी को परिव्राजक के रूप में अपनी शिक्षा का प्रचार करने के लिए भेजते हैं। इस प्रकार संन्यासी जगह-जगह घूम कर गुरु के मिशन का प्रसार करते हुए समाज की महत्त्वपूर्ण सेवा करता है। गुरु के निर्देशों के अनुसार, आध्यात्मिक शिक्षा देने के लिए पर्याप्त समय से अधिक वह एक स्थान पर नहीं ठहरता है। लोगों के बीच रहने के क्रम में उसे प्रिय और अप्रिय, दोनों प्रकार के अनेक अनुभव प्राप्त होते हैं। इस प्रकार जीवन और मानवता के सम्बन्ध में उसका ज्ञान बढ़ता जाता है और धारणाएँ विस्तृत होती जाती हैं।

कष्ट और असुविधाओं के अनुभवों के द्वारा संन्यासी में वैराग्य, सहनशक्ति और दृढ़-इच्छा-शक्ति का विकास होता है। एक भिक्षुक की भाँति भ्रमण करते-करते उसके कपड़े चिथड़े का रूप ले लेते हैं, वह अभिमान मुक्त हो जाता है और उसके अन्दर सच्ची विनम्रता तथा आत्म-समर्पण का

विकास होता है। ईश्वर और प्राकृतिक शक्तियों के साथ समस्वरता स्थापित करने के बाद वह यह समझने लगता है कि प्रकृति किस प्रकार अपने नियमों के अनुसार सभी जीवधारियों की मदद करती है। वह यह भी समझ जाता है कि वह परिस्थितियों का नहीं, बल्कि अपने ही मन, वचन और कर्म का शिकार होता है। वह अपने प्रति उत्तरदायी हो जाता है और दूसरों के सहारे के बिना रहना सीख लेता है। वह सबका मित्र होता है, साथ-ही किसी का भी मित्र नहीं होता। जब संन्यासी को यह ज्ञान हो जाता है कि वह शरीर नहीं, बल्कि शाश्वत चेतना, शिवोऽहम् है तो धीरे-धीरे उसके अन्दर से असुरक्षा की भावना और भय तिरोहित होते जाते हैं।



संन्यासियों का भोजन

यह सत्य है कि संवेदनशील प्राणियों के जीवन में भोजन का महत्त्वपूर्ण स्थान है, शायद इसीलिए भोजन तथा विभिन्न प्रकार के आहारों के विषय में बहुत कुछ कहा और लिखा भी गया है, किन्तु संन्यास जीवन में भोजन का न्यूनतम महत्त्व होना चाहिए। संन्यासी जीने के लिए खाता है, खाने के लिए नहीं जीता। वस्तुत: उसे भोजन करने के लिए अधिक समय ही नहीं रहता, वह क्या खाता है इसमें उसकी जरा भी रुचि नहीं रहती, बल्कि वह उतना ही खाता है जितने से उसका शरीर चलता रहे। सिद्धान्त संन्यासी आहार के मामले में मध्यम मार्ग अपनाता है – न बहुत अधिक, न बहुत कम। भोजन की अधिकता तमस्, भारीपन और मंदता उत्पन्न करती है, जबकि भोजन की कमी शरीर को दुर्बल बनाती और एकाग्र होने की क्षमता को कम कर देती है। इसकी भौतिक आवश्यकता के अतिरिक्त संन्यासी अपने आहार के विषय में बहुत कम सोचता है।

संन्यासियों को जिस प्रकार आहार लेना चाहिए, उसके विषय में सामान्यजन और संन्यासियों के बीच कुछ भ्रान्तियाँ हैं। कुछ लोग सोचते हैं कि चूँकि संन्यासी पवित्र होता है, अत: उसे प्रचुर मात्रा में सर्वोत्तम भोजन दिया जाना चाहिए। किन्तु संन्यासी के भोजन के विषय में अधिक महत्त्वपूर्ण है उसकी सादगी, उसकी उत्कृष्टता या मात्रा नहीं। भोजन जितना सादा होगा, संन्यासियों के लिए उतना ही उत्तम होगा। ढेर सारे महँगे और क्लिष्ट व्यंजनों की अपेक्षा संन्यासी के भोजन में दो या तीन सादे व्यंजन होने चाहिए। स्वामी सत्यानन्द सरस्वती ने संन्यासियों के लिए हमेशा दलिया-खिचड़ी खाने पर जोर दिया है, क्योंकि वह पाचन क्रिया को सुचारु रूप से चलने देती है।

भिक्षा के रूप में भोजन

संन्यासियों को अपने भोजन में प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट, विटामिन एवं खनिज इत्यादि की सन्तुलित मात्रा के विषय में अधिक चिन्ता नहीं करनी चाहिए। उन्हें यह समझना चाहिए कि उनके क्षेत्र में मौसम के अनुसार जो भी पैदावार होती है, उनमें शरीर के सम्पोषण के लिए आवश्यक सभी पौष्टिक तत्त्व होते हैं।

इसके अतिरिक्त जब शरीर और मन शुद्ध हो जाते हैं तो संन्यासी कोई भी आहार ग्रहण कर अपने शरीर के अन्दर सन्तुलित पौष्टिक तत्त्व उत्पन्न कर लेता है। यही कारण है कि पुराने संन्यासी प्रतिदिन भोजन के मात्र पाँच से आठ कौर खाकर जीवन निर्वाह करते थे।

संन्यास जीवन में प्रवेश करने के पूर्व भोजन के विषय में अपनी धारणाओं और व्यक्तिगत आवश्यकताओं को समर्पित करने के लिए तैयार रहना चाहिए। यदि कोई व्यक्ति भोजन के विषय में इस प्रकार की धारणाएँ रखता है कि 'मुझे तन्दुरुस्त रहने के लिए अधिक प्रोटीन खाना चाहिए', या स्वस्थ रहने के लिए मेरे शरीर को फल और हरी सब्जियों की आवश्यकता है, या मैं प्रतिदिन दूध, मक्खन और पनीर के बिना नहीं रह सकता, तो वह संन्यास जीवन की कठिनाइयों को झेल नहीं पायेगा। भोजन की इच्छा और उसे मिलने वाले आहार के प्रति अरुचि उसके मन को खींच कर पुन: पिछले जीवन में ले जायेगी और वह इस मार्ग को छोड़ कर चला जायेगा।

संन्यासी को जहाँ, जब, जो भोजन उपलब्ध हो उसी पर निर्वाह करना चाहिए। यदि चुनाव की गुन्जाइश हो, तो निस्सन्देह उसे सादे और हल्के भोजन का चुनाव करना चाहिए, क्योंकि वह सुपाच्य होता है। किन्तु सामान्यत: संन्यासियों को भोजन का चयन करने का अवसर कम ही मिल पाता है। संन्यासियों को उस संस्था से भोजन प्राप्त होता है जहाँ वे रह रहे होते हैं या उस क्षेत्र के लोगों से प्राप्त भिक्षा से जहाँ से वे गुजर रहे होते हैं, और वे उस भोजन को भिक्षा या प्रसाद के रूप में ग्रहण कर लेते हैं। अस्वीकृति या शिकायत के लिए कोई स्थान नहीं रहता, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि कैसा भोजन मिला है, संन्यासी को उसे कृतज्ञता और विनम्रता के साथ ग्रहण करना है।

रुचिमुक्त भोजन

कुछ लोगों को इस तरह की शिकायत करना अच्छा लगता है कि जब भोजन विशेष रूप से तैयार किया गया हो, तो वे कहेंगे– "ओह! मुझे तो सादा भोजन

पसंद है। गरिष्ठ और स्वादिष्ट भोजन का मेरे पाचन के साथ मेल नहीं बैठता है।" कुछ लोगों को भोजन के सादेपन की शिकायत करना अच्छा लगता है – "ओह! भोजन में तो कोई स्वाद ही नहीं है। तीन दिनों से लगातार हम लोग यही भोजन कर रहे हैं। मैं तो इस भोजन से तंग आ चुका हूँ।" किन्तु संन्यासी केवल मुस्कुराता है और प्राप्त होनेवाला कोई भी भोजन ग्रहण कर लेता है। उसके लिए कुछ भी अच्छा या बुरा नहीं होता। भोज हो या अकाल, उसके लिए सब समान है। वह शरीर को मात्र चलायमान रखने के लिए भोजन करता है।

उसे चिन्ता करने की क्या आवश्यकता है? उसे जो मिलता है, वह ग्रहण कर लेता है और उसके विषय में भूलकर शेष कार्य शरीर पर छोड़ देता है। यूँ भी हम लोग शरीर के लिए भोजन करते हैं, मन के लिए नहीं। यह आश्चर्य की बात है कि जब मन आहार के चयन में हस्तक्षेप नहीं करता, तो शरीर अधिक वर्षों तक अधिक स्वस्थ रहता है। जब तक न्यूनतम आवश्यक मात्रा में आहार लिया जाता है तब तक संन्यासी शरीर, मन और आत्मा से प्राय: स्वस्थ रहता है। संन्यासियों को वस्तु संग्रह नहीं करना चाहिए, साथ-ही शरीर को अनाज की कोठी भी नहीं बना लेना चाहिए। संन्यासियों को तुन्दिल और भारी शरीर वाला नहीं होना चाहिए।

चार मौलिक प्रवृत्तियाँ

यह कहा जाता है कि संसार के अधिकतर लोग चार प्रवृत्ति-मूलक इच्छाओं से नियन्त्रित होते हैं। ये चारों क्रमश: भोजन, सन्तान प्राप्ति, नींद और धन-सम्पत्ति की इच्छाएँ हैं। संन्यास जीवन में इन चारों इच्छाओं का परित्याग करना अनिवार्य है। जब तक आप भोजन की इच्छा का त्याग नहीं करेंगे तब तक सन्तानोत्पत्ति की इच्छा से मुक्त नहीं हो पाएँगे। तब ब्रह्मचर्य का पालन करना भी कठिन होगा। यदि आप अपने आहार को नियन्त्रित नहीं कर पाते हैं और ब्रह्मचर्य का पालन भी आपसे नहीं हो पाता है तो आप नींद पर भी नियन्त्रण प्राप्त नहीं कर पायेंगे।

सोने का अर्थ यह नहीं कि आप कितने घण्टे सोते हैं। यहाँ इसका तात्पर्य यह है कि नींद की अवस्था में आप अपनी चेतना को नियन्त्रित कर पाते हैं या नहीं। चेतना को अचेतन आयाम का भी भेदन करना चाहिए। अन्यथा आप समाधि की अवस्था में स्वयं को स्थित नहीं कर पायेंगे, क्योंकि आपको

समाधि की अवस्था तक पहुँचने के लिए बिना सजगता खोये नींद की सीमा से गुजरना पड़ता है। जब भोजन, सन्तान और नींद की इच्छायें नियन्त्रित हो जाती हैं तो संपत्ति की इच्छा जाग्रत ही नहीं होती। तब व्यक्ति सरलतापूर्वक संन्यासी का जीवन व्यतीत कर पाता है, अन्यथा नहीं।

अत: जहाँ तक संन्यासियों का प्रश्न है, भोजन की इच्छा को अच्छी तरह नियन्त्रित कर लेना अनिवार्य है। संन्यास की प्रारम्भिक अवस्थाओं में भी आहार विषयक नियन्त्रण, रुचिमुक्त भोजन और यदाकदा उपवास का अभ्यास करना चाहिए। शरीर को दुर्बल और कृश बनाने की दृष्टि से नहीं, बल्कि प्रथम और सर्वाधिक शक्तिशाली प्रवृत्ति पर नियन्त्रण पाने के लिए भोजन की इच्छा का त्याग किया जाता है, ताकि अन्य प्रवृत्तियों को भी नियन्त्रित किया जा सके। आपको एक मौलिक प्रवृत्ति के नियन्त्रण से प्रारम्भ करना चाहिए, तब अन्य प्रवृत्तियाँ स्वत: नियन्त्रित हो जायेंगी। यदि आप भोजन की इच्छा का त्याग नहीं कर सकते तो अन्य इच्छाएँ भी आपके नियन्त्रण से बाहर होती जायेंगी। यह संन्यास नहीं, बल्कि स्वयं को मूर्ख बनाना है। अपने प्रति ईमानदार होना चाहिए और आहार-नियन्त्रण का अभ्यास करना चाहिए।

आहार और गुण

आहार और गुणों के बीच इतना महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध है कि उसे अनेदखा नहीं किया जा सकता। यदि जीवन चेतना के विस्तार तथा अपने और ब्रह्माण्ड के प्रति सजगता को परिवर्द्धित और गहनतम करने की प्रक्रिया है तो आहार के संदर्भ में गुणों का तीन श्रेणियों में वर्गीकरण अत्यन्त सहायक होगा। गुण तीन प्रकार के होते हैं, जिनमें मानव-स्वभाव के विभिन्न पहलू अन्तर्निहित होते हैं। प्रत्येक प्राणी इन्हीं गुणों के प्रतिवर्तन-संयोजन का मूर्त रूप होता है। ये तीन गुण– *तमस्* (जड़ता), *रजस्* (गत्यात्मकता) एवं *सत्त्व* (साम्यावस्था) हैं।

तामसिक भोजन चेतना पर छा जाते हैं और उसे धुँधला बना देते हैं जिसके परिणामस्वरूप जड़ता, आलस्य, क्रूरता या क्रोध उत्पन्न होता है। बासी और सड़ा हुआ भोजन तामसिक होता है। इसके अन्तर्गत विशेष प्रक्रिया से अधिक दिनों तक रखा गया या सुखा कर रखा गया भोजन आता है। राजसिक भोजन इच्छाओं और आकांक्षाओं को सक्रिय कर देते हैं। इस प्रकार

के भोजन बेचैन, उत्तेजित और असन्तुष्ट बना देते हैं। राजसिक भोजन भी गर्म, तीखे, स्वादिष्ट, मसालेदार, गरिष्ठ और उत्तेजक होते हैं। सात्त्विक भोजन प्रशान्ति, जागरूकता, धैर्य और दृढ़ता उत्पन्न करते हैं। वे चेतना के विस्तार एवं आन्तरिक शान्ति के लिए अनिवार्य हैं। सात्त्विक भोजन सरल, प्राकृतिक, शुद्ध एवं पौष्टिक होते हैं। वे अधिक सुपाच्य होते हैं और शरीर में कम विष उत्पन्न करते हैं।

संन्यास की विभिन्न अवस्थाओं में विभिन्न प्रकार के भोजन की आवश्यकता होती है। उदाहरणार्थ, जिज्ञासु या कर्म संन्यासी को ऐसा भोजन चाहिए जो राजसिक और सात्त्विक प्रवृत्तियों में सन्तुलन कायम रख सके ताकि वे अपने सांसारिक उत्तरदायित्वों का निर्वाह करते हुए आध्यात्मिक जीवन व्यतीत कर सकें। वैराग्य संन्यासी जब आश्रम में है और गुरु के मिशन का प्रचार कर रहा है तब उसे राजसिक से अधिक सात्त्विक भोजन ग्रहण करना चाहिए। परमहंस संन्यासी को संन्यास की अन्य अवस्थाओं की अपेक्षा न्यूनतम मात्रा में विशुद्ध रूप से सात्त्विक भोजन लेना चाहिए।

गुणों के सिद्धान्त के बावजूद यह याद रखना चाहिए कि चेतना भोजन के प्रकार से कहीं अधिक शरीर की क्रियाओं और भोजन की स्वयीकरण प्रक्रिया को प्रभावित करने में सक्षम होती है। इतिहास साक्षी है कि परम्परा के संतों और संन्यासियों ने उच्चतर आध्यात्मिक अवस्थाओं की प्राप्ति के लिए लम्बे समय तक उपवास किया या न्यूनतम आहार पर जीवन-निर्वाह किया। वे प्राणिक या आध्यात्मिक ऊर्जा पर जीवन का निर्वाह करते रहे। इस प्रकार के साधु-संत सैकड़ों वर्षों तक जीवित रहे।

गहन साधना की अवधि में आहार

जो संन्यासी गहन साधना कर रहे हैं, उन्हें अपने भोजन के प्रति सावधान रहना चाहिए। शरीर का आन्तरिक तापमान, जो पाचन के लिए उत्तरदायी होता है, लम्बी साधना की अवधि में नीचे उतर जाता है। अधिक और गरिष्ठ भोजन के सन्तुलित पाचन के लिए शरीर का उच्च तापमान आवश्यक होता है। यदि संन्यासी गरिष्ठ भोजन लेकर साधना करता है तो धीरे-धीरे अपच, उच्च रक्त चाप, गठिया या हृदय सम्बन्धी समस्यायें उपस्थित होने लगती हैं। साधना के क्रम में केवल शरीर का तापमान नहीं गिरता, बल्कि पाचक रसों एवं एन्जाइमों के स्त्रवण में भी कमी आ जाती है।

समुचित पाचन के लिए पाँच पाचन एन्जाइमों का उचित मात्रा में उचित तापक्रम पर होना आवश्यक है। पाचन-तन्त्र के विभिन्न स्थलों पर इस तापमान में भी अन्तर होता है। छोटी आँत में लम्बे समय तक स्थिर तापमान होना चाहिए। आमाशय में भोजन के तीन घण्टे बाद तक उच्च तापमान आवश्यक है। यदि आमाशय में उच्च तापमान तीन-चार घण्टे से अधिक कायम रह जाये तो अति-अम्लता हो जाती है जिससे अल्सर उत्पन्न हो जाता है। यदि तापमान कम रहेगा तो अपच हो जायेगा। इसी प्रकार यदि छोटी आँत का तापमान अधिक रहेगा तो अतिसार, रक्ताभिसार या वृहदांत्र शोथ हो जायेगा। यदि तापमान कम रहेगा तो आमाशीय समस्यायें उत्पन्न होंगी और भोजन का समुचित स्वयीकरण नहीं होगा।

चूँकि शारीरिक तापमान लम्बी साधना और ध्यान से प्रभावित होता है, इसलिए संन्यासी अपना आहार समायोजित कर लेते हैं या भोजन की मात्रा घटा देते हैं। सर्वप्रथम सब्जियों को उबाल देना चाहिए, ताकि शरीर का निम्न तापक्रम पाचन क्रिया को बाधित न करे। तत्पश्चात् पाचन क्रिया को सुगम बनाने के लिए कुछ पाचक एन्जाइम तथा अम्ल भोजन में मिलाये जाने चाहिए। पपीता, अनानास तथा अंकुरित सेम में वस्तुत: पाचक इन्जाइम होते हैं। धनिया, काली मिर्च, हल्दी, सौंफ, जीरा, गोलमिर्च, सरसों एवं लहसुन-सभी में पाचक तत्त्व होते हैं। पुदीना, लहसुनघास, तुलसी और कपूर भी पाचन में मदद करते हैं।

कब और कितना खायें

मोक्ष की प्राप्ति तक संन्यासी के जीवन में भोजन की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। भोजन का प्रकार, ग्रहण की गयी मात्रा और भोजन का समय शारीरिक और मानसिक सन्तुलन को प्रभावित करते हैं। आयुर्वेदिक चिकित्सा पद्धति के जगत् विदित प्रतिपादक चरक के अनुसार, "व्यक्ति को समुचित मात्रा में भोजन करना चाहिए और जठराग्नि की शक्ति ही भोजन की समुचित मात्रा का निर्धारण करती है। आत्मनियन्त्रित व्यक्ति समय और मात्रा का ध्यान रखते हुए अपनी जठराग्नि को पौष्टिक भोजन और पेय से शान्त करता है।" पाचन क्रिया को अधिकतम प्रक्रियात्मक बनाने के लिए उदर को पचास प्रतिशत ठोस से, पचीस प्रतिशत तरल से और शेष पचीस प्रतिशत को या तो वायु से भरना चाहिए

या खाली छोड़ देना चाहिए। सामान्यतया संन्यासियों को इस नियम का अनुपालन करना चाहिए।

भोजन का समय भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि पाचन क्रिया सूर्य की स्थितियों से अधिकतम प्रभावित होती है। ग्यारह बजे दिन से एक बजे अपराह्न के बीच के समय में पाचन क्रिया पराकाष्ठा पर होती है। इसीलिए आश्रम के संन्यासी अपना मुख्य भोजन दिन के दस बजे लेते हैं। ऐसा करके वे पाचन सम्बन्धी समस्याओं से बचे रहते हैं। छ: बजे प्रात: जब सूर्य उदय हो रहा होता है तब हल्का नाश्ता लिया जाता है और पाँच बजे संध्या के समय जब सूर्य अस्त हो रहा होता है तब रात का हल्का भोजन लेते हैं। इस प्रकार पाचन की प्रक्रिया यथासमय पूरी हो जाती है और संन्यासी हल्के शरीर और मन के साथ साधना करते तथा सोते हैं। यदि संन्यासी ऊर्जा का उच्च स्तर कायम रखना चाहते हैं और साधना में प्रगति करना चाहते हैं तो उनके लिए नियमित भोजन आवश्यक है।



उदात्तीकरण और संन्यास

निस्सन्देह सभी कष्टों का मूल कारण इच्छा ही है। अनेक महान् विद्वानों ने इसकी उद्घोषणा की है। जब आपकी सजगता सांसारिक प्रवृत्तियों से ऊपर उठ जाती है, तब आप अपने अनुभवों के माध्यम से इस सत्य को पहचान सकते हैं। केवल संन्यास ले लेने से इच्छाओं से छुटकारा नहीं मिल जाता है। वस्तुत: संन्यास लेना बाघ को उसकी पूँछ से पकड़ने जैसा है, क्योंकि यहीं आप इच्छाओं की प्रचंड शक्ति के साक्षी होंगे। यदि इच्छा अपूर्ण रह जाती है या इसके विषय में कोई गलतफहमी हो जाती है, तो इसमें इतनी शक्ति होती है कि यह, विशेषकर संन्यास की प्रारम्भिक अवस्थाओं में मानसिक सन्तुलन को पूरी तरह विच्छिन्न कर देती है।

काम-वासना इतनी शक्तिशाली होती है कि बहुत सावधानी से और समझ के साथ इसका उदात्तीकरण होना चाहिए। संन्यासी यदि किसी प्रबुद्ध गुरु से प्रशिक्षण नहीं प्राप्त कर रहे हैं तो इसी बिन्दु पर आकर वे अपने पथ से विचलित हो जाते हैं। संन्यास में काम-वासना से शासित नहीं होना है, बल्कि उसका उदात्तीकरण करना है। इसके लिए विशेष प्रकार के मार्ग-दर्शन की आवश्यकता है, जो एक गुरु ही दे सकते हैं।

संन्यास-जीवन में काम-वासना ऐसी बलवती शक्ति है जिसे न तो दबाया जा सकता है और न ही उसका तुष्टिकरण हो सकता है। जब मन अनियन्त्रित रहता है, तो काम-वासना के तुष्टिकरण से भी कुछ लाभ नहीं होता, क्योंकि कामवासना को सन्तुष्ट करना ठीक वैसा ही है जैसे आग की लपटों को पेट्रोल से बुझाने का प्रयास किया जाये। साथ-ही काम शक्ति को दबाना या उसे स्वीकार न करना भी मानसिक विक्षिप्तता का कारण बन जाता है। चेतना के आरोहण में संन्यासियों को इस प्रकार की द्विविधाओं का सामना करना पड़ता है।

ब्रह्मचर्य की पुनर्परिभाषा

मनुष्य की आद्य शक्ति के उदात्तीकरण को ही ब्रह्मचर्य कहते हैं। संस्कृत में ब्रह्म का अर्थ है 'उच्चतर सत्ता' तथा 'चर्य' का अर्थ है 'में रहना'। इस प्रकार ब्रह्मचर्य का अर्थ हुआ उच्चतर सत्ता में रहना और सीखना। यह आध्यात्मिक जीवन का महान् आदर्श है। किन्तु विश्वपर्यन्त धार्मिक सम्प्रदायों ने इसकी भिन्न व्याख्याएँ की हैं। उनके अनुसार परस्पर यौन सम्बन्धों पर पूर्ण नियन्त्रण प्राप्त करना ही ब्रह्मचर्य है, क्योंकि कामेच्छा मनुष्य की प्रबलतम मूल-प्रवृत्ति-जन्य इच्छाओं में से एक है और इसे नियन्त्रित कर समुचित दिशा देना कठिन है।

ब्रह्मचर्य न तो यौन सम्बन्धों का कठोरता से परिहार करने से और न ही उसके दमन से प्राप्त होता है। इस संदर्भ में दमन शब्द का प्रयोग मनोविज्ञान में होता है, और परिहार एक व्रत है जिसका पालन धार्मिक संदर्भ में होता है। इन दोनों में से किसी का योग की क्रिया से कोई सम्बन्ध नहीं, जिसके द्वारा संन्यासी ब्रह्मचर्य की अवस्था में अवस्थित हो जाता है। यह शक्ति वीर्य से कहीं अधिक मन में स्थित है। केवल कामोत्तेजक स्पन्दन के उद्गम बिन्दु को नियन्त्रित कर मन को नियन्त्रित किया जा सकता है और ब्रह्मचर्य प्राप्त किया जा सकता है। इस उपलब्धि को प्राप्त करने के लिए अनुभूति बिन्दु को अन्तर्मुख करना होगा। योग तथा तन्त्र में इसे 'बिन्दु' कहते हैं।

बिन्दु दो रूपों में रहता है, उजला और लाल। जो वीर्य पुरुष के शरीर में उत्पन्न होता है वह योग और तन्त्र के अभ्यासों से आध्यात्मिक शक्ति 'ओजस्' में तत्त्वान्तरित हो जाता है। स्त्री-शरीर में ऋतुस्राव के रूप में जो रक्त स्राव होता है वह दूसरे प्रकार की आध्यात्मिक शक्ति 'रजस्' में रूपान्तरित हो जाता है। सूक्ष्म स्तर पर ये दो शक्तियाँ बीज रूप में उजले और लाल बिन्दुओं पर स्थित होती हैं। तन्त्र एवं योग के अनुसार इन दो बिन्दुओं को पूर्णता के साथ धारण किये रहना ही ब्रह्मचर्य है। तान्त्रिक योगी अपने बिन्दु को विचलित नहीं होने देता, क्योंकि वह जानता है कि उसे किस प्रकार धारण कर उसका उदात्तीकरण करना है। ब्रह्मचर्य को व्यक्तित्व की एक सकारात्मक अवस्था के रूप में समझना चाहिए। साथ-ही उच्चतर शक्ति को नष्ट नहीं होने देना चाहिए और उसे सजग चेतना के साथ व्यक्त करना चाहिए।

यह अवस्था बाह्य क्रियाओं से प्राप्त नहीं हो सकती। बाह्याचारों और शारीरिक संयम से ब्रह्मचर्य का पालन करना पर्याप्त नहीं है, यह ब्रह्मचर्य की स्थूल परिभाषा है। यहाँ मन का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। यदि संन्यासी शारीरिक रूप से यौन सम्बन्धों का परिहार करता है, किन्तु मन से वह काम कल्पना से मुक्त नहीं है, तो वह ब्रह्मचारी नहीं, भले ही उसने पचास वर्षों तक जीवन में संयम का पालन किया हो। दूसरी तरफ यदि वह मन को नियन्त्रित कर अनुभूति बिन्दु विलय कर देता है तो वह ब्रह्मचारी है।

वैदिक परम्परा

ब्रह्मचर्य का तात्पर्य केवल काम-वासना को संयत करने से नहीं है। वैदिक परम्परा में समाज को स्वस्थ और अनुशासित रूप-रेखा देने के लिए ब्रह्मचर्य की शिक्षा दी जाती थी। इसके द्वारा किसी व्यक्ति को उच्चतर अनुभूति हो या नहीं, किन्तु इसके द्वारा उसे सामाजिक और व्यक्तिगत जीवन में सौहार्द्रता, एकता, अनुरूपता और शुद्धता प्राप्त करने में सहायता मिलती है। ब्रह्मचर्य शारीरिक शक्ति, ताप, ऊर्जा, अवरोधक शक्ति, भव्यता, सहनशक्ति तथा भविष्य के अपने कर्मों को चुनने की सम्भावना देता है।

वैदिक परम्परा के अनुसार पचीस वर्ष की आयु तक किसी व्यक्ति को किसी पुरुष या स्त्री का स्पर्श नहीं करना चाहिए। उसके पूर्व तक व्यक्ति में शारीरिक, मनोवैज्ञानिक तथा भावनात्मक परिपक्वता नहीं आ पाती है। पूर्ण परिपक्वता प्राप्त करने के बाद व्यक्ति यौन सम्बन्धी अनुभूतियों को समझदारी के साथ सफलतापूर्वक अपने जीवन में सन्निहित कर सकता है। इसलिए वैदिक काल में आठ से पचीस वर्षों तक प्रत्येक व्यक्ति स्वयं को अध्ययन के प्रति समर्पित कर देता था। और उसके जीवन का यह भाग ब्रह्मचर्य जीवन के नाम से जाना जाता था।

जीवन के प्रथम पचीस वर्षों में व्यक्ति पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करता था। अगले पचीस वर्षों में वह यौन सम्बन्ध द्वारा अपने धर्म का पालन करता था। यह यौन सम्बन्ध सन्तानोत्पत्ति के लिए हो या सुख प्राप्ति के लिए या आत्मिक उत्थान के लिए, वह इस प्रकार का जीवन जीने के लिए बाध्य था। आध्यात्मिक जिज्ञासुओं को भी इस अवस्था से गुजरना पड़ता था। इसके बाद

के पचीस वर्षों में पति-पत्नी में शारीरिक सम्बन्ध नहीं रह जाते थे; वे भाई-बहन, मित्र, गुरु-शिष्य की भाँति रहते थे।

ब्रह्मचर्य की पूर्ण धारणा

युगों-युगों से ब्रह्मचर्य के विषय में विभिन्न विचार एवं धारणाएँ व्यक्त की जाती रही हैं, किन्तु तन्त्र और योग में इसकी सर्वोत्तम धारणा है। अपने साथी (पति/पत्नी) के लिए वासनारहित मन में आराधनापूर्ण अभिवृत्ति रखें। अपने विपरीत लिंग के प्रत्येक सदस्य को, वे कोई भी हों, आदर और सम्मान दें। आपका सम्बन्ध विपरीत लिंग के व्यक्ति से विभिन्न आधारों पर हो सकता है। आप अपने पति/पत्नी, माता/पिता, पुत्री/पुत्र एवं बहन-भाई के प्रति पूर्णतया मित्रवत् हो सकते हैं, उन्हें अपार स्नेह, पूर्ण प्रेम दे सकते हैं। यौन ही स्वयं को व्यक्त करने का एकमात्र साधन नहीं है।

ब्रह्मचर्य की अन्य सभी परिभाषाएँ अवैज्ञानिक आधार पर दी गयी हैं। अनेक परिभाषाएँ द्वन्द्व उत्पन्न कर देती हैं, किन्तु यौगिक दृष्टिकोण से दमन, प्रतिवाद या स्वेच्छाचार नहीं होना चाहिए। हो सकता है संन्यासी अत्यन्त कठोर संयम के साथ नैतिक, सदाचारपूर्ण और आध्यात्मिक जीवन व्यतीत कर रहा हो, किन्तु यदि यह केवल दमन की एक प्रक्रिया हो तो इस संयम का क्या मूल्य है? ब्रह्मचर्य की धारणा को समझना एक बात है, किन्तु उस अवस्था को प्राप्त करना दूसरी बात है और यह प्रक्रिया किसी भी प्रकार सरल नहीं है। ब्रह्मचर्य नियन्त्रण की एक अवस्था है जो गुरु के सर्वेक्षण में कठिन प्रशिक्षण द्वारा विकसित होती है। बिना अनुशासित जीवन शैली के, जिसमें शक्तियाँ सन्तुलित और नियन्त्रित रहती हैं, पूर्ण ब्रह्मचर्य धारण करना श्रेयस्कर नहीं है।

आधुनिक पाश्चात्य संस्कृति का अनुकरण करने वाले लोग ब्रह्मचर्य का अर्थ नहीं समझते, और इसीलिए उन्हें अनेक प्रकार की मनोवैज्ञानिक समस्याओं का सामना करना पड़ता है। अनेक लोगों ने ब्रह्मचारी बनने का प्रयास किया, किन्तु वे सफल नहीं हो सके, क्योंकि आज समाज की परिस्थितियाँ पूर्ण संयम या इन्द्रिय-निग्रह के उपयुक्त नहीं हैं। जब वे स्वयं को संयत नहीं रख पाते, तो उनका यह कुसंयम उनके आचरण में परिलक्षित होने लगता है। दमन के कारण अनेक बार न्यास-भंग होता है और अपराध बोध उत्पन्न होता है।

व्यक्ति को शारीरिक एवं मनोवैज्ञानिक, दोनों दृष्टिकोणों से ब्रह्मचर्य की पूर्ण धारणा होनी चाहिए। शरीर के अन्दर उत्पन्न होने वाले विभिन्न हॉरमोन व्यक्ति के कामाचरण को प्रभावित करते हैं। इन हॉरमोनों की मौलिक जानकारी और शरीर पर इनके प्रभाव को समझना आवश्यक है। ये किस प्रकार पुरुषों में जनन ग्रन्थि तथा जननांगों को और स्त्रियों में अण्डाशय को प्रभावित करते हैं? किस प्रकार के उद्‌दीपनों की प्रतिक्रिया स्वरूप ये हॉरमोन उत्पन्न होते हैं? क्या ये अण्डग्रन्थि को उद्‌दीप्त करते हैं? क्या अण्डग्रन्थि में वीर्य उत्पन्न होता है? वीर्य का स्खलन किस प्रकार कामोन्माद की अनुभूति देता है? किस प्रकार यह अनुभूति समाप्त होती है? व्यक्ति किस प्रकार काम सम्बन्धी भावनाओं का शिकार हो जाता है? इन सबका मन पर क्या प्रभाव पड़ता है? ब्रह्मचर्य के अर्थ का पुनर्मूल्यांकन करने पर इन सभी पक्षों को ध्यान में रखना होगा।

काम संयम कैसे स्थापित करें

अन्ततः ब्रह्मचर्य को मानव चेतना का एक अंग बनना है। ब्रह्मचर्य और दिव्यत्व प्राप्त करने का सबसे उत्तम उपाय यह है कि अपनी अभिवृत्ति को विरक्त, तपपूर्ण एवं आराधनात्मक बना दें। अपनी काम-वासना को, अनुराग को पूर्ण रूप से नियन्त्रित करना अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि बिना इसके ब्रह्मचर्य का पालन आत्म-वंचना है। निस्सन्देह यदि कोई ब्रह्मचर्य का पालन करता है, तो वह मात्र काम वासना से दूर रह कर नहीं, बल्कि स्वयं को कामुक कल्पनाओं से मुक्त रखकर तथा मन को रचनात्मक क्रियाओं में बाँधकर। ऐसा करने से प्रगति अधिक त्वरित हो जाती है। एक असंयत व्यक्ति को जो उपलब्धि छः वर्षों में होती है, वही उपलब्धि संयत व्यक्ति को एक वर्ष की अवधि में ही हो जाती है।

ब्रह्मचर्य के अन्तर्गत समुचित प्रेक्षण तथा इन्द्रियों से संचालित इस जगत् में अपनी अभिव्यक्तियों, भोग की प्रवृत्तियों को नियन्त्रित कर एक उत्कृष्ट मार्ग पर लगा देना सन्निहित है। आध्यात्मिक परम्परा में ब्रह्मचर्य स्थापित करने के लिए निम्नलिखित रूप में मार्गदर्शन दिया गया है–

- अपने समय को व्यवस्थित कर अपनी दिनचर्या की समय सारणी बनायें।
- अपने आहार को नियन्त्रित करें। भोजन में प्रोटीन की अधिकता यौन हॉरमोन को उद्‌दीप्त करती है।

- स्वयं को काम-कल्पना, कामुकता और काम-इच्छा से मुक्त करें।
- स्वयं को काम-वृत्तियों से दूर रखें।
- काम प्रवृत्त-स्पर्श, कामुक बातें, काम सम्बन्धी परिहास, कामुकतापूर्ण दृष्टि, व्यवहार, उपन्यास, चलचित्र, संगीत इत्यादि का परिहार करें। सामान्य बने रहें और काम-वासना को भूल जायें।
- स्वयं अपने लिए कुछ नियम निर्धारित करें और गम्भीरता से उनका पालन करें।
- अपने मुलायम बिस्तर को बदल दें और समुचित कठोर बिस्तर का उपयोग करें।
- कब्जियत से बचें।
- अपनी बिखरी हुई शक्तियों को सही दिशा देने के लिए आसन, प्राणायाम, मुद्रा एवं बन्धों का अभ्यास करें।

कार्य की आवश्यकता

संन्यास प्रशिक्षण के क्रम में काम-शक्ति पर निरन्तर ध्यान रखना चाहिए। इसकी अभिव्यक्ति को अवरुद्ध करने से जीवन की स्वाभाविक प्रक्रिया बाधित होती है, प्राण का क्षय होता है और परिणामस्वरूप हताशा तथा अन्य मानसिक समस्यायें उत्पन्न होती हैं। चिकित्सा विज्ञान ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है। हालाँकि जो ऊर्जा या शक्ति सांसारिक स्तर पर काम-सम्बन्धों में अभिव्यक्त होती है, वही सकारात्मक और रचनात्मक रूपों में अभिव्यक्त हो सकती है। जब विकासात्मक शक्ति को अभिव्यक्त होने से रोका जाता है तो वह विचलित होकर अचेतन (मूलाधार चक्र) में चली जाती है। वहाँ से रचनात्मक कार्यों तथा आध्यात्मिक क्रियाओं के द्वारा उसकी दिशा परिवर्तित करके उसे उच्चतर चक्रों की तरफ ले जाना चाहिए।

संन्यास-प्रशिक्षण के दौरान इस शक्ति को प्रतिदिन के कठिन कार्यों तथा रचनात्मक गतिविधियों में लगाया जाता है–इसमें मन की प्रत्येक क्षमता और योग्यता के साथ सम्पूर्ण प्रयास तथा सजगता की आवश्यकता होती है। अनवरत अभ्यास के द्वारा संन्यासी प्रबलता के साथ काम करना सीख जाते हैं, जिससे उनकी इस शक्ति को एक निश्चित दिशा मिल जाती है। जब यह शक्ति पूर्णतया रचनात्मक कार्यों में रूपान्तरित हो जाती है तब कामोत्तेजना या विक्षिप्तता के लिए कुछ शेष नहीं रह जाता है। यही कारण है

कि गत्यात्मक क्रियाओं के बीच भी संन्यासी पूर्णत: तनावमुक्त रहता है। यह शक्ति उच्चतर सजगता की अग्नि में परिष्कृत हो जाती है।

यदि संन्यासी इस प्रकार नियमित रूप से प्रतिदिन कार्य करना नहीं सीखता तो उसकी यह शक्ति कामोत्तेजना, आक्रोश या मानसिक तनाव उत्पन्न कर देती है। अनेक मठों में, जहाँ कठिन कर्मयोग का अभ्यास नहीं कराया जाता है, बल्कि पूरा समय अध्ययन एवं प्रार्थना में ही व्यतीत होता है, वहाँ संन्यासियों की ऊर्जा इसी प्रकार व्यर्थ में नष्ट हो जाती है। अपनी शक्तिशाली प्रवृत्तियों को सफलतापूर्वक उचित दिशा देकर उच्चतर अनुभूतियों और उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए संन्यासी को अनेक वर्षों तक कम खाना चाहिए, कम सोना चाहिए और अपने कार्य में पूर्णतया संलग्न रहना चाहिए।

जब ऊर्जा का पुनर्संयोजन हो जाता है तो संन्यासी अपने आध्यात्मिक जीवन में दृढ़तापूर्वक स्थापित हो जाता है, उसका मन और उसकी भावनाएँ भी स्थिर और अनुशासित हो जाती हैं। तब वह गहन कार्य-योजना को कायम रखने के लिए बाध्य नहीं होता है। वह शान्ति से बैठा रह सकता है या बिना किसी कष्ट के सारा दिन कार्यरत रह सकता है, क्योंकि उसे मानसिक और भावनात्मक विसंगतियाँ परेशान नहीं करती हैं। वह अपनी जीवन-धारा का मार्ग-सन्चालन करना सीख जाता है और इसका रचनात्मक, मानसिक और आध्यात्मिक स्तरों पर उपयोगितापूर्ण ढंग से प्रयोग करता है।

जब ऊर्जा का प्रवाह स्थापित हो जाता है तो यह प्रक्रिया सहज-स्वत: चलती है। जो कुण्डलिनी शक्ति सामान्य स्त्री-पुरुषों में दैहिक स्तर पर काम-क्रियाओं को संचालित करती है, वही आध्यात्मिक स्तर पर रूपान्तरित हो जाती है। इस प्रकार संन्यासी क्षणभंगुर सुखों के कुण्ड के ऊपर उठकर नवजीवनपूर्ण भावातीत आनन्द का अनुभव करता है। इस प्रकार के संन्यासी मानव-रत्न के समान हैं। वे मानव-जाति के लिए प्रकाश-स्तम्भ हैं, हम सब के लिए उच्चतर सम्भावनाओं के जीवन्त उदाहरण हैं।

दमन और नियन्त्रण

संन्यास जीवन में इच्छाओं के दमन और उनके नियन्त्रण के अन्तर को समझना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। दोनों में बहुत बड़ा अन्तर है, हालाँकि दोनों में ही इन्द्रियों की अभिव्यक्ति में परिवर्तन या उनके तुष्टिकरण के लिए इच्छा-शक्ति का उपयोग किया जाता है। नियन्त्रण का अर्थ है उच्चतर अनुभवों के लिए इन्द्रियों को अनुशासित करना। दमन का अर्थ है विभिन्न कारणों से इच्छाओं को व्यक्त नहीं होने देना–यह कारण भय, अक्षमता, कोई भ्रम या नासमझी भी हो सकती है। दमित शक्ति नकारात्मक तथा विकृत विचार उत्पन्न कर मन को अशान्त कर देती है। दमन करने पर आपका व्यक्तित्व उसे रोकता है या अस्वीकार करता है जो आप कर रहे हैं। यह चेतन और अवचेतन व्यक्तित्व में भयंकर तनाव उत्पन्न कर देता है।

जबकि नियन्त्रण में मन के दोनों तत्त्वों के बीच अनुरूपता होती है। संन्यासी जब नियन्त्रण कर रहा होता है तो स्वयं को अच्छी तरह समझ रहा होता है तथा अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए अपनी इच्छाशक्ति का उपयोग करता है। स्वयं को दमित कर व्यक्ति यदि कुछ करना चाहे तो कर नहीं पाता है। मन दो विपरीत शक्तियों के बीच बँट जाता है, एक अनन्त युद्ध छिड़ जाता है। दोनों विपरीत शक्तियों में वर्चस्वता के लिए प्रतिस्पर्धा चलने लगती है। तनावयुक्त और विक्षिप्त व्यक्तित्व में भयंकर द्वन्द्व परिलक्षित होने लगता है। जब 'स्व' को अस्वीकृत किया जाता है, दृष्टि धुँधला जाती है और मन युद्ध क्षेत्र बन जाता है। किन्तु नियन्त्रण में मन के सभी तत्त्व उद्देश्य की प्राप्ति के लिए समायोजित होकर क्रियाशील रहते हैं, 'स्व' की पुष्टि करते हैं। दमन और नियन्त्रण में यह आधारभूत अन्तर है।

व्यक्ति दमन के परिणामस्वरूप चेतना पर उभरे नकारात्मक पक्ष का सामना नहीं करना चाहता। या तो उन्हें पूरी तरह अस्वीकार कर दिया जाता है या उन पर कम-से-कम ध्यान दिया जाता है। उन्हें न तो कभी ईमानदारी से समझने का प्रयास किया जाता है और न ही उनका विषयनिष्ठ मूल्यांकन होता है। इसके द्वारा अपना एक अंग स्वयं से कटता चला जाता है। एक साम्राज्य, जो स्वयं अपने विरोध में ही बँट जाता है, खड़ा नहीं रह सकता। इस प्रकार मन के किसी एक तत्त्व को दमित कर आध्यात्मिक उद्देश्यों की प्राप्ति नहीं हो सकती है। जब मन बँट कर बिखर जाता है तो शारीरिक और मानसिक शक्तियाँ व्यर्थ हो जाती हैं तथा भावातीत अनुभूतियों का अन्वेषण अधूरा रह जाता है।

जब दमन की प्रक्रिया चलती है तो व्यक्ति की पूर्णता भंग हो जाती है और वह अपने उद्देश्यों के साथ एकाकर नहीं हो पाता। जब दमित व्यक्ति नकारात्मक भावनाओं का अनुभव करता है तो वह इस अपराध बोध से ग्रस्त हो जाता है कि उसे जो अनुभव हो रहा है, वैसा नहीं होना चाहिए। जबकि संन्यासी जो नियन्त्रण और आत्मानुशासन का अभ्यास कर रहा है, उसे यह ज्ञान है कि समय-समय पर नकारात्मक भावनाओं का उभरना अवश्यंभावी है। इन्हें पूरी तरह अनुभव करना है ताकि ये दमित न रहें और चेतना की गहराइयों में जाकर मानसिक अवरोध उत्पन्न नहीं करें। व्यक्ति को सकारात्मक या नकारात्मक, जो भी अनुभव होते हैं, बिना उल्लसित या हताश हुए पूर्ण सजगता के साथ उनका सामना करना चाहिए।

मन का नियन्त्रण

दमन के द्वारा विचारों और अनुभूतियों को अस्वीकार किया जाता है। संन्यासी के लिए यह मार्ग उचित नहीं है। अपने विचारों और अनुभूतियों के प्रति पूर्णतया सजग होना बेहतर है। जब संन्यासी विचारों के सकारात्मक-नकारात्मक तथा रचनात्मक-विनाशात्मक पक्षों को विषयनिष्ठ साक्षी के रूप में देखता है तभी वह अपनी सजगता के विस्तार के लिए सम्पूर्ण मन को निश्चित दिशा देने का कठिन कार्य सफलतापूर्वक कर पाता है।

यह कार्य सम्पूर्ण मन को स्वीकार करने से प्रारम्भ होता है। यह कभी मन के एक भाग को दबा कर नहीं किया जा सकता। दमन के द्वारा असफलता अवश्यंभावी होती है। हो सकता है तुरन्त ऐसा न हो, किन्तु अन्तत: असफलता

आयेगी ही। आध्यात्मिक ऊँचाइयों पर पहुँचने के बाद भी जिज्ञासु की दमित इच्छाएँ उसे नीचे गिरा ही देती हैं। संन्यास और धार्मिक जीवन में यही अन्तर है। धार्मिक व्यक्ति अनुकूलन, दमन, निषेध और अपराध-बोध का प्रयोग करते हैं। इनके द्वारा जिज्ञासु संत जैसा अनुकरणीय आचरण कर सकता है, किन्तु ये उसे सत्य के ज्ञान तक नहीं पहुँचने देते और वह मुक्त नहीं हो पाता है।

अन्ततोगत्वा व्यक्तित्व का विकास अवरुद्ध हो जाता है, किन्तु इसके साथ उसमें विकृति और क्रूरता आ जाती है। जहाँ दमन के द्वारा आचरण में परिवर्तन का प्रयास किया जाता है, वहाँ मन अपनी स्वाभाविक अभिव्यक्ति को दबाते-दबाते दुर्बल हो जाता है। दमन के द्वारा प्रतिबन्धित व्यक्तित्व अन्तत: टूट जाता है। इसलिए उपलब्धि कितनी भी उत्तम हो, सम्पूर्ण आध्यात्मिक अट्टालिका कम्पायमान ही रहती है, ठीक उसी प्रकार जैसे कमजोर नींव पर खड़ा प्रासाद अवश्य गिरता है।

इसलिए संन्यासी अपने मन को प्रारम्भ से ही अन्य प्रकार से नियन्त्रण में रखना सीखता है। वह अपने मन के किसी पक्ष को अस्वीकार नहीं करता, बल्कि उसे उसकी पूर्णता के साथ स्वीकार करता जाता है। उसे किसी बात के लिए स्वयं को अपराधी अनुभव करने की क्या आवश्यकता है? मन के नकारात्मक पक्ष भी हो सकते हैं, किन्तु उन्हें स्वीकार करना चाहिए, अन्यथा प्रारम्भ से ही व्यक्तित्व टुकड़ों में बँट कर दुर्बल हो जायेगा। इस प्रकार संन्यासी मन की स्वीकृति के आधार पर मानसिक शक्ति और नियन्त्रण को विकसित करना सीखता है। एक संन्यासी अपने मन से भयभीत नहीं होता, न ही वह इसके लिए स्वयं को दोष देता है।

संन्यासी अपने मन के प्रति भयमुक्त होता है। जो भी स्थिति आये वह युद्ध क्षेत्र के वीर की भाँति उसका सामना करने को तत्पर रहता है। वह मन के साथ संघर्ष करता रहता है। संन्यासी विचलित भी हो सकता है, गिर भी सकता है, किन्तु वह हमेशा उठ खड़ा होता है। वह जानता है कि विजय उसी की होगी, उसे केवल संघर्षरत रहना है। अन्तत: वह अपने मन के साथ अवश्य सन्तुलन स्थापित करेगा। यही शान्ति है जो उपलब्धि पर आधारित है। बिना संघर्ष किये शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती। सर्वप्रथम संन्यासी को देखना है कि वह अनुकूलन की किस अवस्था से बँधा हुआ है। तब उसे अपने गुरु के मार्गदर्शन में उनके आशीर्वाद के साथ निर्भीक होकर उन बन्धनों को

एक-एक कर खोलते जाना चाहिए। संन्यासी एक अद्भुत व्यक्तित्व होता है। वह अनुकूल एवं प्रतिकूल परिस्थितियों में समान रूप से कृतसंकल्प, सन्तुलित और अप्रभावित रहता है। वह आनन्द और कष्ट, संतृप्ति और अभाव को समान रूप से स्वीकार करना सीखता है। वह दोनों के बीच आनन्दपूर्वक रहता है।

स्वामी कौन है?

वह जो अपने मन पर शासन करता है, स्वामी है। संन्यासी अपनी मानसिक शक्ति, सन्तुलन और सहनशीलता के द्वारा अहंकार, लालसा, क्रोध, आसक्ति एवं इच्छाओं की सीमा को पार कर जाता है। वह इस बात से अप्रभावित रहता है कि लोग उसके विषय में क्या सोचते हैं। वह कष्टपूर्ण स्थितियों-अपमान, अपशब्द, व्यंग्य, दोषारोपण और कलंक का भी स्वागत करता है, ताकि प्रतिकूलताओं का वह दृढ़तापूर्वक सामना कर सके। वह विषमताओं के बीच भी प्रत्येक कदम पर सन्तुलन, धैर्य और आन्तरिक शान्ति बनाये रखता है। उसके लिए स्नेह, आदर, सम्मान और प्रशंसा विष के समान हैं। उसका अन्त:करण इन सबको स्वीकार नहीं करता।

संन्यासी अपनी इन्द्रियों का पूर्णरूपेण उपयोग करता है, किन्तु मन का स्वामी बना रहता है। वह काम-लिप्सा से दूर रहता है, क्योंकि इससे आसक्ति उत्पन्न होती है, किन्तु अपनी उच्चतर सजगता को विकसित करने के लिए अपनी इन्द्रियों का सदुपयोग करता है। वह जीवन से विमुख नहीं होता, बल्कि उसे पूरी तरह पुष्ट करता है, क्योंकि वह जीवन के उद्देश्य को समझता है। संन्यासी बनने के लिए व्यक्ति का कुछ करना या नहीं करना जितना महत्त्व रखता है उससे कहीं अधिक उसकी उस समय की मनोदशा का महत्त्व होता है जिस समय वह किसी कार्य को क्रियान्वित कर रहा होता है। अष्टावक्र गीता में कहा गया है–

मोक्षो विषयवैरस्य बन्धो वैषयिको रस: ।
एतावदेव विज्ञानं यथेच्छसि तथा कुरु ॥

अर्थात् विषयों में नीरसता मोक्ष है, विषयों में रस लेना ही बन्धन है। बस यही ज्ञान है, अब जो इच्छा हो करो।

यदि किसी व्यक्ति में काम-वासना बहुत प्रबल है तो उसे यह नहीं समझना चाहिए कि वह संन्यास लेने योग्य नहीं है। वह अपनी इन्द्रियों की अभिव्यक्ति को अनुशासित कर संन्यास के पथ पर आगे बढ़ सकता है। अपनी आवश्यकताओं से किसी को मुँह नहीं मोड़ना चाहिए। सभी संन्यासियों को अपनी इन्द्रियों का उपयोग सुखोपभोग के लिए नहीं, बल्कि ज्ञान प्राप्त करने के लिए करना चाहिए। संन्यासी को अपने इन्द्रियजन्य अनुभवों का तथा मन की उन प्रतिक्रियाओं का प्रेक्षण करते रहना चाहिए, स्वयं को उसमें डुबो नहीं देना चाहिए। यही मुक्ति और आनन्द का मार्ग है।

बहुत लोग पूछते हैं कि क्या संन्यास उनके लिए उपयुक्त है जो अपने अनेक कर्मों में उलझे हुए हैं। इसका उत्तर यह है कि संन्यास उनके लिए है जिनमें दृढ़ इच्छा शक्ति तथा कर्मों के बावजूद इस पथ पर चलने के लिए मानसिक शक्ति है। गुरु यह निर्णय लेते हैं कि शिष्य संन्यास के योग्य है या नहीं। यदि उसमें मन के घातक आक्रमणों का सामना करने की शक्ति है तो गुरु उसे संन्यास जीवन में प्रवेश करने की आज्ञा देते हैं। अन्यथा प्रारम्भ में वे उसे जिज्ञासु या कर्म-संन्यास लेने की सलाह देते हैं ताकि उसकी कोई आध्यात्मिक पहचान बन जाये और उच्चतर लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अपनी इच्छा के प्रति वह सजग हो जाये।



आध्यात्मिक डायरी

अपने आध्यात्मिक जीवन की प्रगति का मूल्यांकन करने के लिए प्रत्येक संन्यासी को एक आध्यात्मिक डायरी रखनी चाहिए। यह डायरी सचेतक की भाँति मन पर अंकुश रखती है। यह आपके शिक्षक और मार्गदर्शक के समान है। यह आपको अपने अवगुणों को सुधारने और आपकी नियमित साधना में सहायता करेगी। यह मुक्ति और आनन्द का मार्ग दिखलाती है। जो अपना त्वरित विकास चाहते हैं, उन्हें अपनी प्रत्येक क्रिया का लेखा-जोखा रखना चाहिए। यदि आप नियमित रूप से डायरी रखते हैं तो आध्यात्मिक पथ पर आपकी तीव्र प्रगति होगी।

आपको अपनी डायरी में प्रत्येक बात अंकित करनी चाहिए। आपको अपनी दुर्बलताओं और त्रुटियों को छिपाना नहीं चाहिए। स्वयं को सुधारने, आदर्श बनाने, अपनी दुर्बलताओं और त्रुटियों को दूर करने, आध्यात्मिक प्रवृत्ति का विकास करने तथा आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिए डायरी रखी जाती है। यदि संन्यासी ईमानदार है तो डायरी मूक मार्गदर्शक की तरह उसकी आँखें खोलेगी और उसकी आध्यात्मिक उपलब्धि का मार्ग प्रशस्त करेगी।

डायरी रखने से समय का महत्त्व समझ में आने लगता है। प्रत्येक माह के अन्त में आप गणना करें कि आपने कुल कितने घण्टे जप में, आध्यात्मिक पुस्तकों के अध्ययन में, साधना में, सोने इत्यादि में व्यतीत किये हैं। तब आप यह जान पायेंगे कि आप अपना कितना समय आध्यात्मिक क्रियाओं में व्यतीत कर रहे हैं और कितना समय व्यर्थ नष्ट कर रहे हैं। इस प्रकार आप अपने जप एवं साधना की अवधि को बढ़ा सकते हैं। यदि आप प्रत्येक बात को बिना किसी त्रुटि के अपनी डायरी में लिखते हैं तो आप अपना एक क्षण भी व्यर्थ गँवाना नहीं चाहेंगे। तब आप समय का महत्त्व अच्छी तरह समझ पायेंगे और देखेंगे कि समय किस प्रकार भागता जाता है।

डायरी लिखने के साथ-साथ आपको अपनी क्षमता और परिस्थिति के अनुसार कुछ संकल्प लेने होंगे और किसी भी कीमत पर उनका पालन करना होगा। संकल्प सकारात्मक और नकारात्मक दोनों प्रकार के होते हैं। प्रत्येक नकारात्मक संकल्प के अनुरूप एक सकारात्मक संकल्प भी होना चाहिए। अन्यथा नकारात्मक संकल्प अनावश्यक उलझाव पैदा कर देंगे। जितने अधिक सम्भव हो उतने संकल्प बनायें। आप संकल्प बनाते ही पूर्णता नहीं प्राप्त कर लेंगे। कभी प्रयास नहीं करने से अच्छा है कि प्रयास करके विफल हुआ जाये।

आपको अपनी सभी कठिनाइयों और जटिलताओं को टिप्पणित करना होगा और उन्हें साधना की जगह पर सावधानी से रखना होगा। जब कभी आप अशान्त और अवसाद ग्रस्त हों, तो वहाँ बैठकर थोड़ी देर ध्यान करें और उन टिप्पणियों तथा संकल्पों को पढ़ें। इससे आपके मन को शान्ति मिलेगी, और आपकी नकारात्मक अनुभूतियाँ तथा शंकाएँ दूर हो जायेंगी।

अपनी डायरी कैसे बनायें?

यहाँ सभी की प्रकृति के अनुरूप कुछ प्रश्न संकलित किये गये हैं। इन प्रश्नों को वर्गीकृत कर स्तम्भों के अन्तर्गत अंकित करें। प्रश्नों का एक वर्ग एक सप्ताह के लिए होगा। प्रत्येक प्रश्न के बाद दैनिक गतिविधियों को अंकित करने के लिए पर्याप्त स्थान छोड़ दें। दैनिक गतिविधियों के बाद सोने, साधना, जप की मालाओं की संख्या इत्यादि में व्यतीत हुए कुल समय के योग के लिए खाली स्थान छोड़ दें। माह के अन्त में सच्चाई और ईमानदारी से किये गये आत्म-अवलोकन के चार्ट का अध्ययन करें और अपनी प्रगति का निर्धारण करें। अपनी प्रगति का मूल्यांकन करने का एक अन्य साधन यह भी है कि समय के कुल योग या विभिन्न प्रश्नों के सम्बद्ध 'हाँ' और 'नहीं' की संख्या के कुल योग को ग्राफ पर एक सप्ताह की अवधि में अंकित कर दें। प्रत्येक गुण के लिए इसी प्रकार का ग्राफ बनायें। तीन माह तक इस प्रकार ग्राफ में अवलोकनों को अंकित करने के बाद देखें कि कैसा स्वरूप उभरता है। इसके आधार पर आप अपना विश्लेषण कर सकते हैं। मनन के द्वारा आप अपने प्रत्येक आचरण के प्रति और विभिन्न परिस्थितियों में मन में होने वाली प्रतिक्रियाओं के प्रति अत्यधिक सजग हो जायेंगे।

आध्यात्मिक डायरी के लिए प्रश्न

1. आप प्रातः कितने बजे उठे?

इस प्रश्न का तात्पर्य आपको अपनी आदत के खिलाफ जल्दी उठने के लिए दबाव डालना नहीं, बल्कि अपनी आदतों को नया रूप देना है। आप उठने के समय का साप्ताहिक या मासिक औसत निकालें।

2. आप कितने घण्टे सोये?

अनेक व्यक्ति इस प्रश्न पर भ्रमित हो जाते है, क्योंकि वे सोने के न्यूनतम और अधिकतम समय का निर्धारण नहीं कर पाते हैं। हम लोगों को उतना सोना आवश्यक है जितने समय में शरीर-तन्त्र का पर्याप्त विकार्बनीकरण हो जाए। इस प्रक्रिया में विभिन्न व्यक्तियों की आवश्यकता एक-दूसरे से भिन्न होती है। बुद्धिजीवियों के लिए औसतन छः घण्टे, श्रमिकों के आठ घण्टे और साधकों के लिए चार घण्टे सोना आवश्यक है। जिसे समाधि की अवस्था प्राप्त हो गई है, उसे सोने की आवश्यकता नहीं होती है। आवश्यकता से अधिक सोने के पीछे मुख्यत: दो कारण होते हैं। या तो शारीरिक-प्रणाली में विषाक्त तत्त्व जमा हो गये हैं, या मनोवैज्ञानिक दमन या गहरा तनाव है। एक सामान्य व्यक्ति आवश्यकता से अधिक नहीं सोता है। आप सात्त्विक भोजन के द्वारा तनावमुक्त होकर तथा साधना का अधिक अभ्यास करके अपने सोने के समय को न्यूनतम कर सकते हैं।

3. आपने आसन-प्राणायाम का अभ्यास कितनी देर किया?

कुछ ऐसे आसन चुन लें जो आपके लिए सर्वाधिक उपयुक्त हों या गुरु ने आपको बताये हों, उनका नियमित रूप से अभ्यास करें। उसके बाद प्राणायाम करें। इन दोनों में लगभग तीस मिनट का समय लगना चाहिए।

4. जप की कितनी मालाएँ पूरी हुईं? कितने मिनटों तक ध्यान किया?

यह महत्त्वपूर्ण है। इसलिए एक दृढ़ संकल्प लें कि आपको प्रतिदिन एक निश्चित संख्या में मालाएँ पूरी करनी हैं या एक निश्चित समय तक ध्यान करना है। अति उत्साहित होना भी ठीक नहीं है। गुरुमन्त्र का ही जप करना चाहिए।

5. आपने कितनी देर कर्म योग किया?

किये गये कार्य के कुल घण्टों की संख्या लिखें। यदि आप प्रत्येक कार्य चेतनता के साथ ध्यान देकर करें तो वह कर्मयोग हो जाता है। जब यान्त्रिक ढंग से कोई कार्य करते हैं तो वह कर्म होता है। एक कर्म योगी इस बात के प्रति सचेत रहता है कि वह कोई कार्य-विशेष कर रहा है, यह कर्म योग है। जब आप कोई कार्य बिना ध्यान दिये हुए करते हैं तो वह कर्म हो जाता है। कर्म योग के अभ्यास के द्वारा आप में अनासक्ति का विकास होता है और आप बाह्य प्रभावों से अछूते रहते हैं। जब कोई कार्य अनासक्त होकर करते हैं तो आप शान्ति का अनुभव करते हैं। कर्म योग अनासक्ति विकसित करने का सर्वोत्तम साधन है। प्रत्येक विचार, शब्द और कार्य सजगतापूर्ण होना चाहिए। यदि आप सजगता का अभ्यास करते हैं तो बहुत कम समय में अनासक्ति का गुण आप में विकसित होगा। सफलता-विफलता, जय-पराजय, सुख-दुःख आपके मन को प्रभावित नहीं करेंगे।

6. आप कितनी बार क्रुद्ध हुए? स्वयं को परिशोधित करने की प्रक्रिया क्या थी?

यदि आप क्रुद्ध होते हैं तो स्वयं को परिशोधित करना चाहिए। दण्ड के रूप में अपनी सबसे प्रिय वस्तु को त्याग देना चाहिए। यदि आप अपनी अवांछित क्रियाओं के लिए स्वयं को हर बार दण्डित नहीं कर सकते, तो माह के अन्त में स्वयं को संचित दण्ड दें। क्रुद्ध होने से कोई लाभ नहीं। आपको अपने अविवेक और अपनी मूर्खता को सुधारना चाहिए। आपको उस व्यक्ति से अपने दुर्व्यवहार के लिए क्षमा याचना करते हुए यह आश्वासन देना चाहिए कि आप स्वयं को अवश्य सुधार लेंगे। यह आपको निर्धारित करना है कि आप अपने क्रोध का प्रतिकार किस प्रकार करेंगे। यह याद रखें कि क्रोध की अवस्था में कुछ भी नहीं करें। तभी कुछ करें जब आपका मन शान्त हो।

7. आप कौन-से सद्गुण का अपने अन्दर विकास करने का प्रयास कर रहे हैं?

सर्वप्रथम एक सद्गुण विकसित करने का संकल्प लें, किन्तु यह कठिन नहीं होना चाहिए। उदाहरणार्थ, आप कम बोलने का संकल्प लेकर बेतुकी, सनसनीखेज, और व्यर्थ की बातों से बचें। इसी प्रकार हर माह एक-एक कर धैर्य, सहायता तथा

ऐसे ही अन्य गुण विकसित करते जायें। यदि आप वांछित गुण को कायम रखने में सफल होते हैं तो स्तम्भ में हाँ लिखें, यदि विफल होते हैं तो 'नहीं' लिखें।

8. आप कौन-से अवगुण को दूर करना चाह रहे हैं?

किसी जटिल अवगुण से प्रारम्भ नहीं करें। उदाहरण के लिए, आप इस प्रकार संकल्प कर सकते हैं, 'मैं कठोरता से नहीं बोलूँगा।' बाद में आप इसी प्रकार ईर्ष्या, आलोचना इत्यादि को लें। पिछले प्रश्न की भाँति यदि आप संकल्प को पूरा करने में सफल हुए तो 'हाँ' लिखें, विफल हुए तो 'नहीं' लिखें।

9. क्या आप ब्रह्मचर्य कायम रखने में विफल हुए?

विपरीत लिंग के प्रति वासना, आकर्षण या सम्मोहन तथा कामोत्तेजक स्वप्न के कारण ब्रह्मचर्य का पथ विचलित हो जाता है।

10. क्या आपको लोभ का अनुभव हुआ?

भोजन, वस्त्र, प्रतिष्ठा, अधिकार, यश आदि प्राप्त करने के लोभ इसके अन्तर्गत आते हैं।

11. आपने स्वाध्याय में कितना समय व्यतीत किया?

स्वाध्याय संन्यास जीवन का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। प्रतिदिन कम-से-कम एक घण्टा स्वाध्याय के लिए निर्धारित होना चाहिए। अपने आध्यात्मिक ज्ञान एवं आधार को उन्नत और परिपुष्ट करने के लिए सावधानीपूर्वक पुस्तकों का चयन करना चाहिए।

12. आपने कितना समय व्यर्थ गँवाया?

गपशप, उपन्यास, पत्रिका, समाचारपत्र, टेलीविजन, वीडियो, दिवास्वप्न–इन सब में समय नष्ट होता है।

13. आप कितनी देर मौन रहे?

प्रत्येक दिन कुछ समय मौन के लिए रखें। जैसे भोजन के समय या शाम के छः बजे से प्रातः छः बजे तक। प्रति सप्ताह एक दिन का मौन रखना भी श्रेयस्कर होगा।

स्त्रियाँ एवं संन्यास

अनन्तकाल से विश्व की विभिन्न संस्कृतियों में स्त्रियों को पुरुषों के प्रभुत्व में रहना पड़ा है। इस शताब्दी में स्त्रियों को समानता का जो मौलिक अधिकार मिला है, वह इसके पूर्व तक नहीं था। विश्व के अनेक धर्मों में स्त्रियों को उच्चतर आध्यात्मिक जीवन में प्रवेश की मनाही थी। शायद पुरुष अपने भौतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए स्त्रियों का शोषण करना चाहते थे। यदि स्त्रियों को आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करने की अनुमति दी जाती या उन्हें अपनी सजगता को उन्नत करने के लिए प्रेरित किया जाता तो उनका उपभोग या शोषण सम्भव नहीं होता। इसलिए स्त्रियों को घर की सीमा में बाँध दिया गया; उनके जीवन का एक मात्र उद्देश्य था–पति की सेवा करना और संतान उत्पन्न करना। वे परिस्थितियों की इस प्रकार से मानसिक गुलाम हो गयीं कि वे यह कल्पना भी नहीं कर पाती थीं कि अपने शोषण का प्रतिकार भी किया जा सकता है।

वैदिक शास्त्रों में स्त्रियों को पुरुषों से भिन्न आध्यात्मिक स्थिति में रखा गया था। उन्हें पुरुषों के समान आध्यात्मिक जीवन या संन्यास को सामान्य जीवन के विकल्प के रूप में चुनने का अधिकार नहीं था। इसलिए भारतीय संस्कृति में महान् स्त्री सन्तों, कवयित्रियों, दार्शनिकों एवं भक्तों की बहुलता होने पर भी उनमें अधिकतर विवाहिता थीं, और संन्यासी तो नगण्य थीं।

जबकि वैदिक संस्कृति में स्त्रियों को आध्यात्मिक जीवन का अधिकार नहीं के बराबर था, तान्त्रिक संस्कृति, जो वैदिक संस्कृति से पहले आई, उसमें स्त्रियों के सम्बन्ध में भिन्न मत थे। तान्त्रिक संस्कृति में स्त्रियों को सर्वोच्च माना जाता था। वे ही गुरु भी होती थीं और प्रेरक भी, किन्तु सामाजिक स्तर पर ऐसा दावा नहीं किया जा सकता है। केवल चेतना के विकास के संदर्भ में ऐसा होता था।

स्त्रियों की आध्यात्मिक सजगता

स्त्री की मानसिक संरचना, भावनाएँ, चेतना का विकास निश्चित रूप से पुरुषों की अपेक्षा श्रेष्ठतर होते हैं। कुण्डलिनी का जागरण पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों के शरीर में अधिक सरलता से होता है। इसके अतिरिक्त इस संदर्भ में एक महत्त्वपूर्ण बिन्दु यह है कि पुरुष गहनतम मनोमय साम्राज्य में जाकर उन अनुभूतियों को चेतन स्तर पर वापस नहीं ला पाते हैं, प्राय: स्त्रियाँ ले आती हैं। स्त्रियों की बाह्य और आन्तरिक सजगता में बहुत कम अन्तर होता है। जब पुरुष अपनी चेतना की अथाह गहराइयों में डूब जाता है तो वहाँ उसे विशेष प्रकार की अनुभूतियाँ होती हैं, किन्तु जब वह मन की उन गहराइयों से बाहर स्थूल सजगता के बीच आता है तो उन अनुभूतियों और मन के बीच एक आवरण पड़ जाता है। स्त्रियों में इस प्रकार का आवरण नहीं पड़ता है।

इसके अतिरिक्त स्त्री का चेतन तत्त्व आध्यात्मिक सजगता से अत्यधिक आवेशित रहता है। एक स्त्री या एक बालिका की जो आन्तरिक अवस्था है, वही उसके सौन्दर्य, कोमलता, संवेदना और समझदारी के प्रति प्रेम के रूप में परिलक्षित होती है। यदि सभी स्त्रियों को यह संसार छोड़ना पड़े तो यह मरुस्थल बन जायेगा। न सुगंध, न रंग, न सौन्दर्य, न मुस्कान–कुछ शेष नहीं रहेगा। यह इंगित करता है कि स्त्री की आन्तरिक सजगता अत्यधिक ग्रहणशील होती है और विस्फुटित होने के लिए तैयार रहती है। कुण्डलिनी योग में स्त्री का शरीर एक विशेष केन्द्र द्वारा ऊर्जान्वित रहता है। पुरुष-शरीर में मूलाधार चक्र अत्यन्त संकुल क्षेत्र में जटिल स्थिति में होता है। पुरुष मूलबंध करते हैं, फिर भी कुछ नहीं होता है। किन्तु स्त्री के शरीर में इस मूलबंध की सहायता से मूलाधार को जाग्रत किया जा सकता है। अत: स्त्री के शरीर में चक्रों के जागरण की प्रक्रिया अधिक तीव्रता से हो सकती है।

स्त्रियों की प्राथमिकता

तन्त्र में स्रष्टा की भूमिका पुरुष के स्थान पर स्त्री की होती है। रामकृष्ण परमहंस ने अपनी पत्नी शारदा को सदा देवी के रूप में पूजा। संस्कृत में देवी का अर्थ होता है प्रदीप्त या ज्योतिर्मय। जब रामकृष्ण का विवाह हुआ था तब वे छोटे बालक थे और उनकी पत्नी उनसे भी छोटी, किन्तु वे हमेशा उनको देवी माँ ही मानते रहे। इसी आधार पर उनका अपनी पत्नी के प्रति आचरण

भी होता था। विकास विन्यास में शक्ति पहले आती है और शिव उसके बाद। शक्ति क्रियाशील हैं और शिव उनके सहभागी। किसी व्यक्ति ने यदि उच्चतर सजगता प्राप्त कर ली है, तो भी उसे बिना किसी स्त्री की सहायता के सम्प्रेषण में कठिनाई होगी।

यदि आप आध्यात्मिक आन्दोलनों को देखें तो उनमें स्त्रियों की बहुलता पायेंगे। योग को पुनर्जीवित करने में स्त्रियों की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही। भगवान् शिव को आदि गुरु तथा मन्त्र और योग का प्रवर्त्तक माना जाता है। उनकी प्रथम शिष्या उनकी पूरक शक्ति पार्वती थीं। यदि आप तान्त्रिक ग्रन्थों का अध्ययन करें तो पायेंगे कि उनका आरम्भ 'पार्वती ने पूछा' से होता है और तब शिव उसका उत्तर देते हैं। इसलिए स्त्री को ही सर्वप्रथम ज्ञान दिया गया था। आध्यात्मिक संस्कृति में जब किसी सम्बन्ध का उल्लेख किया जाता है तो उसमें स्त्री को पहले उद्धृत करते हैं। जैसे, 'सीता-राम', 'राधा-कृष्ण' एवं 'गौरी-शंकर', कभी 'राम-सीता', 'कृष्ण-राधा' या 'शंकर-गौरी' नहीं कहा जाता है।

शंकराचार्य ने तन्त्र की प्रसिद्ध कृति 'आनन्द लहरी' की रचना उस महत्त्वपूर्ण पद से की जिसका अर्थ है, 'शक्ति के बिना शिव सृष्टि कैसे कर सकते हैं?' शिव तो केवल मूक साक्षी हैं, शक्ति ही स्रष्टा हैं। इसलिए हिन्दू-जीवन पद्धति में ऐसे अनेक धार्मिक तथा अन्य अनुष्ठान हैं जिनका प्रतिपादन स्त्री करती है और पुरुष उसका एक साक्षी होता है। स्त्री क्रियान्वयक होती है, पुरुष मात्र प्रतिभागी होता है। चाहे वह एक सामाजिक उत्सव हो, धार्मिक उत्सव हो, किसी देवी-देवता की पूजा हो या उपवास का दिन हो, स्त्री ही उसका समारम्भ करती है। पुरुष केवल उसका अनुगमन करता है। भारत में स्त्री के द्वारा पुरुष को दीक्षित करने की यही परम्परा रही है।

मातृसत्तात्मक परम्परा का पुनः प्रवर्तन

विश्व में दो प्रकार की आध्यात्मिक परम्परायें हैं–एक मातृमूलक, दूसरी पितृमूलक। मातृसत्ता मूलक परम्परा वाले ईश्वर को सार्वभौमिक माता, देवी, प्रकृति या शक्ति मानते हैं। वे कुछ चुने हुए लोगों की बात नहीं करते, बल्कि सम्पूर्णता और सामंजस्य के साथ सभी प्राणियों का कल्याण करते हैं। पितृसत्ता मूलक परम्परा के लोग ईश्वर को पिता मानते हैं तथा वे प्रायः

धर्म-तन्त्रात्मक तथा दण्डात्मक होते हैं। यहूदी, ईसाई तथा इस्लाम धर्म पितृसत्तात्मक हैं। तन्त्र, हिन्दू, बौद्ध, पारसी, शिंतो, ताओ धर्मों के लोग तथा अमरीकी आदिवासी मातृ मूलक परम्परा के अन्तर्गत हैं।

मातृमूलक धर्म दूसरों के प्रति सहनशीलता, समझदारी और करुणा की शिक्षा देते हैं। उन्होंने नृत्य, संगीत, चित्रकला, मूर्तिकला जैसी ललित कलाओं से जीवन को सौन्दर्य प्रदान किया। पितृसत्तात्मक धर्मों में अतिकथनीयता और अनमनीयता होती है। उन्होंने धार्मिक युद्ध किये और प्रबल प्रशासन का विकास भी किया है। उन्होंने स्त्रियों को आध्यात्मिक जीवन में प्रवेश से वंचित रखा है। यद्यपि पिछली शताब्दी में सम्पूर्ण विश्व की स्त्रियाँ सजग हो गई हैं और अब वे यह समझने लगी हैं कि मानवता के आध्यात्मिक विकास में उन्हें कितनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभानी है। उनमें से अनेक हैं जो प्राचीन मातृसत्तात्मक परम्परा के बीज को ढूँढ़ कर उसके आधार पर एक नये सामंजस्यपूर्ण और आध्यात्मिक संसार का निर्माण करना चाहती हैं, जिनका उद्देश्य 'सर्वेषां मंगलं भवतु', *'लोका: समस्ता: सुखिनो भवंतु'* जैसे मूल्यों को संचारित करना होगा।

स्त्री संन्यासियों की परम्परा

आधुनिक युग में स्त्री संन्यासियों की परम्परा पुनर्जीवित की गयी है। इसका श्रेय स्वामी सत्यानन्द सरस्वती को जाता है। 1960 ई० के प्रारम्भ से सन् 1970 ई० के बीच उन्होंने स्त्रियों को संन्यास में दीक्षित करना प्रारम्भ किया। दीक्षा के बाद स्त्री संन्यासियों को पुरुष संन्यासियों के साथ ही प्रशिक्षण दिया गया, उन्हें आध्यात्मिक जीवन के सभी पक्षों से सम्बन्धित समान अवसर दिये गये। स्वामी सत्यानन्द जी ने पाया कि वे पुरुष संन्यासियों की अपेक्षा अधिक योग्य, समर्पित एवं मेहनती होती हैं। उन्होंने स्त्री संन्यासियों को अपने मिशन में प्राय: अत्यन्त उत्तरदायित्वपूर्ण तथा सम्मानजनक पदों पर रखा। प्रारम्भ में रूढ़िवादी आध्यात्मिक गुरुओं में खलबली मच गयी और वे इसका विरोध करने लगे। किन्तु जैसे-जैसे समय व्यतीत हुआ वे लोग भी उन्हीं चरण-चिह्नों पर चलने लगे। अब उनकी भी स्त्री संन्यासी और शिष्यायें हैं।

ऐसा कोई कारण नहीं है जिसके लिए स्त्रियों के संन्यास में प्रवेश पर रोक लगायी जाये। स्त्रियाँ स्वभाव से आध्यात्मिक होती हैं, उन्हें भी अपनी चेतना का विस्तार कर अपने व्यक्तित्व के इस अंग का विकास करने का अवसर

मिलना चाहिए। उन्हें भी आध्यात्मिक शक्ति का केन्द्र, सन्त और करुणापूर्ण दृष्टिकोण वाला संन्यासी बनना चाहिए। स्वामी सत्यानन्द सरस्वती का यह व्यक्तिगत सिद्धान्त है कि स्त्रियाँ अत्यन्त सत्यनिष्ठ तथा आज्ञाकारिणी होती हैं। वे ईमानदार और मेहनती होती हैं, और जब वे आपके साथ काम कर रही होती हैं तो आपको तनावमुक्त रखती हैं। उन्होंने बताया कि उनके मिशन की सफलता का एक मुख्य कारण यह भी था कि उन्होंने स्त्री संन्यासियों को अपने आन्दोलन में सम्मिलित किया। उनके कहने का तात्पर्य यह नहीं कि पुरुष बेकार होते हैं, उनका अपना स्थान है। किन्तु उनका विश्वास है कि सृष्टि विन्यास में स्त्रियाँ श्रेष्ठतर हैं।

स्वामी सत्यानन्द सरस्वती ने एक बार सभी स्त्रियों के सम्मान में तथा अनुमोदित शक्ति परम्परा के प्रति श्रद्धा व्यक्त करने के लिए निम्नलिखित रूप में उनका अभिनंदन किया–

सभी नारियों को,
पूरब या पश्चिम, सभी जगहों की,
वृद्धा या बाला, सभी आयु की,
सेवा कर रही हैं मेरी जो,
करती सेवा रहेंगी जो,
की सेवा मेरी जिन्होंने,
परिव्राजकत्व में, आश्रम में,
मेरे महत् उद्देश्यों में,
संन्यासी हों या महज शिष्या,
उन सभी नारियों को,
सीखा है जिनसे मैंने इतना,
सर्वोपरि, सर्वोत्तम
पोषित किया है सन्तुलन मुझमें,
लाया है जो ज्ञानोदय मुझमें,
समर्पित है उनको, मेरा प्रणाम!

भारत के स्त्री संत और संन्यासी

वैदिक तथा उत्तर वैदिक काल में स्त्रियों पर लगाये गये अनेक प्रतिबन्धों के बावजूद उनकी आध्यात्मिक जिज्ञासा को दबाया नहीं जा सका। यहाँ हम विभिन्न युगों में हुई प्रमुख स्त्री संतों और संन्यासियों का उल्लेख करेंगे।

वैदिक काल

प्राचीन आश्रमों में अनुसूया, लोपामुद्रा एवं अरुन्धती जैसी ऋषि पत्नियाँ अपने पतियों के आध्यात्मिक आदर्शों एवं लक्ष्यों की प्राप्ति में उनकी सहभागिनी थीं, उनकी शक्ति स्रोत थीं। ईसा के 500 वर्ष पूर्व शौनक ने अपने *बृहद्देवता* (2:82–84) में सत्ताइस स्त्रियों का उल्लेख ऋषियों के रूप में किया है। उनमें सर्वप्रमुख थीं वाक, जो अम्भ्रीन ऋषि की पुत्री थीं। ऋग्वेद का प्रचलित 'देवी सूक्त' (10:125) उन्हीं की रचना है। कहा जाता है कि ब्रह्म के साथ एकात्म होने के बाद आनन्दातिरेक में उन्होंने इसे गाया था। एक स्त्री के द्वारा इस परमोच्च अनुभूति की प्राप्ति विश्व-धर्मों के इतिहास में अद्वितीय है।

गार्गी एवं मैत्रेयी

ऋषि तर्पण एक अनुष्ठान है, जिसमें महान् ऋषियों की स्मृति में जल अर्पित किया जाता है। ऋषि तर्पण के क्रम में तीन स्त्री ऋषियों के नाम आते हैं, ये हैं–गार्गी वाचाक्णवी, वेदवा प्रातिथेयी एवं सुलभा मैत्रेयी। बृहदारण्यक उपनिषद् में गार्गी, जो महान् विदुषी थीं, उनके द्वारा ऋषि याज्ञवल्क्य से प्रश्न किये जाने का उल्लेख है। ऋषि याज्ञवल्क्य अपने युग के महानतम विद्वान्

और ज्ञानी थे। गार्गी ने राजा जनक की सभा में उनसे सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में विस्तार से प्रश्न किये।

याज्ञवल्क्य की दो पत्नियों में से एक मैत्रेयी थीं, जो विलक्षण स्त्री थीं। वे अद्वैत के गूढ़तम सिद्धान्तों को भी समझ जाती थीं। याज्ञवल्क्य संन्यास लेने के पूर्व अपनी कुछ सम्पत्ति मैत्रेयी को देकर जाना चाहते थे। किन्तु उन्होंने उनसे यह पूछते हुए अस्वीकार कर दिया, 'मैं उसे लेकर क्या करूँगी जो मुझे अमरत्व प्रदान नहीं करेगा। मुझे केवल वही दें जो अमरत्व प्राप्त करने का साधन हो।' तब याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को ब्रह्म के विषय में ज्ञान दिया।

महाकाव्य काल

शबरी

रामायण में ऐसी स्त्रियों की लम्बी सूची है जिन्होंने आध्यात्मिक जीवन व्यतीत किया तथा उसमें पूर्णता प्राप्त की। उन्हीं में से एक थीं भक्त संत शबरी, जिन्होंने ऋषि मातंग की मृत्यु तक उनकी सेवा की। ऋषि मातंग ने मृत्यु के समय उद्घोषणा की थी– "राम आयेंगे। प्रतीक्षा करो।" अपने गुरु के निर्देश में विश्वास करती हुई वह जीवन पर्यन्त प्रतिदिन आश्रम की सफाई करतीं और सम्भावित मार्ग को फूलों से आच्छादित कर देती थीं। इसी प्रकार अनेक वर्ष बीत गये, आस-पास में रहनेवाले तपस्वी उनकी हँसी उड़ाते, उनसे दुर्व्यवहार करते, फिर भी उन्होंने आशा नहीं छोड़ी। अन्ततः राम आये और उनकी कृपा से शबरी को मुक्ति मिली।

सुलभा

महाभारत में हमें भिक्षुणी सुलभा की कथा मिलती है। वे योग का अभ्यास करती थीं तथा परमोच्च अनुभूति की उस अवस्था को प्राप्त कर चुकी थीं जहाँ जीव की परिसीमित आत्मा अनन्त परमात्मा में विलीन हो जाती है। उन्होंने बहुत भ्रमण किया और एक दिन राजा जनक के दरबार में उनकी आध्यात्मिक उपलब्धियों की परीक्षा लेने तथा उनके अनुभवों से लाभ उठाने पहुँच गयीं। वहाँ एक सम्मान्य अतिथि के समान उनका स्वागत हुआ। वे जनक के ज्ञान के स्तर की थाह लेने के लिए अपनी यौगिक शक्ति के द्वारा उनकी बुद्धि में प्रवेश कर गयीं। इस मुलाकात के क्रम में उन दोनों

की आत्माओं के बीच संवाद चल रहे थे जो मात्र कानों से सुने नहीं जा सकते थे। पहले तो जनक सुलभा के इस अवैध प्रवेश से त्रस्त हो गये और उन्होंने उनको फटकारा, किन्तु सुलभा अविचलित रहीं और अपने तप तथा अध्यात्म के विशिष्ट ज्ञान से जनक को शान्त कर दिया।

बौद्ध काल

भगवान् बुद्ध द्वारा प्रतिपादित मौलिक सिद्धान्तों और उनकी शिक्षा के कारण बौद्धकाल में स्त्रियों की स्थिति में कुछ सुधार आया था। प्रथमत: उन्होंने इस पर बल दिया कि पुरुष की भाँति स्त्री भी अपने पिछले कर्मों का फल भोगती है और भविष्य में अपनी मुक्ति के लिए उसे अपने ही कर्मों पर निर्भर होना चाहिए। द्वितीयत: उन्होंने ब्राह्मणवादी अनुष्ठानों का बहिष्कार किया जिसमें पत्नी गौण स्थान पर रहती थी और एक बन्ध्या स्त्री या विधवा के लिए उसमें कोई स्थान नहीं था। तृतीयत: उन्होंने आध्यात्मिक लक्ष्यों की उपलब्धि के सन्दर्भ में स्त्री-पुरुष में कोई भेद नहीं रखा। भिक्षुणियों का संघ सभी स्त्रियों के लिए खुला हुआ था। उनके विवाहित, अविवाहित, बन्ध्या या विधवा होने से संघ-प्रवेश में कोई अन्तर नहीं पड़ता था। गणिकाएँ भी प्रवेश पाने में समर्थ थीं और उनके प्रति अनादर का भाव प्रदर्शित नहीं किया जाता था। अन्तत: स्त्री नवदीक्षितों तथा भिक्षुणियों को वही शिक्षण और प्रशिक्षण दिया जाता था जो सभी भिक्षुओं को प्राप्त होता था।

महाप्रजापति गौतमी

बौद्ध इतिहास में ऐसी अनेक संन्यासिनियाँ थीं जिन्होंने विशिष्टता प्राप्त की थी। उनमें सर्वप्रथम थीं महाप्रजापति गौतमी, जिन्होंने बुद्ध से अनुनय की थी कि वे स्त्रियों को भिक्षुणी बनने की अनुमति दें। वे सिद्धार्थ गौतम की माता महामाया की छोटी बहन थीं। दोनों बहनों का विवाह कपिलवस्तु के राजा शुद्धोदन से हुआ था। सिद्धार्थ के जन्म के सात दिनों बाद ही रानी महामाया का निधन हो गया था। उनकी छोटी बहन महाप्रजापति ने सिद्धार्थ का अपने बच्चे की तरह पालन-पोषण किया। बाद में उन्हें भी एक पुत्र तथा एक पुत्री हुई। उन्होंने अपने उन दोनों बच्चों को एक परिचारिका की देख-रेख में रखा तथा स्वयं सिद्धार्थ का लालन-पालन करती रहीं।

ज्ञान प्राप्त करने के बाद गौतम बुद्ध कपिलवस्तु गये और वहाँ उन्होंने उपदेश दिये। उस समय राजा शुद्धोदन उनके शिष्य बन गये और महाप्रजापति के पुत्र उनके संघ में सम्मिलित हो गये। राजा की मृत्यु के बाद महाप्रजापति ने सांसारिक जीवन त्यागने का निश्चय किया। उन्होंने अपने 500 साथियों के साथ अपने भी केश काट डाले, पीले वस्त्र धारण कर लिए और बौद्ध संघ में सम्मिलित होने के लिए चल पड़ीं। प्रारम्भ में बुद्ध उन लोगों को संघ में सम्मिलित करने के पक्ष में नहीं थे, किन्तु स्त्रियों को पुरुषों के समान प्राप्ति का अवसर दिये जाने के उनके निवेदन को वे ठुकरा नहीं पाये। अत: अन्त में उन्होंने स्त्रियों को भिक्षुणी बनने की अनुमति दे दी। बुद्ध के प्रत्यक्ष पर्यवेक्षण में महाप्रजापति गौतमी ने पूर्णता प्राप्त की। वे 120 वर्ष की आयु तक जीवित रहीं और बुद्ध ने उन्हें वृद्धतम और सर्वाधिक अनुभवी भिक्षुणी घोषित किया था।

क्षेमा

क्षेमा का जन्म मद्रास के एक राज परिवार में हुआ और समय आने पर उनका विवाह राजगृह के राजा बिम्बिसार से हुआ था। रानी क्षेमा को अपने सौन्दर्य का बहुत अहंकार था। उनको जब पता चला कि बुद्ध ने उन लोगों की भर्त्सना की है जो अपने रूप पर आसक्त होते हैं तो उन्होंने बुद्ध से मिलना अस्वीकार कर दिया। चूँकि राजा बुद्ध के मुख्य समर्थक थे, इसलिए उन्हें यह अनुचित प्रतीत हुआ कि उनकी पत्नी उनसे नहीं मिलें। अत: उन्होंने परोक्ष रूप से रानी को बुद्ध के पास ले जाने की योजना बनायी। रानी जब बुद्ध के पास पहुँचने ही वाली थीं, तो बुद्ध ने स्वयं को एक अपूर्व सुन्दरी के रूप में परिवर्तित कर लिया और रानी से स्वयं को पंखा झलवाने लगे। रानी उस स्त्री की सुन्दरता पर स्तम्भित थीं। उन्हें लग रहा था कि उनकी सुन्दरता एक परिचारिका से भी कहीं कम है। जब वे खड़ी होकर उस स्त्री का सौन्दर्य निहार रही थीं, बुद्ध ने उन्हें पहले अधेड़ स्त्री के रूप में, फिर वृद्धा के रूप में परिवर्तित कर दिया और अन्ततोगत्वा वे पृथ्वी पर गिर पड़ीं, किन्तु पंखा अभी भी उनके हाथ में ही था। जब क्षेमा यह सोच ही रही थीं कि शरीर को इन सारे परिवर्तनों से होकर गुजरना पड़ता है, तभी उन्होंने बुद्ध को निम्नलिखित पद दुहराते हुए सुना–

बन्धनों में पड़े वे
गिरते हैं बारम्बार पुनर्जन्मों के अनंत प्रवाह में
मकड़ा हो फँसा जैसे जाल में।

वह जो मुक्त है बन्धनों से
निकलता है बाहर
दु:खदायी जाल को काट कर।

इस उक्ति को सुनकर उन्हें तत्क्षण पूर्ण ज्ञान हो गया। इसके बाद वे एक गृहस्थ के रूप में नहीं रह सकीं और तुरन्त दीक्षा लेने का निश्चय किया। महल में लौटकर क्षेमा ने राजा से भिक्षुणी बनने की अनुमति माँगी। राजा ने उनके निवेदन पर अनुमति दी और उन्हें संघ में सम्मिलित होने के लिए भेज दिया। वे शास्त्रों की विदुषी बन गयीं और उन्हें संघ में एक उच्च स्थान प्रदान किया गया।

सुभद्रा

सुभद्रा कुण्डलकेशा एक अन्य उल्लेखनीय संन्यासिनी थीं। उनका जन्म राजगृह के एक धनी साहूकार परिवार में हुआ था। वे अपने तारुण्य में एक ऐसे दुश्चरित्र व्यक्ति के प्रेम में पड़ गयीं जो उन्हें उनके आभूषणों के लिए मार डालना चाहता था। इस घटना के बाद सुभद्रा ने एकान्त में रहकर कठोर तप करने का निर्णय लिया। निग्रन्थकों से दीक्षा लेकर उनके सम्प्रदाय में सम्मिलित हो गयीं। वे जितनी बार अपने केश कटवातीं, उनके घुंघराले केश फिर से निकल आते। इसीलिए उन्हें कुण्डलकेशा कहा जाता था।

सुभद्रा ने तर्कविद्या और वाद-विवाद की कला सीखी। वे महान् तर्कवादिनी बन गयीं, कोई उनसे विजयी नहीं हो पाता था। वे जहाँ जातीं, बालू का एक ढेर बनाकर जामुन के वृक्ष की टहनी को उसमें खोंस देती थीं। आस-पास के लोगों को चुनौती देकर कहतीं थी कि यदि कोई उनसे वाद-विवाद करना चाहे तो जामुन की टहनी में ठोकर मारे। इसके बाद वे सात दिनों तक प्रतीक्षा करती थीं। यदि कोई नहीं आता था तो वे जामुन की टहनी को लेकर अन्य स्थान पर चली जाती थीं।

इसी प्रकार वे श्रावस्ती पहुँच गयीं, जहाँ बुद्ध ठहरे हुए थे। बालू का जो ढेर सुभद्रा ने लगाया उसे बुद्ध के मुख्य शिष्य सारिपुत्र ने देखा और वहाँ जाकर जामुन की टहनी को ठोकर मार दी। जब सुभद्रा ने देखा कि उसे चुनौती दी गयी है तो वे अपने अनेक समर्थकों को लेकर सारिपुत्र से वाद-विवाद करने गयीं। वहाँ सारिपुत्र द्वारा पराजित होने पर उन्होंने उनको अपना स्वामी मान लिया। इसके बाद उन्हें बुद्ध के पास ले जाया गया। उन्होंने

सुभद्रा की आँखें खोल दीं और तब जल्दी ही उन्हें ज्ञान हुआ। बुद्ध ने उन्हें दो शब्दों में दीक्षा दी– 'आओ स्त्री'। पचास वर्षों तक वे मगध, अंग, वज्जि, काशी एवं कोशल का भ्रमण करती रहीं। भिक्षा पर ही उन्होंने अपना जीवन निर्वाह किया।

जैन काल

मल्लिनाथ

जैन परम्परा में स्त्रियों को प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त था। अनेक जैन भिक्षुणियाँ अपने ज्ञान और अपनी बुद्धि के लिए प्रख्यात थीं। उन्नीसवें तीर्थंकर मल्लिनाथ मिथिला के राजा कुम्भ की पुत्री थीं। वे अत्यन्त सुन्दर और विदुषी थीं। उनकी ख्याति ने आस-पास के राज्यों के राजाओं को आकृष्ट कर लिया था। उन सभी ने उनका हाथ माँगा, लेकिन कुम्भ ने अस्वीकार कर दिया। इससे क्रुद्ध होकर सभी राजाओं ने मिथिला पर आक्रमण कर दिया। जब कुम्भ हारने ही वाले थे तो मल्लि ने अपने पिता से अनुरोध किया कि वे उन राजाओं को उनके महल में आने का निमन्त्रण दें।

जब उन लोगों ने मल्लि के व्यक्तिगत कक्ष में प्रवेश किया तो उसकी सम्मोहक आकृति को देखकर स्तब्ध रह गये। किन्तु शीघ्र ही उनका भ्रम टूटा, क्योंकि उन्होंने जो पहले देखा, वह उनकी जीवन्त प्रतिमा थी। उसी समय उन्होंने उस प्रतिमा के सिर पर लगा एक ढक्कन खोला। उसके खुलते ही भयंकर दुर्गंध पूरे वातावरण में फैल गयी। उस मूर्ति के अन्दर कुछ खाद्य पदार्थ कुछ दिन पूर्व ही भर दिये गये थे जो अब तक सड़ कर दुर्गंधयुक्त हो गये थे। मल्लि ने कहा कि एक स्त्री के शरीर के अन्दर भी इसी प्रकार की गंदगी भरी हुई है। इसलिए उसने सांसारिक सुखों को त्याग कर संन्यासी बन जाने की इच्छा व्यक्त की। उन राजाओं को पश्चात्ताप हुआ और उन्होंने भी मल्लिनाथ का अनुसरण करते हुए संन्यास ग्रहण करने का निश्चय किया।

याकिनी महातारा

भिक्षुणी याकिनी महातारा भी विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। हरिभद्र सूर नामक एक विद्वान् ब्राह्मण था, जो शास्त्रों का ज्ञाता था। उसने घोषणा की थी

कि शास्त्रार्थ में जो उसे पराजित करेगा और जिसके व्याख्यान को न तो वह समझ पायेगा और न ही उसकी व्याख्या कर पायेगा, उसे वह अपना गुरु मान लेगा। उसे पराजित कर परिवर्तित करने वाली जैन भिक्षुणी याकिनी ही थीं। भारतीय साहित्य में हरिभद्र सूर के असीम योगदान से याकिनी के महत्त्व को समझा जा सकता है।

उसने नीतिशास्त्र, योग, तर्कशास्त्र एवं कर्मकाण्ड पर ग्रन्थ लिखे थे। उसने पुराने ग्रन्थों की व्याख्या के साथ-साथ कहानियाँ भी लिखीं। उसने जैन संन्यासियों के मठों में रहने पर और अपने पास पैसा रखने पर आपत्ति प्रकट की थी और इस प्रकार जैन धर्म में कुछ सुधार लाये थे। सूर की कोटि के विद्वान् को पराजित कर इतना अधिक परिवर्तित कर देना कि वह स्वयं को याकिनी महातारा सूनु कहने में गौरव का अनुभव करने लगे, कोई आसान काम नहीं था। वे अवश्य ही अत्यन्त प्रतिभाशाली स्त्री रही होंगी और हरिभद्र सूर के प्रशिक्षण में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया होगा।

जैनों में विशेष क्षमता वाली अनेक विदुषी भिक्षुणियाँ हुईं। उदाहरणार्थ, गुना साध्वी ने सिद्धर्षि की स्मृति रूपी रूपक कथा 'उपमित भावे-प्रपंच कथा' की प्रथम प्रति तैयार की थी। स्वयं सिद्धर्षि ने उन्हें विद्या की देवी के अवतार के रूप में सम्बोधित किया था। सिद्धराज जयसिंह के युग में दो भिक्षुणियों, महातारा एवं गणिनी वीरामति ने मालाधारी हेमचन्द्र को जिनभद्र के विशेषवश्यकाभाष्य की व्याख्या करने में सक्रिय सहायता की थी।

शैव एवं वैष्णव काल

लल्ला

बारहवीं से अट्ठारहवीं शताब्दियों के बीच भारत पर मुसलमानों की विजय से स्त्रियों की स्थिति बद से बदतर हो गई थी। फिर भी शैव और वैष्णव सम्प्रदायों ने आध्यात्मिक आदर्शों को जीवित रखा था। उस काल में हुई स्त्री संतों में एक थीं लल्ला। वे काश्मीर की शैव संन्यासी भिक्षुणी थीं। उन्होंने घूम-घूम कर अपने उपदेशों के द्वारा यह बताया कि यौगिक सिद्धान्त ही ब्रह्म में लीन होने के सर्वोत्तम साधन हैं। वे सदा नग्न रहती थीं और जब उनके भक्त पूछते, "लल्ला, आप वस्त्र क्यों नहीं पहनती हैं?" तो उनका उत्तर होता, "तुम मेरे शरीर को क्यों देखते हो, मेरी आत्मा को क्यों नहीं देखते?"

मीराबाई

वैष्णव परम्परा में हम मीराबाई को भक्ति एवं त्याग की पराकाष्ठा के रूप में पाते हैं। वे राजस्थान की थीं। वे जीवनपर्यन्त अपने परमेश्वर, अपने इष्ट देव श्री कृष्ण की भक्ति के गीत गाती रहीं। अपने राज परिवार के राजसी ठाट-बाट उन्हें प्रलोभित नहीं कर पाये। सांसारिक जीवन व्यतीत करने का दुराग्रह करने या उसके लिए उत्पीड़ित करने वाले सम्बन्धियों का अपनी विशुद्ध भक्ति और विश्वास के द्वारा अतिक्रमण कर अपना सम्पूर्ण जीवन अपने परमेश्वर को समर्पित कर दिया। लोक-निन्दा की परवाह किये बिना वे साधु-सन्तों से मिलती थीं। मीरा बड़ी संख्या में कविताएँ एवं भजन जो अपने पीछे छोड़ गयीं हैं, वे अपनी सरलता और भक्ति भावना की गहराइयों के लिए अत्यन्त सराहनीय हैं।

मुक्ताबाई

महाराष्ट्र की मुक्ताबाई, निवृत्ति, ज्ञानदेव एवं सोपान की सबसे छोटी बहन थीं। कहा जाता है कि इन चारों को बाल्यावस्था में ही ज्ञान प्राप्त हो गया था। उनके पिता विट्ठलपंत कुलकर्णी एक ब्राह्मण थे, जिन्होंने विवाह के बाद संन्यास ले लिया था। किन्तु अपने गुरु के आदेश से उन्हें अपनी पत्नी के प्रति अपने कर्तव्यों को पूरा करने तथा सन्तानोत्पत्ति के लिए पुन: गृहस्थ जीवन में लौटना पड़ा। बच्चों के जन्म के बाद नगर के लोगों ने उन्हें समाज से बहिष्कृत कर दिया था, क्योंकि उनके अनुसार कोई संन्यासी किसी पाप के कारण ही गृहस्थ जीवन में वापस आता है। जब उन्होंने पूछा कि उन्हें इसके लिए कैसा प्रायश्चित करना चाहिए, तो पिता को कहा गया कि शास्त्रों में इसके लिए एक ही प्रायश्चित है– मृत्यु।

इसलिए माता-पिता दोनों अपने बच्चों को यूँ ही बिलखता हुआ छोड़कर नदी में कूद गये। उस समय मुक्ताबाई लगभग छ: वर्षों की थीं। आगे आने वाले कठिन परीक्षा के दिनों में उनकी देखभाल उनके भाइयों ने की। यद्यपि उनके माता-पिता ने चरम प्रायश्चित कर लिया था, फिर भी उन बच्चों को पुन: ब्राह्मणत्व प्राप्त करने की अनुमति नहीं दी जा रही थी। उन्होंने अपने श्रेष्ठ ज्ञान, आध्यात्मिक शक्ति एवं अध्यवसाय के द्वारा समाज में अपना वह प्रतिष्ठित स्थान पाया जो उन लोगों से जन्म से ही छिन गया था।

ज्ञानदेव ने सोलह वर्ष की आयु के पूर्व ही वेदान्त एवं अन्य दर्शनों का अध्ययन कर विद्वत्ता प्राप्त कर ली थी। उन्होंने मराठी भाषा में भगवद्गीता की व्याख्या की और उसका नाम ज्ञानेश्वरी रखा। उन्होंने पुराणों पर उपदेश देना प्रारम्भ किया और अपना समय स्वामी नामदेव तथा अन्य सन्तों के बीच व्यतीत करने लगे। मुक्ताबाई ने भी पर्याप्त सम्मान एवं प्रशंसा पाई। कहा जाता है कि अपने भाइयों के समान उनमें भी ईश्वरीय शक्तियाँ थीं। वे सन्त बन गयीं तथा दूसरों को भी उन्होंने अध्यात्म में दीक्षित किया। आध्यात्मिक पथ-प्रदर्शक के रूप में उनकी अनेक कथायें हैं। वे अपने अभंगों (भक्ति गीत) के लिए प्रख्यात थीं।

वेनाबाई और अक्काबाई

महाराष्ट्र में ही मुक्ताबाई के कई शताब्दियों के बाद दो और स्त्री सन्त हुईं–वेनाबाई और अक्काबाई। दोनों बाल्यावस्था में ही विधवा हो गयी थीं और युवावस्था में वे दोनों स्वामी रामदास की शिष्या भी बन गयी थीं। उनकी क्षमताओं को देखकर उन्होंने उन दोनों को अपने सम्प्रदाय में सम्मिलित कर लिया तथा अपनी शिक्षा के प्रचार के लिए उन्हें प्रशिक्षित किया। वेनाबाई को मिरज भेजा गया, जहाँ उन्होंने एक मठ की स्थापना की और बीस वर्षों से भी अधिक समय तक सेवारत रहीं। अक्काबाई ने स्वयं को स्वामी रामदास की योग्यतम और विश्वस्ततम शिष्यों में से एक सिद्ध कर दिया। वे चपहल और परली के मठ-प्रमुख के रूप में तीस से भी अधिक वर्षों तक उनका संचालन करती रहीं; इसी बीच उन्हें उपद्रवों और अशान्ति का भी सामना करना पड़ा।

आधुनिक काल

शारदा देवी

बंगाल की शारदा देवी इस युग की सबसे महान् स्त्री संत थीं। उनका जन्म जयरामबाटी गाँव के एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। छः वर्ष की आयु में उनका विवाह ईश्वर के ध्यान में पागल रहने वाले गदाधर चट्टोपाध्याय से हो गया। जब तक वे पति के साथ रहने योग्य आयु में पहुँचीं तब तक पति ने संन्यास ले लिया था और उनका नाम रामकृष्ण परमहंस रख दिया गया था।

उन्नीस वर्ष की अवस्था में वे अपने गाँव से कलकत्ता गयीं, जहाँ उनके पति दक्षिणेश्वर के मंदिर में पुजारी थे।

अपनी तरुणी पत्नी से मिलने पर रामकृष्ण ने उनसे जो पहला प्रश्न पूछा, वह था, “क्या तुम मुझे सांसारिक जीवन में घसीटने के लिए आई हो?” इस पर उन्होंने उत्तर दिया, “नहीं, मैं तो मात्र आपकी सेवा करने आई हूँ ताकि आप अपने चुने हुए मार्ग पर अग्रसर होते जायें।” इसके बाद पति-पत्नी के सम्बन्धों पर गुरु-शिष्य का सम्बन्ध छा गया। उन दोनों ने ब्रह्मचर्य का व्रत लिया और संन्यासियों की तरह साथ रहने लगे। इस आध्यात्मिक दम्पत्ति के बीच एक-दूसरे के प्रति विशुद्ध अगाध स्नेह एवं श्रद्धा विकसित हो गयी थी। दोनों एक-दूसरे में ‘देवी माँ’ का स्वरूप देखते थे।

एक मांगलिक अवसर पर रामकृष्ण ने शारदा देवी को बिठा कर देवी माँ के पूरे अनुष्ठान के साथ तन्त्रोक्त पद्धति से उनकी षोडषी पूजा की। जब तक अनुष्ठान पूरा हुआ तब तक वे और रामकृष्ण परमानन्द की अनुभूति में लीन हो गये। इस प्रकार वह असाधारण दम्पत्ति ऐन्द्रिक जगत् से ऊपर उठ कर तथा द्वित्व के अवशेषों से मुक्त होकर अपनी मूल आत्मा के साथ संयुक्त हो गया। रामकृष्ण ने शारदा देवी के सम्मुख साष्टांग दण्डवत् होकर विहित मन्त्रों के साथ अनुष्ठान सम्पन्न किया। इसके बाद रामकृष्ण ने शारदा देवी को वही आदर-सम्मान दिया जो वे देवी माँ को देते थे।

चौदह वर्षों तक, उन्नीस वर्ष से तैंतीस वर्ष की अवस्था तक, शारदा अपने स्वामी की निरन्तर एकनिष्ठ सेवा में रत रहीं। उनके स्वास्थ्य का ध्यान रखना, उनकी पुकार सुनना, एक दूरी से उन्हें देखना शारदा को असीम आनन्द देता था। अपने समय के अनुसार वे भी पर्दे में रहने वाली स्त्री थीं। पति के शिष्यों और भक्तों के सामने वे उनके साथ नहीं बैठती थीं। इसलिए वे सदा घर के अन्दर ही रहती थीं। अपने निष्काम श्रम में तल्लीन रहने के बावजूद उनका हृदय सदा अपने स्वामी के साथ ही रहता था। उनका मन अपने स्वामी के इतना निकट रहता था कि वे दूर स्थित उनके कमरे में बोली हुई बात भी सुन लेती थीं।

रामकृष्ण की मृत्यु के बाद जब शारदा वैधव्य के प्रतीक के रूप में अपनी चूड़ियाँ उतार रहीं थीं तब अचानक उनके स्वामी प्रकट हो गये और कहा, “मैं कहाँ गया हूँ? मैं तो केवल एक कमरे से दूसरे कमरे में चला गया हूँ।” शारदा के लिए यह दर्शन एक संकेत की तरह था कि उन्हें वैधव्य वेश

धारण नहीं करना है। सूक्ष्म स्तर पर इस प्रकार के सम्पर्कों से उन्हें उनका सतत् सामीप्य अनुभव होता रहता था और वे आध्यात्मिक दर्शन के असीम आनन्द से आप्लावित हो उठती थीं। एक दिन वे परमानन्द में आत्मविस्मृत होकर ठीक वैसा ही आचरण करने लगीं जैसा उनके स्वामी उस स्थिति में करते थे।

ज्यों-ज्यों दर्शन एवं परमानन्द की अनुभूतियाँ बढ़ती गयीं, उनके मानसिक दृष्टिकोण तथा आचरण में परिवर्तन आता गया। वे दूसरों के उत्थान के लिए अपनी दिव्य शक्ति का उपयोग करने में सक्षम हो गयीं। रामकृष्ण के जाने से जो स्थान रिक्त हो गया था, उन्होंने उसकी पूर्ति कर दी। जल्दी ही रामकृष्ण के शिष्य तथा भक्त उनके पास एकत्र होने लगे। इस प्रकार पैंतीस वर्ष की आयु में शारदा ने जिज्ञासुओं की आध्यात्मिक सेवा प्रारम्भ कर दी और उनकी आध्यात्मिक तृषा को शान्त करने लगीं।

हर क्षेत्र के लोग उनकी शरण में आने लगे और वे उनके दु:ख दूर करने लगीं। रामकृष्ण के साँचे में ढलीं वे अहंकारशून्यता की पराकाष्ठा थीं। जो उनके पास आता उसे अगाध स्नेह के साथ एक अद्भुत प्रिय महिमामयी माँ की तरह गले लगा लेती थीं।

आनन्दमयी माँ

निर्मला सुन्दरी को ही बाद में आनन्दमयी माँ के नाम से जाना गया। उनके जीवन में अतीन्द्रिय तथा रहस्यानुभूति पूर्ण घटनाओं की भरमार थी। इस प्रकार की चमत्कारिक घटनाओं के लिए वे जितनी प्रचलित थीं, उससे कहीं अधिक अनन्त आनन्द और विश्रान्तिपूर्ण मुद्रा तथा अपनी मातृवत् करुणा, जिसके साथ वे आशीर्वाद के साथ हजारों हजार भक्तों का स्वागत करती थीं, प्रख्यात थीं।

जन्म से ही उन्हें वह आध्यात्मिक चेतना प्राप्त थी जो उनके वयस्क जीवन में परिलक्षित हुई। बारह वर्ष की अवस्था में उनका विवाह एक अल्पशिक्षित ब्राह्मण युवक से हुआ। माँ ने बाद में उनका नाम भोलानाथ रख दिया था। विवाह के उपरान्त जब माँ के पति उनके समीप गये तो उन्हें भयंकर विद्युतीय झटका लगा। यह एक निषेधात्मक संकेत था। उसी दिन से उनके पति उनके शिष्य बन गये तथा दम्पत्ति ने आजीवन ब्रह्मचर्य का पालन किया।

बीस वर्ष की अवस्था के बाद माँ ने योग साधना आरम्भ की। इसके साथ ही ऐसी विभिन्न मुद्रायें एवं क्रियाएँ स्वत: उभरने लगीं जो उन्होंने कभी सीखी नहीं थीं। विभिन्न मन्त्र तथा संस्कृत रचनायें उनके मुख से धारा की तरह प्रवाहित होने लगीं। इन अनुभवों के बाद उनका ज्ञान आध्यात्मिकता से परिपूर्ण हो गया और इसके बाद ही लोग उनकी क्षमताओं और गुणों के प्रति आकृष्ट होने लगे। पहले वे गुरु की तरह कार्य नहीं करना चाहती थीं, किन्तु उनके पति लोगों के लिए हस्तक्षेप करने लगे। इन कारणों से वे तब उन लोगों से मिलने लगीं जो उनके पास उपचार, मार्गदर्शन एवं आध्यात्मिक प्रेरणा के लिए आते थे। इन वर्षों में एक असाधारण आनन्द की अवस्था, जो एक दिव्य शक्ति के कारण हो जाया करती थी, बार-बार आने लगी।

माँ के भक्तों ने जब उनका पहला आश्रम बनाया तो उन्हें विशेष प्रसन्नता नहीं हुई। उन्होंने भक्तों से कहा कि सारा विश्व ही एक आश्रम है, फिर अपने लिए एक स्थान अलग से चुनने की क्या आवश्यकता थी? जब आश्रम बन कर तैयार हो गया तो वहाँ टिकने की बजाय वे दिव्य प्रेरणा से प्रेरित होकर सतासी वर्ष की आयु में मृत्यु होने तक निरन्तर भ्रमण करती रहीं। उनके भ्रमण करते रहने के कारण धीरे-धीरे पचीस आश्रमों की स्थापना हो गयी। वे बिना किसी योजना और बिना किसी सामान के लगातार भ्रमण करती रहती थीं। जो लोग उनके साथ रहना चाहते थे, उन्हें भी उसी प्रकार रहना पड़ता था।

यद्यपि आश्रमों की स्थापना कट्टर ब्राह्मणों के द्वारा पारम्परिक पद्धति से की गयी थी, किन्तु उन्होंने स्वयं को जाति-प्रथा के नियमों से नहीं बाँधा था। वे सभी जातियों के सदस्यों का स्पर्श करतीं तथा उन्हें खिलाती थीं। अधिकतर लोग जो उनके पास जाते थे वे उनका आशीर्वाद, रोगहर शक्ति, परामर्श और उनकी सहानुभूति–दया दृष्टि प्राप्त करने जाते थे। वे धैर्य और करुणा के साथ यह सब अनवरत रूप से देती रहती थीं। मानवता को प्रबुद्ध करती हुई वे उसकी सेवा करती रहीं। अपनी चिन्ता किये बिना वे वर्षों तक प्रतिदिन लोगों को दर्शन देती रहीं; उनसे मिलती रहीं; उनकी समस्याओं का निदान करती रहीं। यद्यपि उन्होंने औपचारिक रूप से कभी संन्यास की दीक्षा नहीं ली, किन्तु उनमें पूर्ण समर्पण और आत्मत्याग के जो गुण परिलक्षित होते हैं, वे ही संन्यास जीवन के मौलिक आधार हैं।

स्वामी आत्मानंद

कमला गिडवानी का जन्म एक बड़े सिंधी परिवार में हुआ था। उन लोगों को भारत विभाजन के समय सिंध छोड़ना पड़ा। उनके पिता एक भक्त तथा आध्यात्मिक व्यक्ति थे। अपने पूरे परिवार के साथ वे अपने गुरु बेरीवाले बाबा को भी लेते आये थे। गिडवानी परिवार के सभी बच्चे बेरीवाले बाबा के प्रति आकृष्ट हुए थे, विशेषकर कमला उनकी सेवा करने के लिए अवसर ढूँढ़ती रहती थीं। वे बाबा की धुनी लगातीं, उन्हें भोजन देतीं, उनके सत्संग में बैठकर उनके उपदेश सुनतीं–इन सब ने उनके अन्दर ज्ञान के प्रकाश को प्रज्वलित कर दिया था। एक बार कमला ने बाबा से दीक्षा माँगी तो उन्होंने कहा, "तुम्हारे गुरु आयेंगे; वे गेरु वस्त्र धारण किये हुए सूर्य की चमक के साथ आयेंगे। उनकी प्रतीक्षा करो।"

वर्षों बाद जब बेरीवाले बाबा महासमाधि प्राप्त कर चुके थे, स्वामी सत्यानन्द ने गिडवानी परिवार में पदार्पण किया। कमला जब उनके दर्शन के लिए गयीं तो उन्हें अचानक लगा कि बेरीवाले बाबा की घोषणा सत्य सिद्ध हो गयी है। उनके गुरु आ गये हैं। जब उन्होंने उनसे मन्त्र की याचना की तो उन्होंने कमला से कहा, "मैं तुम्हें मन्त्र दीक्षा दूँगा और उच्चतर दीक्षाएँ भी दूँगा, तैयार रहो।" धीरे-धीरे कमला को लगने लगा कि वे सचमुच संन्यासी के रूप में अपना जीवन गुरु के मिशन की सेवा में रत होकर समर्पित करना चाहती हैं। इसलिए सन् 1965 ई० में वे स्वामी सत्यानन्द सरस्वती की प्रथम संन्यासी शिष्या बनीं और पुनर्नामकरण के बाद वे स्वामी आत्मानन्द सरस्वती हो गयीं।

गुरु के आश्रम में उन्होंने हर प्रकार के कर्तव्य का निर्वाह किया–स्वामी सत्यानन्द सरस्वती की सेवा करने से लेकर आश्रम का प्रबन्धन करने तक। वे प्रायः परमहंसजी के साथ गोष्ठियों, व्याख्यानों एवं योग समागमों में जाया करती थीं। जब गुरु-सेवा की अवधि समाप्त हो गयी तो उन्होंने आयरलैण्ड की यात्रा की और वहाँ एक आश्रम की स्थापना की। वहाँ से उन्होंने पूरे यूरोप में घूम-घूम कर हजारों लोगों को योग के मार्ग पर लाने का महत् कार्य किया।

यूरोप से सुदूर में सिंगापुर जाकर वहाँ उन्होंने एक आश्रम की स्थापना की। वहीं से स्वामी आत्मानन्द ने मलेशिया, हांगकांग, इण्डोनेशिया, फिलीपिन्स की यात्रा की। साथ ही वे मध्य पूर्वीय देशों में भी गयीं। हजारों लोग मार्ग दर्शन के लिए उनके पास एकत्र होते थे और उन्होंने भी सभी जाति, धर्म और

सम्प्रदाय के लोगों को अपना शिष्य बनाया। अनेक मुसलमान, बौद्ध और इसाई भी उनके अनुयायी थे। इससे यह प्रमाणित होता है कि योग सचमुच एक सार्वभौमिक विज्ञान है।

सन् 1990 ई० में स्वामी आत्मानन्द सिंगापुर से स्वामी सत्यानन्द सरस्वती से मिलने आयीं और यह इच्छा व्यक्त की कि सब कुछ त्याग कर वे एकान्त में उनके समीप रहना चाहती हैं। परमहंस जी ने कहा– "हाँ, तुम यहाँ आकर रह सकती हो, लेकिन मेरी शिष्या के रूप में नहीं, बल्कि अपनी साधना और आध्यात्मिक जीवन के प्रति वचनबद्ध व्यक्ति के रूप में। यहाँ एक परमहंस की तरह रहो, जिसे न पैसे की, न अपनी स्थिति की, न शिष्यों की और न आश्रम की चिन्ता होती है। एक क्षण के लिए भी ऐसा नहीं सोचना कि केवल यहाँ आ जाने से तुम मेरे निकट रह पाओगी, क्योंकि तुम तो मुझे देख भी नहीं पाओगी। यदि तुम उन सारी चीजों को त्याग सकती हो जिनको तुमने रचा है और यहाँ अकेले रहकर साधना में अपना समय व्यतीत कर सकती हो तो आओ, अन्यथा नहीं।"

स्वामी आत्मानन्द ने उनका यह प्रस्ताव तुरंत स्वीकार कर लिया और इस प्रकार वे केवल उनकी प्रथम संन्यासी शिष्या नहीं बनीं, बल्कि ऐसी प्रथम शिष्या जिन्होंने उनके परमहंस जीवन में प्रवेश करने पर उनका अनुगमन किया।

स्वामी धर्मशक्ति

बसंती देवी का जन्म मध्यप्रदेश में हुआ था। उनकी बाल्यावस्था में ही उनकी माता को यह आभास हो गया था कि उनका भविष्य संघर्षपूर्ण रहेगा, इसलिए उन्होंने उनको रामायण तथा अन्य आध्यात्मिक ग्रन्थों की शिक्षा दी, साथ ही महान् संतों के जीवन से परिचय कराया। तेरह वर्ष की अवस्था में उनका विवाह सत्यव्रत श्रीवास्तव से हुआ, जिनके खुले, मित्रवत् तथा आध्यात्मिक स्वभाव का बसंती देवी के जीवन पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ा। सत्यव्रत स्वामी शिवानन्द के शिष्य बन गये और सन् 1957 ई० में श्रीवास्तव दम्पत्ति दर्शन और दीक्षा के लिए ऋषिकेश गये। जब सत्यव्रत मन्त्र दीक्षा लेने लगे तो उन्होंने अपनी पत्नी के लिए आस-पास देखा, तो स्वामी शिवानन्द ने कहा, "वह मुझसे दीक्षा नहीं लेगी। उसके गुरु उसके घर पर ही आयेंगे।"

स्वामी सत्यानन्द सरस्वती सन् 1958 ई० में राजनाँदगाँव गये। वहाँ उन्होंने श्रावण पूर्णिमा के दिन बसंती देवी को दीक्षा दी और वे धर्मशक्ति बन

गयीं। उसी वर्ष धर्मशक्ति और सत्यव्रत परमहंस सत्यानद के साथ तीर्थ करने उत्तराखण्ड गये। गंगोत्री में उन्हें अनेक आध्यात्मिक अनुभूतियाँ हुईं और एक संकल्प उनके मन में आया– "यदि मैं एक बालक को जन्म दूँगी, तो मैं उसे स्वामी सत्यानन्द सरस्वती को समर्पित कर दूँगी।" उनके इस संकल्प ने उनके जीवन की दिशा ही बदल दी। बाद में उन्होंने इस संकल्प की चर्चा सत्यव्रत से की, जिसका उन्होंने बार-बार अनुमोदन किया।

विवाह के चौबीस वर्षों बाद छत्तीस वर्ष की अवस्था में 14 फरवरी सन् 1960 ई० को धर्मशक्ति को एक पुत्र की प्राप्ति हुई। बालक के जन्म के पाँच सप्ताह बाद स्वामी सत्यानन्द सरस्वती दम्पत्ति को उनके संकल्प की याद दिलाने आये और कहा, "तुम अपना संकल्प पूरा करो। तुम्हारी गोद में मानवता का अनमोल रत्न है। जैसा कि तुमने संकल्प लिया था, इस रत्न को संन्यासी के हाथों सौंप दो।" दम्पत्ति ने एक-दूसरे को देखा और धर्मशक्ति ने स्नेहपूर्वक बालक को स्वामी सत्यानन्द सरस्वती के फैले हुए हाथों में यह कहते हुए रख दिया, "हे प्रभु, कृपया मेरे इस अर्पण को स्वीकार करो।"

गुरु ने बच्चे की आँखों में देखा और उसका नाम निरंजन रख दिया। इसके बाद उन्होंने बच्चे को माँ की गोद में वापस रखते हुए कहा, "धर्मशक्ति, आज से तुम और सत्यव्रत राजनाँदगाँव के यशोदा और नन्द हो। तुम्हारी गोद में होनहार भविष्य खिल रहा है। अत्यन्त सावधानी और सम्मान के साथ इसकी देखभाल करो। इसके साथ ममता नहीं जोड़ो। यह मानवता की नयी संस्कृति स्थापित करेगा।"

उसके बाद वे दोनों गुरु के मिशन का प्रचार करने में संलग्न हो गये। सन् 1963 ई० से स्वामी सत्यानन्द सरस्वती के मिशन की पत्रिका राजनाँदगाँव से प्रकाशित होने लगी और धर्मशक्ति ने इसका सम्पादन, प्रकाशन एवं वितरण किया। राजनाँदगाँव परमहंसजी के अन्तर्राष्ट्रीय योग मित्र मण्डल का मुख्यालय बन गया तथा धर्मशक्ति इसकी प्रथम सचिव थीं।

20 अक्तूबर सन् 1967 ई० को स्वामी सत्यानन्द सरस्वती राजनाँदगाँव पहुँचे। स्टेशन पर हजारों लोगों ने देखा कि धर्मशक्ति ने निरंजन का हाथ, जो उस समय मुश्किल से सात वर्ष के थे, उनके हाथों में दे दिया। उसके बाद मुंगेर में गुरु की देखरेख में निरंजन की गुरुकुल शिक्षा प्रारम्भ हुई। धर्मशक्ति उनसे कम ही मिल पाती थीं। सन् 1971 ई० की बसंत पंचमी को निरंजन ने

दस वर्ष की आयु में संन्यास ग्रहण किया और दो महीनों के अन्दर उन्हें गुरु के मिशन के प्रचार-प्रसार के लिए विदेश भेज दिया गया।

इसी बीच सत्यव्रत ने भी संन्यास की दीक्षा ले ली थी और सक्रिय रूप से मध्यप्रदेश में गुरु के मिशन का प्रचार कर रहे थे। सन् 1971 ई० में राजनाँदगाँव के योग आश्रम की स्थापना के साथ ही धर्मशक्ति के उत्तरदायित्व और अधिक बढ़ गये। उसी वर्ष के अन्त में उनके पति का दुर्घटना में निधन हो गया। धर्मशक्ति को इस घटना ने अन्दर से झकझोर कर रख दिया, वे विचलित हो उठीं, किन्तु अपने अन्दर के सच्चे शिष्य के ओज के साथ गुरु के मिशन में संलग्न रहकर उनकी सेवा करती रहीं।

अगले पन्द्रह वर्षों तक वे अनवरत कार्य में तल्लीन रहीं। वे अपने गुरु के मिशन की दृढ़ स्तम्भ थीं। सन् 1985 ई० में अन्ततः वे गंगा दर्शन में रहने के लिए चली आईं। उसी वर्ष उन्होंने संन्यास दीक्षा ली। परमहंसजी ने उनके विषय में अपना मत व्यक्त करते हुए कहा, "तुम प्रारम्भ से ही संन्यासिनी थीं। केवल गेरु धारण करने या लम्बी जटाएँ रखने का अर्थ ही संन्यास नहीं है। संन्यासी वह है जो सदैव गुरु की सेवा में समर्पित रहता है – जिसका जीवन ही सेवा है। तुमने संन्यास को नया अर्थ और नये मूल्य दिये हैं।"

आज हम कह सकते हैं कि स्वामी धर्मशक्ति एक ऐसी संन्यासी हैं जो समय की परीक्षा में खरी उतरीं। वे स्वामी सत्यानन्द सरस्वती से दीक्षा प्राप्त करनेवाली प्रथम शिष्या थीं। शायद वे ही एक ऐसी शिष्या हैं जो प्रतिकूल परिस्थितियों में भी गुरु के मिशन की सच्ची और दृढ़ समर्थक रहीं। यद्यपि उनका जीवन संघर्ष और दुःखों से भरा हुआ था, फिर भी गुरु के प्रति उनका विश्वास अडिग रहा। सरलता, संतत्व, पूर्ण समर्पण और त्याग की वे आदर्श उदाहरण हैं। वे सत्संग करती हैं, दर्शन देती हैं, दीक्षा देती हैं एवं सब के लिए आध्यात्मिक प्रेरणा का स्रोत हैं।

संन्यास वंश-परम्परा

दत्तात्रेय

स्वामी धर्मकीर्ति सरस्वती द्वारा संकलित

न जानामि गद्यं न जानामि पद्यम्,
न जानामि शब्दं न जानामि अर्थम्,
चित्तेक षडस्य हृदि द्योतते मे,
मुखं इस्सरंते गिरास्य चापि चित्रम्।

गद्य-पद्य जानूँ नहीं,
ना जानूँ शब्द-अर्थ,
हृदय है षण्मुखकृति से द्योतित,
विस्मित हूँ।
मुख से मेरे गिरा है प्रवाहित।

– आदि शंकराचार्य

माँ सत्य क्या है?

ऊषा आई–सूर्य की स्वर्णिम किरणों ने पंडुक के घोंसले में घुसकर शिशुओं को झकझोरा-जगाया, गोशाला से लटकी लताओं की झाड़ियों को छुआ, असंख्य चमेली की कलियों को प्रस्फुटित किया, प्रातः स्नान के लिए नदी की ओर जाते हुए उत्सुक, खिलखिलाते बच्चों को मानो अपने प्रकाश से नहला दिया, एक-एक कोने, दरार को उज्ज्वल कर दिया। धीरे-धीरे सारा आश्रम नींद से जग रहा था। तरुणियाँ घड़ों को अपने कूल्हे और सिर पर रखती हुई एक साथ गंगा से जल भरने चल पड़ीं। कुछ प्रातः अनुष्ठानों के लिए फूल

चुनने लगीं और कुछ ऋषि पत्नियों के सतर्क निर्देशन में अभी-अभी गोबर से लीपी गयी धरती पर चावल के चूर्ण से विभिन्न यन्त्र अंकित करने लगीं।

दूध दुहाती हुई गायों के गलों से लटकी चाँदी की घण्टियाँ सुबह की हवा के साथ झूल-झूल कर टिन-टिन कर रही थीं। प्रत्येक गाय का मस्तक सिन्दूर से सुसज्जित था। हर जगह लोग समूहों में मानो खुशी और आनन्द से फूले नहीं समा रहे थे। आश्रम के अन्तेवासियों के लिए जीवन का हर दिन एक उत्सव के समान होता था–निश्छल आनन्द और संतोषपूर्ण क्षणों से भरा हुआ, ऐसा संतोष जिसमें न संताप का अनुभव निहित हो और न ही जीवन की अतल गहराइयों को नापा गया हो, बस ऐसा संतोष जो जीवन का अन्तरंग हिस्सा हो।

अनसूया के अतिरिक्त सभी प्रसन्न थे, मुदित थे। उसे लगा मानो यह कल की बात हो जब वह एक तरुणी वधू के रूप में अत्रि के घर आई थी। कर्दम प्रजापति और देवहूति की द्वितीय कन्या अनसूया शर्म से झिझकते हुए कदमों से चलती हुई और झुकी हुई दृष्टि के साथ अग्नि कुण्ड के पास आई थी। चमेली के फूलों से गूँथी गयी उसकी वेणी उसके कदमों के साथ लहराती हुई चाँदी के उन नूपुरों से टकराकर किंकिण की ध्वनि उत्पन्न कर रही थी, जो उसके कोमल, मेंहदी की लाली में रंगे गोरे पैरों को सुशोभित कर रहे थे। उसे अपने अन्तर के विस्तीर्ण होने की अनुभूति हो रही थी, मानो वह किसी तीर्थ स्थान में देवता की देहरी पर खड़ी हो।

देवहूति ने अपनी कन्या के चेहरे की चमक और उसकी तेज चलती हुई श्वास को देखा, उन्हें आश्चर्य हो रहा था, क्योंकि उन्होंने अनसूया में कभी ऐसी चमक नहीं देखी थी। एक बालिका के रूप में वह ईर्ष्याविहीन प्रकृति की थी, उसमें अभूतपूर्व दानशीलता थी। उसके लिए कोई वस्तु इतनी प्रिय नहीं थी जिसे वह किसी के माँगने पर न दे सके। जैसे-जैसे वह सयानी होती गयी, लोग अपने कष्ट और समस्यायें उसके साथ बाँटने चले आते। वह शान्तिपूर्वक खुले हृदय के साथ उन्हें सुनती और जब वे वहाँ से जाते तो स्वयं को हल्का महसूस करते हुए जाते। अनसूया अपनी करुणा से उन्हें स्वस्थ कर देती। प्राय: जब वह देवहूति के कार्यों में हाथ बँटाती, उसका भार हल्का करती, तब वह आश्चर्यचकित होकर सोचने लगती कि कौन माता है और कौन पुत्री!

देवहूति के पति कहते, 'अनसूया स्वनाम धन्या है, वह सचमुच ईर्ष्या-द्वेष से पूर्णतया मुक्त है।' आज ऐसा प्रतीत हो रहा था जैसे उसकी आत्मा पूर्ण

समर्पण की अग्नि में तप रही हो। माता को उसके बचपन की याद हो आई जब उसने अपने पिता को यज्ञ करते हुए देख कर पूछा था, 'माँ! यज्ञ करते समय पिता अग्नि क्यों प्रज्वलित करते हैं?' देवहुति ने बताया था, 'प्रिय पुत्री! यह अग्नि हमें अपनी आन्तरिक अग्नि का स्मरण कराती है, जिसमें हम स्वयं को पूर्णता के साथ अर्पित कर देते हैं।'

'हम स्वयं को ही अर्पित क्यों करते हैं, यह आन्तरिक अग्नि क्या है?' अनसूया ने अपनी चमकती हुई बड़ी-बड़ी आँखों से निहारते हुए पूछा था।

देवहूति जान गयी थी कि उसकी इस द्वितीय कन्या में कुछ विशेषता है। वह सदा प्रश्न करती रहती। उसमें उच्चतर ज्ञान और विद्या प्राप्त करने की तृष्णा थी। उसने भ्रमणशील साधुओं से अनसूया की उत्सुकताओं के विषय में पूछा था। वह सोचा करती कि कौन उसका गुरु होगा जो उसकी अबोध उत्कण्ठाओं को शान्त कर पायेगा? और उसे सदा एक ही उत्तर मिलता। वे मुस्कुराते हुए कहते, 'अनसूया का परम सौभाग्य उसकी प्रतीक्षा कर रहा है। उसका जीवन ही उसकी साधना होगी।'

'माँ! माँ! कहती हुई अनसूया देवहूति से लिपट कर पूछ रही थी, 'यह आन्तरिक आग क्या है?' उसने उसे समझाया था, 'अनसूया, यह हम सब के अन्दर एक दिव्य आग के रूप में रहती है। यह हमारी सजगता है। यह हमारा मन नहीं है, बल्कि हमारे मन पर, सभी विचारों पर, भावनाओं पर, क्रियाओं पर अपनी सतर्क दृष्टि रखती है। यह इन सबसे अप्रभावित रहती है। यह अग्नि इस दिव्य सजगता, अर्थात् 'सत्य' की रक्षक है। जब हम खेलते हैं, खाते हैं, सोते हैं, यह शाश्वत प्रकाश अहर्निश देदीप्यमान् रहता है। यह जीवन-तीर्थ के पथ को द्योतित करता रहता है।'

'कैसा तीर्थ माँ?', बालिका ने पूछा था। देवहूति ने बताया, 'हम सब तीर्थ-यात्री हैं और सतत् सत्य की ओर बढ़ते जाते हैं।' अनसूया इस पर भी सन्तुष्ट नहीं हुई, लगातार पूछती ही गयी, 'यह सत्य क्या होता है माँ?' अब देवहूति के पास शब्द नहीं थे। क्या शब्दों से उस व्यापक, असीम, शाश्वत सत्य का वर्णन किया जा सकता है? तब उसने सपाट-सा उत्तर दिया, 'अनसूया, जब तुम्हें वह मिलेगा, तुम स्वयं जान जाओगी।'

अनसूया जब खेल में, घर के काम में, भोजन बनाने में, संगीत तथा शास्त्रों के अध्ययन में, बहनों के साथ इधर-उधर भागने में, अतिथियों को भोजन परोसने में व्यस्त रहती तो साथ-साथ वह एक खेल खेला करती, सजगता के

साथ। उसका बालमन प्राय: पूछता, 'क्या मैं सत्य के सामने खड़ी हूँ?' तो अन्दर से एक धीमी-सी आवाज आती, 'नहीं, अभी नहीं।' वह जितनी ही सतर्क रहती, उसकी जागरूकता की ज्वाला अग्नि के रूप में उतनी ही प्रबल होती जाती।

वह अपनी बड़ी-बड़ी आँखों के साथ कहती, 'माँ! देखो, यज्ञ-कुण्ड की अग्नि मेरे हृदय में प्रवेश कर गयी है। क्या तुम उसकी ज्योति देख सकती हो?' आज अनसूया को वधू के जोड़े में देख कर देवहूति को याद आया। उसने अग्नि-कुण्ड की ओर देखा और फिर अपनी पुत्री के चेहरे की आभा को, फिर उसने स्वयं से कहा, 'हाँ! मेरी बेटी, मैं उस ज्योति को देख सकती हूँ।'

देवहूति के विचार उसे अतीत में वहाँ ले गये जब उसने अपने स्वामी ऋषि कर्दम को पहली बार देखा था। अनेक वर्ष पूर्व उसकी अपनी इच्छा के अनुरूप उसके पिता स्वयंभू मनु और माता शतरूपा उसे लेकर ऋषि कर्दम के आश्रम में गये थे। कर्दम ने उसी समय अग्नि-होत्र समाप्त किया था। गहन तपस्या के कारण वे स्वयं अग्नि के समान दमक रहे थे। फिर भी पूरी विनम्रता के साथ उन्होंने राजा मनु को परम्परा के अनुसार अर्घ्य और पाद्य समर्पित कर उनका स्वागत किया। मनु ने ऋषि के सम्मुख साष्टांग प्रणाम किया और उनसे आशीर्वाद प्राप्त किया। कर्दम ने राजा को आसन पर बिठाकर उनके राज्य और उनकी प्रजा का कुशल-क्षेम पूछा।

उन्होंने कहा, 'हे राजन्! एक राजा संन्यासी के समान होता है। उसका अपना न तो व्यक्तिगत जीवन होता है और न कोई बन्धन। उसकी प्रजा उसकी सन्तान होती है। वह एक माँ के समान उनका पालन-पोषण करता है और एक पिता के समान उनकी रक्षा करता है। वह सभी में आत्म को देखता है। वह कर्म-योग के पथ का पथिक होता है। उसकी प्राण-शक्ति और मनस्-शक्ति, दोनों आपस में सन्तुलन बनाये रखते हैं। उसका बल और पराक्रम तथा उसकी विनम्रता और करुणा एक-दूसरे को ठीक उसी प्रकार प्रभावित करते हैं जैसे सूर्य और चंद्रमा। वह यम के समान बुराइयों का नाश करता और धर्म की रक्षा करता है। वह नारायण का प्रतिनिधि होता है। तपस्वियों का रक्षक होता है। हे राजन्! कृपया अपने आगमन का कारण बताएँ।'

राजा ने मृदु स्वर में कहा, 'ईश्वर और आप जैसे तपस्वियों के आशीर्वाद से मेरा राज्य उन्नति कर रहा है। मेरी प्रजा स्वस्थ और समृद्ध है। मेरी एक ही व्यक्तिगत इच्छा है। मेरे दो पुत्र हैं—उत्तानपाद और प्रियव्रत। मुझे उनकी

कोई चिन्ता नहीं है। एक पिता सदा अपनी पुत्रियों के लिए चिन्तित रहता है। वह उन्हें ऐसे घरों में ब्याहना चाहता है जहाँ धर्म अपने पारम्परिक रूप में अवस्थित हो। मेरी कन्याओं, आकुति एवं प्रसूति का विवाह हो चुका है। मेरी इस कन्या, देवहूति ने मुनि नारद से जब से आपके विषय में सुना है, आपको अपना स्वामी मान लिया है। मैं इसे आपको कन्यादान के रूप में देना चाहता हूँ। कृपया इसका पाणिग्रहण कर इसका मान रख लें।'

कर्दम ने मुस्कुरा कर यह प्रस्ताव स्वीकार किया था। फिर भी उन्होंने उसकी उपस्थिति में ही राजा से एक बात कही, 'मैं आपकी कन्या को एक शर्त पर स्वीकार करूँगा। मानव जीवन का लक्ष्य है ब्रह्म की खोज। हम लोग जीवन की चार अवस्थाओं के द्वारा स्वयं का शुद्धिकरण करते हैं। ये चारों अवस्थायें हैं–ब्रह्मचर्य, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थ एवं संन्यास। प्रथम तीन अवस्थाएँ हमें शुद्ध कर चौथी के लिए तैयार करती हैं। इसी ज्ञान ने ब्रह्मवर्त की महान् परम्पराओं को जीवित रखा है। मैं अपनी सन्तानों की उत्पत्ति तक देवहूति के साथ गृहस्थाश्रम में रहूँगा। उसके बाद मैं संन्यास लेकर ईश्वर की खोज में लीन हो जाऊँगा।' तत्पश्चात् कर्दम से देवहूति का विवाह हो गया और वह बिन्दुसरस में उनके आश्रम में रह गयी तथा उसके माता-पिता अपने नगर वर्हिस्मति लौट गये।

देवहूति को बीते हुए वे वर्ष याद आ रहे थे जब उसने कितने स्नेह के साथ अपने पति की सेवा की थी, किस प्रकार उसने शारीरिक और मानसिक संयम के साथ स्वयं को आध्यात्मिक जागृति के लिए तैयार किया था। उसे यह भी याद आया कि अपने पति के पूछने पर उसने किस प्रकार मातृत्व की इच्छा व्यक्त की थी। कर्दम ने उसकी वर्षों की समर्पित सेवा का करुणापूर्ण प्रतिदान दिया था। आने वाले उसके सारे दिन और रातें खुशियों से भरे हुए थे। एक-एक कर उसे नौ कन्या रत्नों की प्राप्ति हुई। किन्तु पलक झपकते ही वह समय समाप्त हो गया। उसे याद आया कि विवाह के पूर्व कर्दम ने क्या कहा था।

उसने पति का ध्यान टूटने तक प्रतीक्षा की। आँखों में छलकते हुए अश्रुओं और बद्ध कर के साथ उसने कहा, "स्वामी, मैंने जीवन के सभी सम्भव आनन्द प्राप्त किये, मेरी सारी इच्छाएँ भी पूर्ण हो चुकी हैं। फिर भी आपसे बिछोह का विचार ही मुझे व्यथित कर रहा है। यथार्थ से मैं परिचित थी, अत: आपके साथ व्यतीत हुए समय में मुझे स्वयं को इसके लिए तैयार कर लेना चाहिए था, जो मैंने नहीं किया। और अब मेरा अन्तर उस विचार के झंझावात में उद्वेलित

हो रहा है। मेरी उन इच्छाओं का मेरे लिए क्या अर्थ रहा? अब प्रत्येक वस्तु व्यर्थ प्रतीत हो रही है। मैं इच्छाओं और उनके तुष्टिकरण की क्षणभंगुरता समझ गयी हूँ, किन्तु फिर भी उनसे ऊपर नहीं उठ पा रही हूँ। मैं समुद्र जैसे एकाकीपन को कैसे पार कर पाऊँगी? मेरा अज्ञान कैसे दूर होगा?"

कर्दम समझ रहे थे कि उनकी पत्नी व्यथा की सामान्य स्थिति से गुजर रही है। यह अपरिहार्य था, अनिवार्य था। दु:ख इसी प्रकार विवेक एवं वैराग्य की पृष्ठभूमि तैयार करता है। उन्होंने कहा, 'देवहूति! तुम्हारी एक और संतान होगी, कपिल महान्। उसे अपने गर्भ में धारण करने की तैयारी करो। कपिल तुम्हें ब्रह्म विद्या प्रदान करेंगे। उसी के माध्यम से तुम्हें मोक्ष की प्राप्ति होगी। तुम्हारे ही द्वारा वे सांख्य योग की स्थापना करेंगे। तभी तुम्हारा कष्ट दूर होगा।'

देवहूति ने पति की आज्ञा का पालन किया। चलते, सोते, यहाँ तक कि बच्चे के साथ भी उसने एकाग्रता के साथ साधना की। गहरे अवसाद और महती इच्छा के साथ वह उस दिवस की प्रतीक्षा कर रही थी जब उसका बालक उसके उस आन्तरिक प्रश्न का उत्तर देगा; जिसे कई वर्ष पूर्व उसकी पुत्री ने उससे पूछा था, 'माँ! सत्य क्या है?'

स्वामी! सत्य क्या है?

विनम्र हाथों ने उसका घूँघट उठाया। अनसूया की दृष्टि अनायास पति के मुख पर गयी। उसके अन्दर की अग्नि दहक उठी, पति के मुख पर छाया हुआ तेज देखकर वह समझ नहीं पाई कि यह उसके अन्तर का प्रकाश उसके पति को प्रकाशित कर रहा था या उसके पति के प्रकाश में उसका हृदय सुवर्ण की तरह पिघल गया है। यह आभा इतनी प्रखर थी कि दोनों उसमें निमज्जित हो गये और तत्क्षण वह समझ गयी कि सत्य से उसका साक्षात्कार हो गया है।

अनेक वर्षों तक वह इस पुरुष को देख-देख कर चमत्कृत होती रहती थी कि जो उसके साथ इतना मृदुल और सौम्य है वह स्वयं अपने साथ इतना कठोर कैसे हो सकता है? उसने उसे बताया था कि उसके नाम 'अत्रि' का अर्थ होता है 'यात्री' या 'भक्षक'। सचमुच उसमें सत्य को प्राप्त करने की ऐसी गहन इच्छा थी मानो वह उसका भक्षण करना चाहता हो। उसने सप्तपदी के सन्दर्भ में अनसूया से कहा था, 'हम दोनों सात कदम साथ चले हैं, हम सत्य के पथ

के सहयात्री हैं, हम आजीवन मित्र रहेंगे।' अब अनसूया ने समझा कि सत्य उसकी कल्पना से कहीं अधिक व्यापक है।

अनसूया पूर्ण समर्पण के साथ उसकी सेवा में लगी रही और अत्रि उसे आध्यात्मिक साधना की शिक्षा देते रहे, निरन्तर उसका मार्ग-दर्शन करते रहे। वे एक साथ रूक्ष पर्वतों पर गये। जंगलों की सुन्दर हरीतिमा ने उसे मन्त्रमुग्ध कर दिया। प्रतिदिन प्रात: वह निर्विन्ध्या नदी के जल में खड़ी होकर पक्षियों के कलरव के साथ उपासना करती। जब वह पूजा-अर्चना करके जल से बाहर आती तब सूर्य की कोमल किरणें मानो अपने मूक आशीर्वादों से उसे नहला देतीं।

आश्रम, जैसे शान्ति का वास-स्थान हो। गायों को दुहने के पूर्व वह उनमें आन्तरिक आत्मन् का ध्यान करती। जब वह चलती तो प्रचुरता से खिले हुए फूल आगे बढ़कर मानो अपनी पंखुड़ियों से उसके कोमल पैरों का स्पर्श करना चाहते।

अत्रि अपनी इन्द्रियों को संयमित कर पंचाग्नि विद्या का अभ्यास करते थे। चारों किनारों पर अग्नि और ऊपर तपता हुआ सूर्य–इन सब के बीच ऋषि में स्वयं अग्नि की दमक होती। यद्यपि आन्तरिक अग्नि ही तप के लिए पवित्र कर तैयार करती है, फिर भी अत्रि क्रमबद्धता के साथ अपने शरीर और मन को कठिन तपस्या के लिए तैयार कर रहे थे, और अपनी समर्पित सेवा के साथ अनसूया की चेतना का भी विस्तार हो रहा था। उनकी वासनाएँ तथा भावनाएँ उनकी संयुक्त आध्यात्मिक अभीप्सा की अग्नि में परिशुद्ध होकर धूम्रवत् हो चुकी थी। उन्होंने अपना जीवन ब्रह्माण्ड के दिव्य जीवन में, जीवन यज्ञ में समर्पित कर दिया था।

अनसूया अतुलनीय आध्यात्मिक शक्तियों की पुंज और सतीत्व की आदर्श बन गयी थी। यहाँ तक कि एक बालिका के रूप में उसने एक ब्राह्मण कौशिक की पत्नी समुति की वेदना का शमन किया था। कौशिक का अपनी इच्छाओं पर से नियन्त्रण समाप्त हो चुका था और वह वासनात्मक सुखों का दास बन गया था। वह एक वेश्या के प्रति अनुरक्त हो गया था। धीरे-धीरे उस वेश्या ने उस ब्राह्मण से उसका सब कुछ हस्तगत कर लिया और जब उसके पास देने को कुछ भी नहीं रहा तो उसने उसे अपने घर से बाहर निकाल फेंका। अब तक कौशिक ने अपने शरीर और मन की जो उपेक्षा की उसके कारण उसे कुष्ठ रोग ने पकड़ लिया। इतना होने पर भी उसकी इच्छाएँ न तो पूर्ण हुईं और न ही समाप्त।

सुमति जो अनसूया की ही तरह पवित्रता की प्रतीक थी, अपने पति को एक टोकरी में बिठाकर रात में उसे उस वेश्या के घर ले चली। रास्ते में कौशिक का पैर एक ऋषि को छू गया, जिन्होंने क्रुद्ध होकर उसे सूर्योदय से पूर्व ही मृत होने का शाप दे दिया। अपने पति के प्रति एकनिष्ठ भक्ति से उत्पन्न आध्यात्मिक शक्ति से सुमति ने सूर्य को उदय होने से रोक दिया। तब अनसूया ने ब्रह्माण्डीय नियमों को बनाये रखने के लिए सुमति से अपनी संकल्प-शक्ति को वापस लेने का आग्रह किया और अपनी शक्ति के द्वारा कौशिक को स्वास्थ्य और जीवन प्रदान करने का आश्वासन दिया।

पवित्रीकृत और सुधरा हुआ कौशिक अपनी पत्नी के पातिव्रत्य को पहचान गया और अनसूया से कहा, 'हे माँ! वेदों का अध्ययन करने के बावजूद मैं उनका अर्थ नहीं समझ पाया था। मुझे इसका ज्ञान ही नहीं था कि बुद्धि और अनुभव दोनों का साथ होना आवश्यक है। मैंने अपने शरीर और मन के साथ अत्याचार किया जिससे मेरे अन्दर की शक्तियों का सन्तुलन समाप्त हो गया। इच्छा तो अग्नि के समान है, जो सदा अतृप्त रहती है। यही शक्ति हमें मोक्ष का मार्ग भी दिखाती है और यही हमें अन्धकार एवं कष्ट की ओर भी ले जाती है। मुझे धिक्कार है। मैंने अपना समय क्षणभंगुर सुखों को पाने में गँवा दिया, माया ने मुझे अन्धा बना दिया था। माँ, मैं अविद्या से मुक्त होना चाहता हूँ। मैं चेतना की उस अवस्था को प्राप्त करना चाहता हूँ जहाँ सदा प्रशान्ति है और जो समय के उतार-चढ़ाव से अप्रभावित रहती है। मैं मूर्ख था, तभी मेरे मन पर अहमन्यता की धुंध छायी हुई थी। मैं तमस्, अज्ञान और निष्क्रियता का प्रतिरूप बना हुआ था। मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ, मुझे ज्ञान दें ताकि मैं फिर से सांसारिक जंजाल में न फँस जाऊँ।'

अनसूया ने उसे करुण दृष्टि से देखा और कहा–'हे कौशिक, दु:खी मत होओ। मन तीन गुणों–तमस्, रजस् और सत्त्व का दास होता है। शरीर और मन की क्रियाओं से प्रभावित न होते हुए एक शाश्वत साक्षी बन जाओ। जागरूकता के साथ, साक्षी भाव से ध्यान करो। हम लोग एक उच्चतर चेतना के यन्त्र मात्र हैं। तुमने अपने शरीर का दुष्प्रयोग करने के लिए पर्याप्त दण्ड प्राप्त कर लिया है। अब तुम्हारा पुनर्जन्म हुआ है। अपनी भक्ति 'नारायण' के प्रति समर्पित करो, जो सर्वव्यापी हैं–तुममें, मुझमें, सम्पूर्ण जगत् में। अपने शरीर और मन को क्षणिक सुखों में न लगाकर शाश्वत, नित्य-निरन्तर आत्मा की खोज में लगाओ। समर्पण भक्ति की पराकाष्ठा है।'

सुमति को गले से लगाते हुए अनसूया ने भाव विभोर होकर कहा, 'बहन, तुम्हारे समान स्त्रियों ने ही इस जगत् में धर्म को सुरक्षित रखा है। चूँकि तुमने धर्म की रक्षा की, इसलिए इसने तुम्हारी रक्षा की– *'धर्मो रक्षति रक्षिता: ।'* अनेक आँसुओं की धार एक हो चली। सुमति और कौशिक अपने घर को चल पड़े। उसके बाद अनसूया बहुत देर तक अपने बचपन और अपनी बहनों–कला, पूर्णिमा, देवकुल्या, श्रद्धा एवं हविर्भू को याद करती रही। उसे याद आया, किस प्रकार वे घर के काम जल्दी समाप्त कर लेती थीं ताकि बिन्दुसरस नदी के सुन्दर और मनोरम तट पर अधिक देर बैठ सकें। वहाँ वे कभी धर्म-अधर्म की चर्चा करतीं, कभी अपनी भावनाओं की चर्चा करतीं–कभी हँसती हुई, तो कभी गम्भीरता के साथ। प्राय: बौद्धिक वार्ता के पीछे उन लोगों की कोई भावना या कोई उत्कण्ठा छिपी होती। अनसूया की मर्मज्ञता उनके भावों को अनावृत्त कर देती और तब वह उन्हें उनके उपयुक्त सुझाव देती और उनका मार्गदर्शन करती।

द्वितीय सन्तान होने के कारण उसके उत्तरदायित्व भी अधिक थे। कभी-कभी उसे माता के समान दूसरों की समस्याओं का समाधान करना पड़ता। हाँ, अनसूया को अपना बचपन याद आ रहा था। एक बार श्रद्धा ने कहा था, 'अनसूया की सन्तान भाग्यशाली होगी।' यह बात याद आते ही जैसे उसके मन में एक दबी हुई ललक जाग उठी थी जिसने उसके आत्मनियन्त्रण को झकझोर कर रख दिया था, उसकी मानसिक शान्ति को छिन्न-भिन्न कर दिया था। शूल की तरह चुभती हुई उस इच्छा से आहत होकर अनसूया अत्रि के पास गयी और कहा, 'स्वामी, मेरी आन्तरिक शान्ति क्यों नष्ट हो गयी है? मैंने पूरी भक्ति के साथ आपकी सेवा की है और इतने वर्षों तक मैं यही समझती रही कि मैं सत्य के अधिक निकट पहुँच गयी हूँ? किन्तु अब मैं अकारण ही व्यथित हो रही हूँ। क्या मैं अपने पथ से विचलित हो गई हूँ? क्या तपस्या और साधना में व्यतीत हुए इतने वर्ष यूँ ही व्यर्थ हो गये?'

अत्रि जो भविष्य-द्रष्टा भी थे, मुस्कुराते हुए बोले, 'उद्विग्न मत होओ। सन्तान की इच्छा होना स्वाभाविक है। यह लालसा भी तुम्हारे अन्दर उत्पन्न नहीं होती, किन्तु यह तो महत्तर चेतना की इच्छा है। हम सभी दो स्तरों पर कार्यरत रहते हैं। एक स्तर पर हमारी व्यक्तिगत अभीप्साएँ, आकांक्षाएँ होती हैं, हमारे स्वप्न होते हैं। कुछ संस्कार होते हैं जो छोटी तरंगों के समान उठते-गिरते रहते हैं। कुछ गहराई में दबी वासनाएँ होती हैं। ये उत्ताल तरंगों के समान आसानी

से शान्त नहीं होती हैं। ये उठती हैं, दूसरी तरंगों से टकराती हैं और नये प्रकार और प्रभाव की नयी तरंगें उत्पन्न कर देती हैं। जब ये उठती-गिरती थक जाती हैं तो स्वयं शान्त हो जाती हैं। तुममें न तो कोई छोटी तरंग है और न ही कोई वैसी प्रचंड तरंग ही है। तुम तो एक सागर के समान हो जो सतह पर उठने-गिरने वाली तरंगों से अप्रभावित रहता है। तुम तो स्वयं तरंगें उत्पन्न करती हो।'

'सुमति ने बचपन के तुम्हारे सपनों को जगा दिया। ये स्वप्न विशाल अभिरचना के एक अल्पांश हैं। हमारा सीमित मन परमात्मा के मन की गति को नहीं माप सकता है। परमात्मा में विश्वास रखो। श्रद्धा के दीप जलाओ। अपने विचारों को, अपनी भावनाओं को परमात्मा के प्रति समर्पित कर दो। प्रत्येक घटना के पीछे कोई विशेष उद्‌देश्य होता है। वह जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का संचालन करता है, उसकी इच्छा के बिना न तो कोई विचार उत्पन्न होते हैं और न ही कोई भावना मन में उठती है। तुम उस दिव्य शक्ति के हाथों में केवल एक यन्त्र हो। गरिमामयी बनी रहो। अपने संगीत को उनकी इच्छा मानो, उसे सत्य के अपने पूर्व अवधारित सीमित विचारों की दृष्टि से मत आँको। सत्य असंख्य रूपों में उद्‌घाटित हो सकता है, उद्‌भासित हो सकता है। स्वयं को एक साक्षी बना लो। तुम्हारे माध्यम से जो भी सत्य उद्‌घाटित हो उसे स्वीकार करो, किन्तु स्वयं को उससे बाँधो नहीं, उसे अपना अभिज्ञान न बनाओ।'

आश्चर्य है। जो अनसूया आध्यात्मिक स्तर पर इतनी उन्नत-विकसित थी, अन्य जिज्ञासुओं के लिए प्रकाश-स्तम्भ थी, आज उसी की एकाग्रता विचलित हो रही है। यही माया की शक्ति है जो महान् आत्माओं को भी विचलित कर देती है, किन्तु यह भी सत्य है–इसके बिना गति नहीं, प्रगति नहीं, दिव्यता का उद्‌घाटन भी नहीं। साधक हर प्रकार की पूर्णता प्राप्त करता है। और उस पूर्णता को अग्नि की शिखाओं में समर्पित कर देता है। वह अग्नि बार-बार जीवन की विभिन्न अवस्थाओं में प्रज्वलित हो उठती है और हमसे हमारा सर्वस्व मांगती है, हमारी सुरक्षा की भावना, हमारे आधार-सभी को उस धधकते हुए अनल में आहूत करना है। हम तब तक ऐसा नहीं कर सकते जब तक हममें आधारविहीन, बन्धनविहीन अभिज्ञान-अहंकार विहीन निश्चल-निर्मल-नग्न खड़े रहने का साहस न हो। केवल ऐसा करने वाले ही साधक हैं।

अनसूया ने पूछा था, 'स्वामी! मेरी यह व्यथा कब दूर होगी?' अत्रि ने उसके आँसू पोंछते हुए कहा था, 'अडिग रहो। अपनी श्रद्धा को अटल बनाओ और सत्य की प्रतीक्षा करना सीखो।' उसने तत्काल पूछा था, 'स्वामी, सत्य

क्या है?' अत्रि ने बताया था, 'तुम सत्य को पहचान जाओगी जब यह स्वयं तुम्हारे समक्ष उद्घाटित होगा।'

वत्स! सत्य क्या है?

अनसूया अपनी तपस्या में लगी रही और अत्रि की तपस्या गहनतम होती गयी। उस पवित्र दम्पत्ति की साधना अबाध-अक्षुण्ण चलती रही। उनकी आन्तरिक उपासना की शक्ति में और ब्रह्माण्डीय शक्ति में समस्वरता स्थापित हो गयी थी। उनकी साधना ने उन्हें ब्रह्माण्ड की सृजन, पालन और विलयन की शक्तियों से एकाकार कर दिया था।

एक दिन ध्यान के क्रम में अत्रि को तीन देवों–ब्रह्मा (सृजनकर्ता), विष्णु (पालनकर्ता) एवं शिव (संहारकर्ता) के दर्शन हुए। उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ कि वे कह रहे हों, 'हम स्वयं को तुम्हारे प्रति अर्पित करते हैं।' और प्रकाश की एक किरण उनके अन्दर प्रवेश कर उन्हें द्युतिमान् कर गयी। तब अत्रि इतने पवित्र, अहंकार मुक्त हो गये कि सत्य स्वत: उन पर उद्घाटित होने लगा। वस्तुत: वे पवित्रता की उस सीमा तक पहुँच गये थे जहाँ मनुष्य महत्तर शक्तियों के साथ एकात्म हो जाता है, एकाकार हो जाता है। दिव्यत्व की पूर्ण अभिव्यक्ति के लिए वे आदर्श और उत्कृष्ट माध्यम थे। अपनी तपस्या के फलस्वरूप अत्रि को ब्रह्माण्ड की त्रिविध शक्तियाँ आत्मस्वरूप प्रतीत होने लगी थीं। दिव्य आनन्द से परिपूर्ण अत्रि उठे और अनसूया को पुकारा।

आश्रम के प्रतिदिन के अनुष्ठानों को पूरा कर अनसूया ध्यान में बैठी हुई थी। ध्यान में अन्तर्मुख होने पर उन्हें तीन अतिथियों के दर्शन हुए जो उनके द्वार पर खड़े होकर भिक्षा माँग रहे थे। यह सर्वविदित है कि भारतीय परम्परा के अनुसार *'अतिथि देवो भव:'*, अत: यह एक शुभ संकेत था।

वे अतिथि कह रहे थे, *'भवति भिक्षांदेहि'*। अतिथि को दो प्रकार से भोजन कराया जाता है। एक तो घर की स्त्री अपनी इच्छा से जो दे और दूसरा 'इच्छा भोजन'–अतिथि की इच्छा के अनुसार दिया गया भोजन। उन अतिथियों ने अनसूया से नग्न होकर भोजन कराने की इच्छा व्यक्त की। अनसूया में ऐसी शक्ति थी जिससे पंच भूत–क्षिति, जल, पावक, गगन, समीर उसके नियन्त्रण में थे। वह समझ गयी–वे चाहते थे कि वह अपने अहं के आवरण को उतार कर उन्हें भोजन कराये। वे उसे पूर्वानुभूतियों से मुक्त

होकर, नग्न और शुद्ध मन से उनके समक्ष आने को कह रहे थे। पातिव्रत्य से बँधी होने पर भी अनसूया विचलित नहीं हुई।

अपने दिव्य-दर्शन में अनसूया ने स्वयं को उठ कर उन्हें भोजन देने के लिए जाते हुए देखा। वे इतने जाज्वल्यमान थे, मानो प्रकाश-पुंज हों। उसके अन्दर की ममता पूर्णतः जाग्रत हो उठी और उसके स्तनों से दूध की धारा स्वतः फूट पड़ी। वे तीनों देव छोटे शिशुओं में परिवर्तित हो गये और उसने उन्हें तब तक दुग्धपान कराया जब तक वे संतुष्ट नहीं हो गये और जब तक वह स्वयं भी संतुष्ट नहीं हो गयीं। वह दूध के साथ अपनी तपस्या, तपस्या के फलों को महत्तर चेतना में तब तक उत्सर्जित करती गयी जब तक उसका आध्यात्मिक अहं भी पूर्णतया समाप्त नहीं हो गया। धीरे-धीरे वह परिदृश्य धुँधला होता गया और वह अपूर्व शान्ति में डूब गयी। ऐसी शान्ति जो ध्वनिमुक्त तो नहीं थी, किन्तु जिसमें 'आत्म' का बोध मिट गया था।

कुछ क्षणों के बाद जब अत्रि ने वहाँ प्रवेश किया तो देखा अनसूया आँखें बन्द किये बैठी थी और उसके ओठों पर स्मित था। जब उसने आँखें खोलीं तो उन्हें आपस में बात करने की आवश्यकता नहीं थी, दोनों को एक-दूसरे के जीवन की उन महत्त्वपूर्ण घटनाओं का बोध हो गया था। समय के अन्तराल में अनसूया ने सोम-सृजक शक्ति के अंश; दुर्वासा-प्रलय के अंश और मार्गशीर्ष के मंगलमय महीने में शुक्ल पक्ष के चौदहवें दिन बुधवार को दत्तात्रेय को जन्म दिया।

आश्रम में यह एक उत्सव का दिन था। सभी द्वार आम्र-पल्लवों से सजाये गये थे। स्तम्भों में केले के पत्ते लपेट दिये गये थे। पृथ्वी पर चावल-चूर्ण से यन्त्र बना कर उन्हें कुंकुम और हल्दी से सुसज्जित किया गया था। गायों के मस्तक लाल सिन्दूर से पूरे भर दिये गये थे। आस-पास के ऋषिगण जो अपनी तपः शक्ति से दमक रहे थे, नवजात शिशु को देखने आये थे। जिसने भी शिशु को देखा, उसके अलौकिक सौन्दर्य पर विमुग्ध हो गया।

ऋषियों की आँखों में आनन्द के अश्रु उमड़ पड़े और उन्होंने कहा, *'अत्रि नेत्र समुद्भव'*–'यह शिशु वस्तुतः अत्रि के नेत्रों से जन्मा है।' उनका संकेत अत्रि के ज्ञान चक्षु की ओर था। शिशु अत्रि की तपः शक्ति का प्रत्यक्ष रूप था। चेतन-शक्ति आँखों के माध्यम से शक्ति के रूप में प्रकट होती है। इसीलिए कहा जाता है कि ऋषियों के पास दिव्य दृष्टि होती थी। दत्तात्रेय अत्रि की विस्तीर्ण चेतना के सुफल थे।

देवकुल्या, जिसे बाद में गंगा कहा गया और जो अनसूया की भ्रातृ-तनया थी, शिशु की विस्फरित आँखों पर मुग्ध थी। उन्हें देख कर ऐसा लगता था मानो खिले हुए कमल के फूल हों, इसीलिए वह उसे कहा करती– *'प्रफुल्ल कमलाक्ष'*। उसे गोद में उठाते हुए उसने कहा, 'यह पूर्ण चन्द्र के समान चमकता है।' अनसूया ने अपने बच्चे को देखा–जल से भरे हुए वर्षा ऋतु के बादल के समान उसका वर्ण, वह कोई सामान्य बालक नहीं था। वह ज्यों-ज्यों बड़ा होता गया उसकी विद्वत्ता एवं करुणा उसके अन्दर से स्वतः प्रस्फुटित होती गयी। उसकी इच्छा से ऐसा होता हो, ऐसी बात नहीं थी। ठीक वैसे ही जैसे सूखी धरती पर काले घने मेघ अपना जल स्वतः बरसा देते हैं। वह समझ गयी थी कि परम चेतना एक भौतिक गर्भ से अवतरित हुई है। उसने उसके शरीर को इन्द्रनील की तरह चमकते देखा था। उसका मातृत्व तृप्त हो चुका था।

जैसे-जैसे दत्तात्रेय बड़े होते गये, आश्रमवासियों के आनन्द का स्रोत बनते गये। जिस प्रकार कृष्ण बड़े होने पर भी सारे गोकुल के प्यारे थे, उसी प्रकार दत्तात्रेय भी सब को मुदित करते रहते थे। वे शान्त और आत्मनियन्त्रित थे। साथ ही वे विनोदी प्रकृति के भी थे। उन्हें देव भी कहा जाता था, जिसके दो अर्थ होते हैं–'प्रकाश' और 'आत्मा'। उन्हें भस्म लगाना प्रिय था।

एक बार अनसूया ने देखा कि उनके मित्र उन्हें घेरकर बैठे हुए थे और वे उनके साथ गम्भीर वार्ता में लीन थे। उस समय उनकी आयु आठ वर्ष की थी। वे उन्हें समझा रहे थे, "भस्म के अन्य नाम भी होते हैं। इसे विभूति कहते हैं, क्योंकि यह आध्यात्मिक शक्ति देता है; भस्म–सभी बुराइयों का नाश करता है; रक्षा–क्योंकि यह सभी प्रकार के भय से सुरक्षित रखता है। भस्म में अग्नि की शक्ति होती है। अग्नि, अन्दर की आग सारी आन्तरिक अशुद्धियों को जलाकर राख कर डालती है। जो शरीर पर भस्म लगाता है वह ऐसा शुद्ध होता है मानो अग्नि-स्नात हो।"

एक बालक ने दत्तात्रेय से पूछा, 'क्या केवल शरीर पर भस्म लगा लेने से सत्य की प्राप्ति हो जाती है?' 'नहीं', दत्तात्रेय ने समझाया, 'शरीर पर भस्म मलो और तब अग्नि एवं भस्म के गूढ़ अर्थ पर चिन्तन-मनन करो। तब तुम्हें सत्य की प्राप्ति होगी।' जब बच्चों ने अनसूया को देखा तो श्रद्धा और आदर के साथ उठ गये और खेलने के लिए भाग गये। वे दत्तात्रेय को 'भस्मनिष्ठ' कहा करते थे, अर्थात् वह जिसे भस्म प्रिय हो।

दत्तात्रेय एक आदर्श पुत्र थे। उनके दोनों बड़े भाइयों-सोम और दुर्वासा ने कम उम्र में ही गृह त्याग दिया था, जबकि उन्होंने घर पर रहकर भक्ति के साथ माता-पिता की सेवा की। कृष्ण अपनी पत्नी रुक्मिणी से कहा करते, 'मैं अपने भक्तों के पीछे भागता हूँ ताकि उनके पैरों से उड़ने वाली धूल से मेरी परिशुद्धि हो सके।' उस परम चेतना का प्रेम और करुणा-दया ऐसी होती है जो अनेक रूपों में प्रकट होती है, कभी पुत्र, कभी सेवक, कभी शिक्षक, तो कभी मित्र के रूप में ताकि वे उन सब की सेवा कर सकें जिन्होंने पूर्णरूपेण समर्पण किया है।

दत्तात्रेय के बालों में जटाएँ थीं जिन्हें सिर के चारों ओर लपेट कर रखा जाता। यद्यपि अनसूया उसे अत्यधिक प्यार करती थी, फिर भी कई बार उसे लगता कि वे दत्तात्रेय को पूरी तरह समझ नहीं पाई। उसे प्रतीत होता कि उसके अनेक पक्ष हैं जिनकी सीमा नहीं और वह उन्हें जान नहीं पाई। प्राय: दत्तात्रेय माँ को अपनी ओर एकटक ताकते हुए देख लेते। तब वे उसकी आँखों की गहराइयों में झाँकते, जिससे अनसूया को न समय का भान रहता, न अपना, मानो वह कहीं शान्ति की अतल गहराइयों में हो। जब जीवन के बाह्य धरातल से उनका सम्पर्क होता तब तक दत्तात्रेय जा चुके होते और उन्हें अपने अन्दर एक अद्भुत शान्ति की अनुभूति होती। ऐसे अवसर प्राय: आते रहते थे। फिर भी अनसूया को लगता कि जैसे वे प्रतीक्षा कर रही हों। किन्तु यह ज्ञात नहीं कि किसकी प्रतीक्षा?

एक बालक के रूप में भी वे एक शिक्षक ही थे। महान् योगी और तपस्वी उन्हें सुनने के लिए एकत्र होते। कभी उन्हें लगता कि उन लोगों की आध्यात्मिक प्रगति उनसे लगाव के कारण बाधित हो रही है तो वे उनको छोड़ कर चले जाते। जो उन्हें ढूँढ़ते हुए उनके पीछे जाते वे तरह-तरह की विचित्र कथाओं के साथ लौटते। उन लोगों ने दत्तात्रेय को एक वृक्ष के नीचे मद्यपान करते हुए देखा तथा साथ में एक स्त्री को भी बैठे देखा। किन्तु उन लोगों को उनके गुरुत्व में इतनी गहरी श्रद्धा थी कि वे अबोध की तरह खुले मन से उनकी प्रतीक्षा करते। तब वे अपने असली रूप में आ जाते और उन लोगों को ज्ञान के उच्च स्तरों पर ले जाते। कुछ योगी सिद्धियों के साथ लौटे। कुछ महान् भक्त हो गये। वे लोग उन्हें 'विभु' कहते, उनकी महिमा, गरिमा, करुणा, उनका तेज ही कुछ ऐसा था। उन लोगों को यह अटूट विश्वास था कि उनकी स्वत: प्रसूत कृपा ही उन लोगों को मोक्ष प्रदान करेगी जो वे एकांत में रहकर

दुष्कर और श्रमसाध्य तपस्या के द्वारा भी प्राप्त नहीं कर सकते। दत्तात्रेय के भक्त उन्हें 'भक्तानुकम्पी' कहते, क्योंकि वे सदा उन पर अपनी करुणा की वर्षा करते रहते, उन्हें सुरक्षित रखते और उनका पथ प्रदर्शन करते।

ये वर्ष बहुत जल्द बीत गये। दत्तात्रेय बालक से युवक हो गये। एक शाम वे अत्रि तथा अनसूया के पास आये और उनके सम्मुख दण्डवत् होकर कहा 'अब मेरे जाने का समय आ गया है। मैं सहयाद्रि पर्वत की शरण में तपस्या करना चाहता हूँ। आप मुझे आशीर्वाद दें।' अत्रि ने तो आशीर्वाद दे दिये, किन्तु अनसूया किंकर्तव्यविमूढ़ हो गयी। वह तो दत्तात्रेय की सन्तानोचित भक्ति में विभोर थी और कभी उनसे वियोग की कल्पना भी नहीं की थी। उसे लगा जैसे उसका हृदय फट जायेगा। किन्तु साथ-ही उसके दु:ख के अतिरेक ने क्रोध उत्पन्न कर दिया। अनसूया सोचने लगी कि उसने दत्तात्रेय को अपने गर्भ में धारण किया और सन्तान रूप में उनका पालन-पोषण किया, यूँ ही वे कैसे छोड़ कर जा सकते हैं? पुत्र-मोह ने उसके विवेक को आविष्ट कर लिया था। पुत्रासक्ति में उसका विवेक विचलित हो गया था।

'ओह दत्ता', अनसूया रो पड़ी, 'कहो कि यह परिहास है। तुम्हारा शरीर मेरा है। मैंने तुम्हें खिलाया, तुम्हारी देखभाल की, पालन-पोषण किया, तुम्हें वस्त्रावृत किया। हो सकता है तुम्हारा क्रूर मन मुझे छोड़ कर जाने और भटकने की बात सोच सकता है, किन्तु तुम्हारे शरीर को मेरी देहरी छोड़ कर जाने का अधिकार नहीं है।' 'माँ', दत्तात्रेय ने करुणापूर्ण दृष्टि से देखते हुए कहा, 'मुझे देखो।' और ज्यों ही उसने उन्हें देखा, ऐसा लगा मानो उनका शरीर कहीं विलीन हो गया, केवल ऊपरी चर्म का आवरण रह गया। दत्तात्रेय ने कुछ नहीं कहा, किन्तु वह समझ गयी कि उनका तात्पर्य क्या था, 'क्या यह शरीर तुम्हें प्यारा है? या मेरा मन? या फिर मेरा सत्त्व जो सत्य है?'

'सत्य' शब्द कानों में पड़ते ही उसकी ध्वनि अनसूया के पूरे अस्तित्व में गुंजायमान होने लगी और अचानक उसे लगा मानो किसी ने उसे दिवास्वप्न से झकझोर दिया। उसने कहा, दत्ता मुझे मेरे क्रोध के लिए क्षमा कर दो। तुम अवश्य जाओ। किन्तु जाने के पूर्व मुझे बता दो–सत्य क्या है? जब मैं नवविवाहिता थी, तब पत्नी के रूप में पूर्णतया संतुष्ट थी। और फिर मातृत्व की भावना एक शूल की तरह उठी और सारी भावनाओं पर छा गयी। तुम्हारे जन्म के बाद मैं सब कुछ भूल गयी। और अब जब तुम जा रहे हो, तो मुझे शून्यता का बोध हो रहा है। मैं यह समझ रही हूँ कि पुत्री, पत्नी और माता के

रूप में मेरा जीवन मेरी वासनाओं के तुष्टिकरण और उनके शमन के लिए था। वे सब अपरिवर्तनीय, अविकारी सत्य की छाया थीं, उनका आभास-मात्र थीं। किन्तु पुत्र, अब तक मैं उस अविकारी सत्य को समझ नहीं पाई हूँ। वह सत्य क्या है?

दत्तात्रेय का चेहरा उनकी स्नेहपूर्ण मुस्कान से दमक रहा था। माँ के पास बैठते हुए उन्होंने कहा, "माँ, मैं तुम्हें बताऊँगा कि सत्य को कैसे प्राप्त किया जाये। यह मन जो एक ओर सारे बन्धनों का कारण है, दूसरी ओर मोक्ष भी यही दिलाता है। जब यह गुणों के साथ बँध जाता है तो आत्मा भावनाओं में लिप्त हो जाती है। मन इन्द्रियों का तुष्टिकरण चाहता है और इस क्रम में अपने मूल को, अपने स्रोत को ही भुला देता है। यही मन जब साक्षी बन जाता है तो दूर से उन्हीं भावनाओं का अवलोकन करता है। तब वह काम, क्रोध, मोह तथा अन्य गुणों के उपद्रवों से मुक्त हो जाता है।

आसक्ति मन की प्रकृति है। जब तक मन जीवित है तब तक यह आसक्ति समाप्त नहीं होती है। इसलिए विद्वान् इस आसक्ति को एक साधन बना लेते हैं। माँ, इस आसक्ति को रहने दो, केवल इसका लक्ष्य बदल दो। क्षणभंगुर और अस्थाई जगत् की माया के प्रति आसक्त होने के स्थान पर उस अविकारी, शाश्वत के प्रति आसक्त होओ। किन्तु यह सरल भी नहीं। मोक्ष का मार्ग लम्बा, दुष्कर और एकान्तिक है। किन्तु भक्तों की संगति में रहो, उनकी दिव्य बातें सुनो, तब अन्य विचार मन में नहीं आयेंगे। ये बातें तुम्हारे हृदय को हर्षित करेंगी। तुम्हारी श्रद्धा भी बढ़ेगी। श्रद्धा की पराकाष्ठा ही भक्ति है। भक्ति स्वत: तुममें वैराग्य उत्पन्न करेगी और तब सुख एवं दु:ख तुम्हें विचलित नहीं करेंगे।

भक्तों को कोई कष्ट नहीं सताता है, और गुरु के प्रति भक्ति सर्वोच्च होती है। चित्त अपने आप में बँट कर कष्टों का कारण बन जाता है। यह सुख को स्वीकार कर कष्टों को अस्वीकार कर देता है। लेकिन गुरुभक्त के लिए पसन्द-नापसन्द नहीं होती। उसके लिए सब कुछ प्रसाद के समान है। जो सच्ची गुरुभक्ति के साथ गुरु में विश्वदेवों का आवाहन करता है उसमें सभी शक्तियों का स्रोत फूट पड़ता है। गुरुभक्ति में चुम्बक के समान आकर्षणीयता होती है, जो ज्ञान को अपनी ओर खींचती है। गुरुभक्ति की शक्ति ऐसी होती है जिसे कोई छू नहीं सकता। गुरु से प्राप्त दीक्षा रक्षा भी करती है। यदि गुरु में परमात्मा का आवाहन किया जाये तो वे अवश्य प्रस्तुत होते हैं।

गुरुत्व दो प्रकार का होता है–व्यक्त एवं अव्यक्त। व्यक्त का अनुभव ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा प्राप्त हो सकता है। किन्तु अव्यक्त का अनुभव इन्द्रियों के माध्यम से नहीं होता है। इसकी अनुभूति होती है। माँ, तुमने मेरा जो रूप देखा है वह मेरा व्यक्त रूप है। जन्म से लेकर आज तक मुझमें होने वाले परिवर्तनों को तुमने देखा है। मेरे शरीर के परिवर्तनों को तुमसे अधिक कौन जान सकता है। फिर भी तुम इससे बँधी हो। माँ, मैं तो अव्यक्त हूँ, सर्व साक्षी हूँ। मैं इस शरीर के अन्दर और सारे शरीरों के अन्दर शाश्वत साक्षी हूँ। तुमने जिस शरीर से इतना प्रेम किया है, वह तो मेरा मन्दिर है। बुद्धिमान् व्यक्ति मन्दिर की पूजा नहीं करते हैं। माँ, गर्भगृह में आकर मुझसे मिलो। मैं तो तुम्हारे हृदय में हूँ। मैं कभी तुमसे दूर नहीं हूँ, सदा तुम्हारे अन्दर हूँ, सदा तुम्हारे हृदय में हूँ।

माँ, तुम आत्म-प्रिया हो। मेरे लिए तुम्हारा प्रेम तुम्हारे आत्म-प्रेम की प्रतिछाया है। तुम शिवप्रिया हो, कल्याण चाहने वाली। मैं गुणहीन हूँ, निरंजन हूँ, मुझमें समत्वम् है, मैं सिद्ध हूँ। अत्रि की पवित्रता और उनकी घोर तपस्या के कारण मेरी शक्ति उनमें अभिव्यक्त हुई है। अत्रि ने 'गुरु मूल पीठ' का सूत्रपात किया है। मेरा जन्म तपस्या के द्वारा हुआ है। और तपस्या के द्वारा ही अन्तर्ज्ञान प्राप्त होता है। इसलिए माँ, तपस्या करो। मेरी कृपा से तुम सत्य तक पहुँचोगी। तब तुम देख पाओगी कि इस जगत् में जो असंख्य रूप बिखरे पड़े हैं वे वस्तुत: उस एक शाश्वत सत्य, ब्रह्म के ही अलग-अलग रूप हैं। सत्य को प्राप्त करना किसी लक्ष्य पर पहुँचना नहीं है। तथ्यत: ऐसी कोई यात्रा नहीं जिस पर चल कर सत्य की प्राप्ति हो, क्योंकि तुम भी एक सत्य हो। तपस्या से तुम्हें इस तथ्य का बोध होगा।"

वे दोनों-माता और पुत्र, शिष्य और गुरु देर रात तक बातें करते रहे। दत्तात्रेय ने अनसूया को 'हंस विद्या' की दीक्षा दी थी। उन्हें अद्भुत शान्ति की अनुभूति हुई। "हे विश्व गुरु" अनसूया ने कहा था, "तुम सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के गुरु हो। अपनी सीमित बुद्धि के कारण मैंने तुम्हें अपना पुत्र मान लिया। किन्तु तुम्हारी अनुकंपा ने मेरा सब भ्रम दूर कर दिया है। मैं मार्ग को स्पष्ट देख पा रही हूँ।"

प्रात: आश्रम की हलचल प्रारम्भ होने से पूर्व ही दत्तात्रेय ने माँ को जगाया ताकि जाने के पहले उनका आशीर्वाद ले सकें। वे अकेली खड़ी उन्हें जाता हुआ देख रही थीं, जटायुक्त केश सिर पर बँधे हुए थे, शरीर नग्न और उस पर भस्म लगाया हुआ–आकाश मानो उनका वस्त्र था। हाथों में एक कमण्डल

और जप की माला थी। वे सहयाद्रि पर्वत की दिशा में चले जा रहे थे। अनसूया तब तक देखती रही जब तक वे क्षितिज पर एक बिन्दु के समान दिखते रहे।

अनसूया ने अपना शेष जीवन अपने पुत्र के निर्देशों के अनुसार व्यतीत किया। उसने वल्कल धारण कर लिया, बालों ने जटाओं का रूप ले लिया। सिद्धयोनि आसन में बैठकर उसने स्वयं को अन्तर्मुख कर दत्तात्रेय का गुरु के रूप में ध्यान किया और अपने ध्यान को भ्रूमध्य, अर्थात् अविमुक्त स्थिति पर केन्द्रित किया। इस अहर्निश साधना ने उसके मन को एकाग्र और स्थिर कर दिया। तपस्या की अग्नि ने अविद्या को दग्ध कर दिया। गुरु की जो प्रतिछवि बन गयी थी, वह भी धीरे-धीरे मिटती गयी। वह उच्चतम चेतना के साथ संलीन हो गयी, व्यक्त से अव्यक्त में विलीन हो गयी।

गुरुदेव सत्य क्या है?

दत्तात्रेय सहयाद्रि पर्वत पर जाकर आँवले के एक वृक्ष के नीचे तपस्या के लिए बैठे और जल्दी ही उच्चतम चेतना में डूब गये। उनको लेकर अनेक कथायें बनने लगीं–कुछ सत्य, कुछ प्रतीकात्मक। वैदिक संकल्पनाएँ जो भारतीय मानस की माता हैं, मूल स्रोत हैं, अत्यन्त प्रतीकात्मक हैं। प्राचीन ऋषियों ने अपने शिष्यों को आत्म-बोध कराने के लिए इनकी रचना की थी। ये संकल्पनायें वेदान्तिक और पौराणिक युगों पर भी व्याप गयीं। इनका आद्य प्रारूप आज भी हमारे अवचेतन और अचेतन मन का महत्त्वपूर्ण अंग बना हुआ है। ये सदा प्रकाश और अन्धकार, ज्ञान और अज्ञान के बीच संघर्ष की चर्चा करती हैं। स्थूल चेतना वालों के लिए ये आध्यात्मिक कथाएँ मनोरंजन का साधन रहीं, किन्तु विवेकपूर्ण व्यक्तियों के लिए उनमें सदा एक सन्देश होता था। यदि हम उन कथाओं की गहराइयों में झाँक कर देखें तो उनमें छिपे गम्भीर सत्य को पायेंगे। जम्भासुर की कथा उनमें से एक है।

जम्भासुर नाम का एक राक्षस तपस्या के द्वारा अत्यन्त बलशाली हो गया और उसने देवों के राजा इन्द्र पर आक्रमण कर दिया। देवेन्द्र के गुरु बृहस्पति ने उसे दत्तात्रेय से सहायता लेने का परामर्श दिया। जब वह दत्तात्रेय के पास गया तो उस समय वे मदोन्मत्त होकर गन्धर्वों के साथ नृत्य कर रहे थे। देवेन्द्र ने उनकी प्रतीक्षा की, क्योंकि उसके गुरु ने पहले ही उनके अपारम्परिक व्यवहारों के बारे में सावधान कर दिया था। जब दत्तात्रेय ने देवेन्द्र की तरफ

देखा तो उसने राक्षस को समाप्त करने की प्रार्थना की। दत्तात्रेय मान गये और उस राक्षस को फुसला कर सहयाद्रि पर ले आने को कहा।

जब राक्षस वहाँ पहुँचा तो उसने स्वामी की गोद में एक सुन्दरी, अनघा देवी को बैठे देखा। उस सुन्दरी को देखते ही वह उस पर मोहित हो गया। उसने अपने अनुचरों को आज्ञा दी कि उस स्त्री को एक पालकी में बिठा कर उसके घर पहुँचा दिया जाये। स्वामी विरक्ति के साथ यह सब देख रहे थे। अनुचर, जो उस सुन्दरी को लेने जा रहे थे, आपस में ही झगड़ने लगे, एक-दूसरे को धक्का-मुक्का देने लगे, कारण क्या था? सब उस सुन्दरी के अधिक निकट जाना चाहते थे। अपने क्रोध और धैर्यहीनता के कारण उन्होंने एक-दूसरे को मार डाला।

संस्कृत में 'जम्भ' का अर्थ होता है 'खाना', 'काटना', 'एक टुकड़ा'। 'जम्भक' का अर्थ होता है 'मार डालना', 'विनष्ट करना', 'कुचलना'। परिष्कृत इंद्रियानुभूतियों के पीछे छिपी शक्ति ही देवेन्द्र है, यह प्रबुद्ध मन का प्रतीक है। जबकि जम्भक जीवन की अपरिष्कृत इंद्रिय क्रियाओं का प्रतीक है जिसका मूल स्त्रोत अन्धकारपूर्ण अवचेतना और स्थूल भौतिकताओं में है। मनुष्य की प्रबुद्ध और उच्चतर चेतना उसके स्थूल अज्ञान को दूर भगाने के लिए संघर्षरत रहती है।

यह संघर्ष प्रत्येक मुनष्य के अन्दर और सम्पूर्ण मानवता की सामूहिक चेतना के स्तर पर चलता रहता है। देवताओं की उच्चतर शक्तियाँ परिष्कृत और पवित्र मन के माध्यम से कार्यरत रहती हैं, जबकि आसुरी शक्तियाँ पवित्रता को नष्ट करने का प्रयास करती हैं। उनमें कोई दिव्य शक्ति नहीं होती है। वे किसी भी प्रकार दिव्य, रचनात्मक मन्त्रों को मन में तरंगायित नहीं कर सकते हैं। राक्षस देवद्विशाः होते हैं, अर्थात् प्रकाश से घृणा करनेवाले होते हैं। उनमें अज्ञानपूर्ण अन्धकार की निकृष्ट शक्ति होती है और वे ज्ञान के प्रकाश से घृणा करते हैं। वे हमारे अन्दर की तामसिक प्रवृतियाँ हैं जो अपने निकृष्टतम बिन्दु पर होती हैं।

तमस् की संकेन्द्रता हमें नीचता की निम्नतम गहराइयों में घसीटती जाती है। यह प्रगति की सारी प्रेरणाओं को नष्ट कर देती है। किन्तु मनुष्य केवल तमस् नहीं है, उसमें रजस् भी है जो उसे क्रियाशील और गतिशील बनाये रखता है। मनुष्य के अन्दर के गुण कभी एक-सी स्थिति में नहीं रहते हैं, अस्थिर, चंचल होते हैं। रजस् संघर्ष प्रारम्भ करता है। जब शक्ति गतिमान्

होती है, तो समस्वरता की, सत्त्व की झलक मिलने लगती है। सत्त्व गुण इस संघर्ष में उच्चतर, दिव्य शक्ति की सहायता लेता है।

सात्त्विक मन इन्द्र का आवाहन करता है। वह प्रबुद्ध मन की गति और शक्ति है। वह शक्तिमान् है, किन्तु पर्याप्त रूप में नहीं। मनुष्य को मन की पवित्रता से भी ऊपर उठना पड़ता है, क्योंकि देवों और असुरों की शक्तियाँ समान रूप से शक्तिशाली होती हैं। वे एक ही सिक्के, एकाग्र मन के दो पहलू हैं, किन्तु पवित्र-परिष्कृत मन पर सदा परमात्मा की कृपा रहती है। यही विश्वगुरु, दत्तात्रेय को आकृष्ट करता है, मोहित करता है। जम्भकासुर की कथा में असुरों को नीरव-शाश्वत साक्षी, दत्तात्रेय ने आकृष्ट नहीं किया, बल्कि उनकी छाया, सुंदरी अनघा देवी ने मोहित किया।

'अनघा' का अर्थ होता है 'पापमुक्त', 'अबोध', 'मैलमुक्त', 'अनर्थ-मुक्त'। अनघा देवी दिव्यता का प्रकट रूप है, जो इन्द्रियों को सम्मोहित करती हैं। वह माया शक्ति है। जब तमस् दिव्यता के सम्मुख आता है तो वह उस शान्त साक्षी के प्रति आकृष्ट नहीं होता, क्योंकि उसका स्थूल मन तो उसे देख भी नहीं पाता है। वह तो उस रूप पर मोहित हो जाता है जो दिव्यता की छाया-मात्र है, किन्तु दिव्यता की छाया में भी दिव्यत्व होता है। इस छाया के सामीप्य का अपना महत्त्व होता है, शायद इस कृपा से ही सब कुछ नष्ट नहीं होता है, कुछ शेष रह जाता है। तामसिक मन अपने-आप असंख्य टुकड़ों में बँट कर बिखर जाता है, पूरी तरह विनष्ट हो जाता है, किन्तु प्रबुद्ध मन, जो दिव्य चेतना का एक साधन है, सुरक्षित रह जाता है।

यह कथा मानो दत्तात्रेय के द्वारा अपनी माता को दिये गये निर्देश का नाट्य-रूप हो–बँधनों से लड़ो नहीं। दिव्यत्व को उनका लक्ष्य बना दो, *'पूज्येषु अनुराग: भक्ति।'* जम्भकासुर और देवेन्द्र, दोनों ही शक्तियाँ हमारे अन्दर विद्यमान हैं, दोनों में से किसी को भी हम अपने प्रयत्न से बढ़ा सकते हैं। किन्तु सत्य प्रयत्न के परिणामस्वरूप नहीं प्राप्त होता है। वह कृपा और अनुग्रह का सुफल होता है। यह हमारे अन्दर प्रयासों या घोर तपस्या से प्रस्फुटित नहीं होता है। यह दत्तात्रेय की करुणा है जो साधक के असंपृक्त प्रबुद्ध मन में प्रवाहित होने लगती है।

प्रबुद्ध मन खुलता कैसे है? देव गुरु, बृहस्पति के मार्गदर्शन से। वैदिक ऋचाओं में बृहस्पति को शब्दों का स्वामी, आद्यस्पन्दन, मन्त्रों की शक्ति कहा गया है। मन्त्रों की शक्ति प्रबुद्ध मन को जाग्रत करती है और उसे गहन

तपस्या के द्वारा सत्य के दिव्य-अमृत के प्रति ग्रहणशील बना देती है। वेदों में तपस्या को अग्नि का प्रतीक मानते हैं जबकि तन्त्र में इसे त्रिपुर भैरवी कहा गया है। प्रत्येक जीव के अन्दर यह 'चिदग्नि' के रूप में है। इसकी प्रबलता सभी दुर्बलताओं को नष्ट कर जीव को परमात्मा की कृपा के द्वारा दिये जाने वाले अमृत्व को ग्रहण करने के लिए तैयार करती है।

वैदिक ऋषियों ने कहा है कि बिना पकाये गये मिट्टी के पात्र में सोम, अमृत डालने से वह टूट जाता है। आध्यात्मिक क्षेत्र में केवल अपना प्रयास पर्याप्त नहीं होता, दैवी-कृपा भी अनिवार्य है। इसके लिए गुरु की भूमिका महत्त्वपूर्ण है। वेदों में गुरु बृहस्पति हैं। तन्त्र में भुवनेश्वरी, भैरवी और सुन्दरी की कृपा प्राप्त करने में सहायक होती हैं। गुरुत्व चेतना की एक अवस्था है। यह शिष्य की विशेषताओं के अनुसार ही स्वयं को विभिन्न रूपों में व्यक्त करता है।

विश्वगुरु दत्तात्रेय, चेतना की वह अवस्था है जो अनसूया-पुत्र दत्तात्रेय के शरीर से सतत् प्रवाहमान है। गुरुत्व को शास्त्रों में बाँधा नहीं जा सकता और न ही यह कोई शिल्प या प्रक्रिया है। शिष्यों की विशेषताओं के अनुरूप दत्तात्रेय ने उन्हें उनके माध्यम से ही दिया। उन्होंने विश्व को अनेक प्रकार के ज्ञान और विधान दिये हैं।

दत्तात्रेय का शाक्त आगमों से घनिष्ठ सम्बन्ध था–तन्त्र, यामल और डामर। उन्होंने सर्वोच्च परम सत्य, त्रिपुर सुन्दरी पर एक प्रबन्ध लिखा। वे शक्ति पीठों के साथ भी पूरी तरह सम्बद्ध रहे। काशी, पण्ढरपुर, कोल्हापुर, पांचालेश्वर, तुलजापुर, गंगापुर, बीलवाडी, हंगुती इत्यादि ऐसे ही शक्ति पीठ हैं जिनमें से कुछ में जाकर उन्होंने निवास किया या उनकी यात्रा की। दत्तात्रेय ने ही परशुराम को 'श्री विद्या' का ज्ञान दिया और उनके माध्यम से यह ज्ञान सम्पूर्ण विश्व को प्राप्त हुआ। इसीलिए हम पाते हैं कि श्री विद्या की उपासना के साथ ही दत्तात्रेय की उपासना भी होती है। इसके अतिरिक्त दत्तात्रेय 'अतीत', 'भैरव', 'अखाड़ा' और 'नाथ' सम्प्रदायों से भी सम्बद्ध रहे।

दत्तात्रेय और परशुराम

भृगु महर्षि के एक पौत्र थे, जमदग्नि, जो अपनी घोर तपस्या के लिए प्रख्यात थे। जमदग्नि, जो भार्गव के नाम से भी जाने जाते थे, का विवाह रेणुका से हुआ। वे अत्यन्त आध्यात्मिक प्रकृति की स्त्री थीं। उन दोनों के पाँच पुत्र

हुए–वसुमन, वसु, वसुषेण, रुमनवन एवं राम। राम जन्म से तो ब्राह्मण थे, किन्तु प्रकृति से क्षत्रिय थे। वे महान् योद्धा थे, उन्हें अर्द्ध अवतार कहा जा सकता है। वे द्रोण और कर्ण के गुरु थे। वे मृग चर्म धारण किये हुए रहते थे। उनके कंधे पर तीर-धनुष और एक विशाल परशु टंगा रहता था। इस परशु के कारण ही उन्हें 'परशुराम' कहा गया, 'कोदण्ड राम' के विपरीत।

एक बार रेणुका देवी, उनकी माता, गंगा तट पर मातृकावह के राजा चित्रांगद एवं उसकी पत्नी के खेल देख रही थीं, जिससे उनकी एकाग्रता भंग हो गयी। जमदग्नि अत्यन्त क्रोधित हुए और अपने सभी पुत्रों से अपनी माता का वध करने को कहा। प्रथम चार पुत्र तो इस आघात से जड़वत् हो गये, किन्तु परशुराम ने अपने कुठार के एक ही वार से अपनी माता का सिर धड़ से अलग कर दिया। राम की आज्ञाकारिता से प्रसन्न होकर ऋषि ने उनकी माता को पुन: जीवित कर दिया। कहा जाता है कि शिरश्च्छेद के उस क्षण में रेणुका परशुराम की माता नहीं रह गयी थीं, बल्कि छिन्नमस्ता की दिव्य शक्ति उनके अन्दर प्रवेश कर गयी थी।

इस कथा में रेणुका के सिर को अहंकार के रूप में देखा जा सकता है जो उनके कर्मों के क्षय के साथ ही विच्छेदित हो गया। महत्तर चेतना उसी क्षण शरीर में प्रवेश कर गयी, कठिन तपस्या के द्वारा उन्होंने स्वयं को दिव्य शक्ति के प्रवेश के लिए तैयार कर रखा था। तन्त्रों में छिन्नमस्ता उस शक्ति का नाम है जो आदि नाद एवं प्रकाश की अन्तर्क्रियाओं के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुई और जो सम्पूर्ण सृष्टि की पूर्वपीठिका है। इस शक्ति की गति और प्रबलता इतनी अधिक है कि उसे चित्रित करने पर बिजली की चमक और मेघ के गर्जन के समान प्रतीत होती है। इस शक्ति की तीव्र गति और प्रबलता के कारण केवल सृष्टि का सृजन नहीं होता, बल्कि वह स्वयं अपने मूल स्रोत ब्रह्माण्डीय चेतना से कट कर अलग हो जाती है।

छिन्नमस्ता की दुर्दम्य शक्ति परमात्मा की ही प्रहारकारी शक्ति है। इसे प्रतीक रूप देने के लिए देवी को स्वयं अपने सिर का विच्छेद करते हुए चित्रित किया जाता है। सुषुम्ना नाड़ी में यही शक्ति प्रवाहित होती है और यही आज्ञा चक्र में संकेन्द्रित हो जाती है। इसे षष्ठि भी कहते हैं, क्योंकि विष्णु के छठे अवतार परशुराम में यही शक्ति निहित थी। वह एकवीरा है, एका शक्ति, जो अपराजेय है। एकवीरा सहयाद्रि पर्वत की इष्ट देवी थीं, जहाँ दत्तात्रेय गहन तपस्या में लीन थे।

जब जमदग्नि को कृतवीर्य के, जो स्वयं दत्तात्रेय के शिष्य थे, क्षत्रिय वंशजों ने मार डाला तो परशुराम अपनी माता के परामर्श के अनुसार पिता के मृत शरीर को अपने कंधे पर रख कर स्वामी के आश्रम गये, उनसे कहा कि वे अन्तिम क्रियाओं के लिए मार्गदर्शन करें। दत्तात्रेय ने परशुराम की आँख खोलने के उद्देश्य से कहा, 'मैं धर्म-अधर्म नहीं जानता। मुझे जो रुचता है वही करता हूँ। मैं किसी नियम या विधान को नहीं मानता।'

दत्तात्रेय में परशुराम की इतनी गहरी श्रद्धा थी कि वे उनका संकेत समझ गये–अतीन्द्रिय चेतना पराश्रित या अनुकूलित नहीं होती, वह स्वयं सुदीप्त एवं ज्योतिर्मय होती है। एकाग्रता के साथ उन्होंने स्वयं को पूर्वानुभूतियों के अनुकूलन से मुक्त किया। दत्तात्रेय ने उनकी बोधगम्यता से प्रसन्न होकर उन्हें अपने पिता के अन्तिम संस्कार करने के लिए निर्देश दिये। जब चिता की अग्नि प्रज्वलित की गयी तो रेणुका देवी भी उसमें प्रवेश कर गयीं। उनका व्यक्त रूप अव्यक्त शक्ति में परिवर्तित हो गया। तत्पश्चात् परशुराम आसुरी शक्तियों का नाश करने के अपने लक्ष्य को पूरा करने के लिए आश्रम से निकल पड़े।

जब वह लक्ष्य पूरा हो गया तो परशुराम लौट कर अपने गुरु दत्तात्रेय के पास आये और एक यज्ञ करने की कामना व्यक्त की। दत्तात्रेय ने इसकी स्वीकृति दी और नैसर्गिक रेणुका यज्ञ के पुरोहित एवं यजमान्, दोनों एक साथ बनने के लिए तैयार हो गये। परशुराम तथा वहाँ एकत्र हुए अन्य ऋषियों ने दत्तात्रेय को 'रेणुका', 'एकवीरा', 'जगन्माता' शब्दों को बुदबुदाते हुए सुना। उन ऋषियों ने समझा कि परशुराम की माता रेणुका के नाम पर यज्ञ हो रहा है। यह ज्ञात होने पर परशुराम ने उन सब को उस यज्ञ का गूढ़ महत्त्व समझाया।

'सभी यज्ञ सात्त्विक, राजसिक या तामसिक हो सकते हैं। मुनि सात्त्विक यज्ञ करते हैं। राजा राजसिक यज्ञ करते हैं। निम्न मानसिकता के व्यक्ति तामसिक यज्ञ करते हैं। सात्त्विक यज्ञ संतों द्वारा पवित्रीकृत-अभिषिक्त स्थान पर उत्तरायण के सात्त्विक समय में किया जाता है। यज्ञ की सामग्रियाँ धार्मिक और नीतिपरक ढंग से एकत्र की जाती हैं। वैदिक मन्त्रों का उच्चारण किया जाता है। ब्राह्मण श्रोत्रीय होते हैं एवं यह यज्ञ सात्त्विक श्रद्धा और विश्वास के साथ सम्पन्न होता है।'

'राजसिक यज्ञ अभिमान, दंभ और अहंकार के साथ किया जाता है। इसमें अनेक उपहार दिये जाते हैं, परिसर को विस्तृत रूप से सुसज्जित किया जाता

है, पशुओं की बलि दी जाती है। तामसिक यज्ञ आक्रोश, क्रोध और ईर्ष्यावश किया जाता है। अपने शत्रुओं का नाश करना इस यज्ञ का एकमात्र उद्देश्य होता है।'

'इस यज्ञ का नाम 'रेणुका यज्ञ' इसलिए रखा गया कि इसके लिए हम लोगों ने उस शक्ति का आवाहन किया जो रेणुका देवी के शरीर में अवतरित हुई थी, किन्तु वह शक्ति रेणुका के शरीर से अप्रभावित ही रही। छिन्नमस्ता या एकवीरा के रूप में रेणुका के शरीर में निवास कर रही उस महत्तर चेतना ने सहयाद्रि पर्वत की मिट्टी को पवित्र कर दिया। आमलक (आँवला) वृक्ष के नीचे वह स्थान जहाँ मैं ध्यान के लिए बैठता हूँ 'रेणुका आलयम्' है। यहाँ का सरोवर रेणुका तीर्थ है। आप सब अपने मन में रेणुका देवी या एकवीरा की शक्ति का आवाहन करें ताकि आप अपने अस्तित्व को परिशुद्ध कर सकें। रेणुका सभी नारियों के हृदय की शक्ति हैं। सांध्य प्रकाश में इस शक्ति का उद्घोष सुनाई देता है। वह इड़ा नाड़ी में महाकाली, पिंगला नाड़ी में महालक्ष्मी और सुषुम्ना नाड़ी में एकवीरा है।'

परशुराम, कश्यप तथा अन्य एकत्र ऋषियों ने छिन्नमस्ता की शक्ति का आवाहन किया और दत्तात्रेय के मार्गदर्शन में यज्ञ के सभी अनुष्ठान पूरे किये गये। उसके बाद परशुराम ने रेणुकाश्रम में रहकर अपने गुरु के निर्देशों के अनुसार कठिन तपस्या की। काल-क्रम में उनके अन्दर का रजस् उपशमित हो गया। वे पवित्र हो गये और उन्हें प्रशान्ति भी मिली। फिर भी उनके अन्दर एक बेचैनी थी। वे पूरी तरह संतुष्ट नहीं थे। एक दिन जब वे आश्रम के आस-पास के जंगलों में घूम रहे थे तो उनकी मुलाकात एक अवधूत, समवर्तक से हुई जो पूर्ण शान्ति की स्थिति में था और ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो आनन्द में आकण्ठ डूबा हो। उसकी चेतना की उस अवस्था के विषय में पूछने पर उसने दत्तात्रेय से मिलने की सलाह दी, जो समवर्तक के भी गुरु थे। परशुराम ने दत्तात्रेय से प्रार्थना की कि वे उसे उच्चतर ज्ञान में दीक्षित करें। गुरु ने शिष्य की तत्परता देखकर कहा, 'मैं तुम्हें तीन प्रकार के यज्ञों–सात्त्विक, राजसिक एवं तामसिक के विषय में बता चुका हूँ। यज्ञ का एक और प्रकार है–मानसिक। इस यज्ञ में मन आहुति देता है, मन यजमान होता है, बलि देने वाला। ब्रह्म विद्या इष्ट देव हैं, सभी तत्त्वों का आधार। यह निर्गुण हैं। प्राण यज्ञ की अग्नि है जिसमें मानसिक रूप से सारी आहुतियाँ दी जाती हैं।'

तत्पश्चात् दत्तात्रेय ने परशुराम को 'श्री विद्या' एवं 'त्रिपुर रहस्यम्' की दीक्षा दी। उनके निर्देश पर शिष्य महेन्द्र पर्वत पर साधना करने चले गये जहाँ वे परम सत्य, आत्म के ध्यान में लीन हो गये। परशुराम ने कर्दली वन में रह रहे ऋषि हरितायन को श्री विद्या की उपासना की शिक्षा दी और उन्होंने सम्पूर्ण विश्व में इसका प्रसार किया।

यौगिक गुरु

महिष्मतीपुर नगर के राजा कृतवीर्य और रानी शीलधारा देवी थीं। इस दम्पत्ति की अनेक सन्तानें हुईं, किन्तु एक भी जीवित नहीं रही। रानी ऋषि याज्ञवल्क्य के आश्रम में गयीं और ऋषि-पत्नी मैत्रेयी से सन्तान प्राप्ति में उनकी सहायता के लिए याचना की, ऐसी सन्तान जो दीर्घायु हो। मैत्रेयी की सलाह पर राजा-रानी ने अनन्त व्रत किया। राजा ने ऋषि बृहस्पति की सलाह पर सूर्योपासना की । शीघ्र ही उन्हें पुत्र की प्राप्ति हुई। उसका नाम कृतवीर्य अर्जुन रखा गया। बड़े होने पर वह एक विद्वान् और योद्धा के रूप में निखर गया। वह निपुण भी था और सुन्दर भी। किन्तु वह अपने हाथों के कारण विवश था, क्योंकि उनमें कुछ अपंगता थी।

कालान्तर में जब राजा की मृत्यु हो गयी तो उसकी प्रजा ने यह इच्छा व्यक्त की कि वह युवराज सिंहासनारूढ़ हो। किन्तु कृतवीर्य अपने हाथों के कारण झिझक रहा था। गंगा मुनि, जो उसका एक मन्त्री था, उसने उसे सहयाद्रि पर्वत पर जाकर योगीनाथ दत्तात्रेय से सहायता लेने के लिए कहा। मन्त्री ने युवराज को यह भी बता दिया कि स्वामी कभी-कभी ऐसे रूप धारण कर लेते हैं जिससे स्थूल चेतना वाले संत्रस्त होकर भाग जाते हैं। केवल निडर और विवेकी साधक ही उन तक पहुँच पाते हैं।

कृतवीर्य ने यथोचित रूप से दत्ता प्रभु से मुलाकात की और अपशब्द सुनने, मार खाने, शापित होने और अन्ततः अपने दोनों हाथों को पूरी तरह खो देने के बावजूद वह अनन्य भक्ति के साथ उनकी सेवा करता रहा। उसकी श्रद्धा किसी प्रकार कम नहीं हुई। धीरे-धीरे दत्तात्रेय की मार से जब युवराज का अहं समाप्त हो गया, तब उन्होंने उसे अपने पास बुलाया और अत्यन्त स्नेह के साथ बातें की।

चान्द्र मास के प्रथम पक्ष के आठवें दिन, वह पवित्र दिन जिसे अनघ अष्टमी कहा जाता है, उसे दत्तात्रेय और अनघा देवी की उपासना में दीक्षित किया गया।

दत्तात्रेय ने उसे अष्टसिद्धि की यौगिक शक्ति भी दी जिससे वह अपराजेय, क्षताक्षम हो गया। कृतवीर्य प्रत्येक वर्ष उस तिथि को अनघा व्रत करने लगा। वह पूर्णतया स्वस्थ हो गया और गुरु को प्रणाम कर अपनी राजधानी लौट गया। वहाँ उसका राज्याभिषेक हुआ और फिर उसने अत्यन्त कुशलता के साथ राज्य किया। उसकी ख्याति सम्पूर्ण आर्यावर्त्त में फैल गयी।

जब किसी साधक को गुरु का आशीर्वाद प्राप्त हो जाता है, तो वह निश्चिन्त होकर विश्राम नहीं करता है। उसकी यात्रा तभी समाप्त होती है जब उसे उसका लक्ष्य प्राप्त हो जाता है। इसी क्रम में कृतवीर्य अपने वैभव, यश और ऐन्द्रिक सुखों से ऊब गया था और उसमें परम सत्य को जानने की इच्छा जाग्रत हो गयी थी। पुन: एक बार सहयाद्रि पर्वत पर जाकर अपने गुरु से मिला। उसने दत्ता स्वामी को पहली बार गहन शान्ति में डूबे हुए देखा। कृतवीर्य ने शान्ति के साथ अपने गुरु में परमात्मा का आवाहन किया–"हे भगवन्! आप शाश्वत सत्य हैं। मैं क्षणभंगुर और परिवर्तनशील जीवन के पीछे भागता रहा। मैं इस भवसागर से भयभीत हो गया हूँ। केवल आपकी कृपा ही मुझे इसके पार ले जा सकती है।"

दत्तात्रेय ने आँखें खोलीं और अपने शिष्य को करुणापूर्ण दृष्टि से देखकर मुस्कुराये। कृतवीर्य ने उन्हें पुन: हृदय से सम्बोधित किया, "हे भगवन्! मेरा मन दिग्भ्रमित हो गया है। कोई कहता है धर्म ही आत्मा को अज्ञान के सागर के पार ले जाता है। वेदान्तियों का कहना है कि ज्ञान प्राप्ति के बाद केवल ब्रह्म रह जाता है। सांख्य योग दर्शन के अनुसार, जिन्हें आत्म-ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ है वे प्रकृति में खोये रहते हैं। प्रकृति उनके भी चारों ओर रहती है जिन्हें आत्म-ज्ञान प्राप्त हो चुका है, किन्तु वे उससे अप्रभावित रहते हैं। मुझे कौन-सी पद्धति का अनुसरण करना चाहिए, भगवन्?"

दत्तात्रेय ने देखा कि कृतवीर्य साधना के अभाव और अत्यधिक बौद्धिक चिन्तन के कारण संभ्रमित हो गया था। प्राय: बौद्धिक तथ्य जब मस्तिष्क को प्रभावित करने में असमर्थ होते हैं तो कथाएँ हृदय को छूने में सक्षम हो जाती हैं। दत्तात्रेय ने योग की सरलता को समझाने के लिए सात शृंखलाबद्ध कथाएँ सुनाईं जो बृहस्पति सप्तोधारिणी के रूप में सुना चुके थे। इन कथाओं में विभिन्न साधकों के जीवन का वर्णन है, जैसे–विष्णुदत्त, वेदशर्मा, विशालाक्षुदु इत्यादि। उन्होंने कृतवीर्य के मन को धीरे-धीरे कर्म और आध्यात्मिक सत्य को जीवन के सन्दर्भ में समझने के लिए तैयार किया।

दत्तात्रेय ने समझाया, 'शास्त्रों के द्वारा सत्य की व्याख्या नहीं की जा सकती। यह अत्यन्त सूक्ष्म होता है। यह केवल अनुभवगम्य है। विभिन्न शास्त्र विभिन्न प्रकार के व्यक्तित्वों के लिए सत्य को प्राप्त करने के विभिन्न साधन बताते हैं। इसलिए उनमें भिन्नता प्रतीत होती है, किन्तु उन सब का निचोड़ एक ही है–'सत्य'। दत्तात्रेय ने कृतवीर्य की आँखों में झाँक कर देखा और पूछा, "मैंने तुम्हें जो कहानियाँ सुनाई हैं, क्या उनका सार तुम्हें समझ में आया?" कृतवीर्य ने कहा, "भगवन्! मेरा भ्रम दूर हो चुका है।"

दत्तात्रेय ने इसके बाद पुरुष या चेतना एवं प्रकृति या शक्ति के सम्बन्धों को समझाया। उन्होंने तीनों गुणों–सत्त्व, रजस् एवं तमस् के अन्तर्सम्बन्धों को भी बताया। उन्होंने कहा कि माया के कारण परिवर्तनशील तथा क्षणभंगुर जगत् शाश्वत प्रतीत होता है। कृतवीर्य को उन्होंने वैराग्य का महत्त्व समझाया। दत्तात्रेय ने कहा, "प्रत्येक विज्ञान के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक पक्ष होते हैं। मानचित्र को केवल हाथ में ले लेने से अपने लक्ष्य तक नहीं पहुँचा जा सकता। तुम्हें उठ कर चलना होगा। चलना ही योग है।" उन्होंने विभिन्न प्रकार के योग की व्याख्या की जैसे–कर्म योग, भक्ति योग, ज्ञान योग। तत्पश्चात् उन्होंने राजा को योग की साधना में दीक्षित किया।

कृतवीर्य पास की एक गुफा में जाकर पद्मासन में बैठ गया और अपने गुरु के प्रत्यक्ष मार्गदर्शन में योग की साधना करने लगा। धीरे-धीरे उसका चित्त शुद्ध हो गया और वह चेतना की उच्च अवस्था में पहुँच गया। तब दत्तात्रेय ने राजा को सम्बोधित कर कहा, "एक योगी कमल के फूल के समान होता है जो पानी में रहकर भी उससे अनछुआ रहता है। अब तुम एक योगी हो, अपने राज्य वापस जाकर धर्म के अनुसार शासन करो।" जब कृतवीर्य जा रहा था तो उन्होंने कहा, 'सावधान रहना।'

राजा अपने राज्य लौट गया और अनेक वर्षों तक शान्तिपूर्वक राज्य करता रहा। धीरे-धीरे उसमें आत्म-संतोष आता गया। वह भूल गया कि उसके गुरु ने उसे सावधान रहने को कहा था। एक बार सजगता खो जाए तो अन्दर का साक्षी पीछे छूटता जाता है। सत्त्व पृष्ठभूमि में चला जाता है। रजस् और तमस् उसका स्थान ले लेते हैं। जब विनाश का समय आता है, उच्च विवेकी मन असावधान हो जाता है जिससे धर्म-विरोधी प्रवृत्तियाँ प्रबल हो जाती हैं और तब अन्त भी त्वरित गति से आता है। इसी प्रकार कृतवीर्य का भी अन्त आया। वह अपने गुरुभाई परशुराम के हाथों मारा गया, जो उसके गुरु दत्तात्रेय के ही शिष्य थे।

दत्तात्रेय के चौबीस गुरु

श्री कृष्ण जिस यदुवंश के थे उसी में एक राजर्षि हुए ययाति। उनकी पत्नी देवयानी ऋषि शुक्राचार्य की कन्या थीं। ययाति की एकमात्र दुर्बलता थी उनकी इच्छा, जो उनके सर्वनाश का कारण बनी। किसी अवसर पर ऋषि ने ययाति को समय के पूर्व ही वृद्ध होने का शाप दे दिया था। किन्तु यदि कोई उनसे अपनी युवावस्था के बदले उनकी वृद्धावस्था ले लेता तो वे शापमुक्त हो सकते थे। ययाति अपने ज्येष्ठ पुत्र यदु के पास गये और अपनी दुर्दशा से उबरने में उनकी सहायता मांगी।

राजा के सभी पुत्रों में यदु की अभिरुचि अध्यात्म में थी। उसने उस स्थिति के विषय में सोच-विचार किया। तारुण्य और आकांक्षाओं के प्रति पिता की आसक्ति देख उसमें वैराग्य उत्पन्न हो गया, वह इन दोनों की क्षणभंगुरता भी देख पा रहा था। फिर भी वह असमय बूढ़ा नहीं होना चाहता था, क्योंकि उसने सोचा, धीरे-धीरे जब बुढ़ापा आता है कर्मों के साथ-साथ इच्छाओं का भी स्वाभाविक रूप से क्षय होता है। इसके अतिरिक्त युवावस्था साधना करके स्वयं को उच्च चेतना के लिए तैयार करने का समय है।

यदु अपने पिता को निराश कर दुःखी था, फिर भी वह जानता था कि इसके अतिरिक्त दूसरा कोई रास्ता भी नहीं था। इसी कारण से उसके पिता ने उसे उत्तराधिकार से वंचित भी कर दिया। यदु के लिए, जो पहले ही संसार से विरक्त हो चुका था, यह वरदान सिद्ध हुआ। वह राजमहल से निकल एक जंगल में प्रवेश कर गया और ऐसे गुरु की खोज की जो उसे उच्च वास्तविकताओं के रहस्यों का ज्ञान दे सके।

इस खोज के क्रम में उसकी मुलाकात एक ऐसे साधु से हुई जिसके पूरे शरीर पर भस्म लगा हुआ था और जो आनन्द की आभा से दमक रहा था। यदु उसके प्रति आकृष्ट हो गये, उससे पूछा, 'हे ऋषि! आप कौन हैं?' दत्तात्रेय ने कहा, 'मैं एक अवधूत हूँ।' यदु ने अबोध विनम्रता के साथ पूछा, 'अवधूत क्या होता है?' दत्ता प्रभु ने बताया, 'अक्षरत्वत्, वरेण्यवत्'– इन दो शब्दों में अवधूत का सार छिपा है। जिसने स्वयं को जीवन के क्षणभंगुर पक्ष से अलग कर लिया है, जो अविद्या से मुक्त हो चुका है और जो आत्म-आनन्द की स्थिति में रहता है, वही अवधूत है।

'भगवन्!' यदु ने कहा, 'मैं भी अविद्या से मुक्त होना चाहता हूँ। मैं भी 'अक्षर' के विषय में जानना चाहता हूँ। कृपया मुझे ज्ञान दें। यदु की श्रद्धा से प्रसन्न होकर दत्तात्रेय ने साधक के अन्दर शिष्यत्व के महत्त्व की व्याख्या की। इसके लिए उन्होंने अपने जीवन की उन चौबीस घटनाओं के दृष्टान्त दिये जिनके माध्यम से उन्होंने कुछ सीखा था। जो शिष्यत्व की भावना से परिपूर्ण होता है, उसके लिए सम्पूर्ण जीवन ही गुरु बन जाता है।

दत्तात्रेय ने यदु को समझाया कि मन का खुलापन, उसकी ग्राह्यता, लचीलापन और एक के बाद एक पूर्व धारणाओं तथा पूर्व अनुभवों का त्याग करने की क्षमता ही शिष्यत्व है, और इसी के द्वारा आन्तरिक सत्य तक पहुँचा जा सकता है। यह रूपों-आकारों के पीछे छिपे सत्य को देख पाने की क्षमता है। शिष्यत्व चेतना की वह स्थिति है जिसमें सत्यानुभूति प्राप्त करने की प्रबल इच्छा होती है और मन सत्य के आभासों से ही संतुष्ट नहीं होता है। दत्तात्रेय में वही बालसुलभ अबोधता थी, वही शिष्य सुलभ भावना थी जो उन्हें जीवन में प्रस्तुत होने वाले प्रत्येक जीव, प्रत्येक वस्तु और प्रत्येक अनुभव से कुछ सीखने को उत्कंठित करती है।

पृथ्वी

दत्तात्रेय ने पृथ्वी से क्षमाशीलता, स्वार्थहीनता और भार वहन करने की विशेषताओं को ग्रहण किया था। अपने अतीत से बँधे रहने के कारण प्राय: साधक का आध्यात्मिक मार्ग बाधित हो जाता है। जीवन में एक बार लगा हुआ आघात उसी प्रकार की स्थितियों के आने पर उनके अनुसार प्रतिक्रिया करना सिखा देता है। कुछ भी नया या अबोध नहीं रह जाता है। अतीत का आघात भविष्य में आने वाली हर स्थिति के प्रति भय उत्पन्न करता है और शंकालु बना देता है। इसका प्रभाव केवल बाह्य स्तर पर नहीं होता, बल्कि यह सम्पूर्ण व्यक्तित्व को प्रभावित करता है। अयोग्यता, आत्मविश्वास और आत्मसम्मान का अभाव स्वयं अपने ऊपर भरोसा नहीं रहने के कारण होता है। ये सब आत्म-अस्वीकृति के परिणाम हैं।

पृथ्वी इस विश्व की कृतघ्नताओं से बोझिल होने के बावजूद गौरव और दृढ़ता के साथ स्थित है। उसका मनोबल बना हुआ है। वह स्वयं को दण्डित या अस्वीकृत नहीं करती। धरित्री शब्द उसके धर्म को प्रतिबिम्बित करता है, क्योंकि वह अनन्त काल से सृष्टि की समस्त रचनाओं को धारण करती चली

आ रही है। अपने ऊपर होने वाले प्रहारों की परवाह किये बिना वह अत्यधिक कोमलता के साथ सम्पूर्ण विश्व को अपनी गोद में समेटे हुए है। दत्तात्रेय के लिए वह श्रद्धा की प्रतीक है जिसमें स्वयं से जुड़े सभी जीवों को थामे रखने की क्षमता है। उसकी अथाह करुणा, स्थिति के प्रति समर्पण, उसकी दृढ़ता एक ऐसे शरीर के समान है जो अन्दर दिव्यता धारण किये हुए है।

वायु

दत्तात्रेय के लिए वायु जीवन्तता का प्रतीक है जो अपने साथ प्राण का वहन करता है। वह सर्वत्र प्रविष्ट है किन्तु अदूषित है, वह सुगंध का वहन करता है, किन्तु सुगंध नहीं, यह सब तथ्य उन्हें विशुद्ध चेतना की याद दिलाते हैं, जो सभी रूपाकारों में विद्यमान है, किन्तु उनमें होने वाले परिवर्तन या गति उसे प्रभावित नहीं करती। वायु की इस विशेषता ने उन्हें बन्धनरहित, विरक्त और गति में भी स्थिर रहना सिखाया।

आकाश

आत्मा शरीर में रहती है, किन्तु वह शरीर नहीं। आकाश पूरे विश्व के ऊपर छतरी की तरह तना हुआ है, फिर भी वह विश्व नहीं। यह सीमित प्रतीत होता है, किन्तु इसकी कोई सीमा नहीं, यह अनन्त है। आकाश उनका तीसरा गुरु था। अन्तर्मन आकाश के समान है–विशाल, अदृश्य, विचारों और भावनाओं को बादलों की तरह धारण करने वाला, सीमित प्रतीत होने वाला, किन्तु वस्तुत: असीमित क्षमताओं वाला।

जल

उनका चौथा गुरु जल था। यह अपनी अत्यन्त साधारणता में अत्यन्त असाधारण है। सभी जीवों का अवलम्ब है। कुछ अत्यन्त सरल संरचना वाले जीव वायु के बिना रह सकते हैं, किन्तु जल के बिना कोई नहीं रह सकता। करोड़ों वर्षों से जल पृथ्वी का आकार कायम रखता चला आया है। मिट्टी का परिपोषण करता है, तभी घने जंगल होते हैं। यही जलवायु का निर्धारण करता है। इसमें महान् स्थिरता होती है, यह धोता है, पवित्र करता है, नयी स्फूर्ति देता है। दत्तात्रेय के लिए यह योगी की करुणा के समान था जो संसार में अबाधित प्रवाहित होती रहती है, परिपोषित और

स्फूर्त करती है, सभी पापों का मार्जन करती है, उच्चतर चेतना के रूप में नव-जीवन देती है।

अग्नि

उनकी पाँचवीं गुरु अग्नि थी जो सारे स्थूल और जड़ तत्त्वों को जला डालती है-जिस प्रकार अग्नि, उसमें डाली गयी सभी वस्तुओं को निष्ठुरता से जला कर उसके सार तत्त्व को भस्म में बदल डालती है, उन्हें पवित्र कर देती है, उसी प्रकार सजगता की आन्तरिक अग्नि अविद्या के दुर्गुणों से मुक्त कर देती है।

चन्द्रमा

जिस प्रकार चन्द्रमा घटता और बढ़ता रहता है, फिर भी उसमें कोई आन्तरिक परिवर्तन नहीं होता, उसी प्रकार मुनष्य के मनोभावों और शरीर में होनेवाले परिवर्तन उसके मन और शरीर के गुण हैं, इनसे उसकी आत्मा प्रभावित नहीं होती।

सूर्य

सूर्य समुद्र के जल का शोषण कर पुन: उसे जीवनदायिनी वर्षा के रूप में वापस लौटा देता है। दत्तात्रेय को इस बात का ज्ञान हुआ कि इन्द्रियों के द्वारा किसी वस्तु के बाह्य रूप पर आसक्त हुए बिना उसके मूल तत्त्व को समझा जा सकता है। सूर्य का प्रकाश नाले, नदी, झरने, गड्ढे–सब जगह चमकता है, और उसकी चमक जल की विशेषताओं, उसके गुणों पर निर्भर करती है, किन्तु उसके प्रकाश में कोई अन्तर नहीं आता। उसी प्रकार ऐसा प्रतीत होता है कि आत्मा विभिन्न शरीरों में जाकर उनकी विशेषताओं से प्रभावित होती है, किन्तु वस्तुत: वह सर्वत्र एक-सी निर्विकार रहती है। सूर्य ने उनके मन में अहंकारशून्यता और सर्वव्यापकता के गुणों को उत्पन्न किया।

कबूतर

एक कबूतर के माध्यम से दत्तात्रेय ने संस्कारों के जाल में उलझने की आशंका को जाना। उन्होंने देखा कि जब शिकारी ने कबूतर के बच्चे को जाल में फँसा लिया तो वह अपनी माँ को अपनी सुरक्षा के लिए किस तरह कातर होकर पुकार रहा था और वह ममता के कारण बच्चे की रक्षा करने के लिए जाकर स्वयं भी पकड़ी जाती है। इस प्रकार पारिवारिक बन्धन ने उस पक्षी का नाश

कर दिया। संसार के प्रति अत्यधिक आकर्षण आध्यात्मिकता को समाप्त कर देता है। हमारे संस्कार जो, हमारे पूर्वाग्रहों, इच्छाओं और पारिवारिक ममता पर आधारित होते हैं, हमारे अन्दर की आध्यात्मिकता को विलुप्त कर देते हैं। आध्यात्मिक उत्कण्ठाएँ पूर्वधारणाओं से, मन की अनम्यता से और बौद्धिकता के अतिरेक से धीरे-धीरे उपशमित हो जाती हैं।

अजगर

नौवाँ गुरु अजगर था। वह कभी स्वयं भोजन की खोज में नहीं जाता है, उसके सम्मुख जो आया उसी को वह खाता है। दत्तात्रेय ने समर्पण का महत्त्व जाना।

समुद्र

समुद्र पृथ्वी के सम्पूर्ण जल को, स्वच्छ हो या दूषित, ग्रहण करता है। फिर भी वह उन सब से अप्रभावित रहता है, उसका अपना गुण ज्यों-का-त्यों बना रहता है। दत्तात्रेय ने अशान्ति और विघ्न-बाधाओं से भी अप्रभावित रहना सीखा।

खद्योत (जुगनू)

जुगनू प्रकाश की चमक से खिंचा चला आता है, जो उसकी मृत्यु का कारण बनता है। इस उदाहरण से योगी को यह सीख मिली कि इच्छाएँ किस प्रकार विनाश की ओर ले जाती हैं।

मधुमक्खी

बारहवीं गुरु मधुमक्खी थी। दत्तात्रेय ने देखा कि मधुमक्खी एक फूल से दूसरे फूल पर जाकर उनके रस एकत्र करती है, किन्तु वह उतने ही रस लेती है जितने की उसे तुरन्त आवश्यकता होती है, साथ ही न तो वह उन्हें आहत करती है और न ही क्षति पहुँचाती है। यह देखकर उन्हें भिक्षा का विचार आया। भिक्षा की धारणा यह थी कि भविष्य के लिए कुछ भी एकत्र नहीं करना, जो और जितना मिले उसे ग्रहण करना और बदले में दूसरों के लिए मंगल कामना करना।

हाथी

उनका तेरहवाँ गुरु हाथी, जो लकड़ी की हथिनी के प्रति आकृष्ट होकर जाल में फँस गया। दत्तात्रेय ने इस घटना से यह सीखा कि सर्वोच्च सत्य जब अपना लक्ष्य

हो तो ऐन्द्रिक सुखों के द्वारा विचलित नहीं होना चाहिए। एक स्त्री का चित्र या केवल उसका विचार भी व्यक्ति को आध्यात्मिक मार्ग से विचलित कर सकता है।

मधु एकत्रित करने वाला

मधु एकत्र करने वाला उनका चौदहवाँ गुरु था। मधुमक्खी मधु बनाने में अपना सारा समय व्यतीत करती है और मधु एकत्र करने वाला उसका उपभोग करता है, उसका आनन्द उठाता है। मनुष्य भी इसी प्रकार सारी उम्र धन-सम्पत्ति एकत्र करने में गवाँ देता है ताकि उसे सुख और सुरक्षा प्राप्त हो सके।

किन्तु, वस्तुतः यह सम्पत्ति आन्तरिक सुरक्षा तो नहीं ही दे पाती है, साथ ही अधिकतर मनुष्य सम्पत्ति एकत्र करने में इतने व्यस्त रहते हैं कि उन्हें उसका उपभोग करने और उसका आनन्द उठाने का अवसर ही नहीं मिल पाता है। दत्तात्रेय ने अनुभव किया कि इस प्रकार समय, शक्ति और भावनाएँ व्यर्थ नष्ट होती हैं। अपना अनमोल समय भौतिक वस्तुओं के संचय में नहीं, बल्कि अन्तरात्मा तक पहुँचने में लगाना चाहिए।

हरिण

एक बार योगी एक हरिण को देख रहे थे। वह अपने चुस्त और द्रुतगामी पैरों पर सजग और सचेत खड़ा था। एक शिकारी को, जो उसे पकड़ने में बार-बार विफल हो रहा था, याद आया कि यह पशु संगीत के द्वारा विमोहित होता है, और हरिण उसी उपाय द्वारा पकड़ा भी गया। किसी भी कारण से विभ्रांत होना, ध्यानाकर्षित होना आध्यात्मिक मार्ग के लिए एक दुर्बलता है। इससे सजगता और एकाग्रता चली जाती है। कठिन साधना के बाद साधक एक ऊँचाई पर पहुँचने के बाद भी यदि विभ्रांत होता है तो उसका पतन हो जाता है और वह रजस् तथा तमस् में डूब जाता है। इसलिए सदा अपनी दुर्बलताओं के प्रति सचेत और जागरूक रहना चाहिए ताकि आप अपने पथ से विचलित न हो जायें।

मछली

मछली पकड़ी जाती है, क्योंकि वह काँटे में लगे कृमि द्वारा प्रलोभित हो जाती है। मनुष्य को अपनी ज्ञानेन्द्रियों और उनसे सम्बन्धित इच्छाओं से–स्वाद, गंध, दृष्टि, ध्वनि या स्पर्श से सावधान रहना चाहिए। योगी जब मछली को देख रहे थे तो इन बाधाओं के प्रति सचेत थे।

पिंगला

सत्रहवीं गुरु पिंगला नाम की एक गणिका थी। एक बार वह अत्यधिक वेदना और व्यग्रता के साथ अपने प्रेमी की प्रतीक्षा कर रही थी। वह प्रतीक्षा करती रही, किन्तु प्रेमी नहीं आया, तब उसे अपने आप से घोर विरक्ति हुई और उसने सोचा, "मैं अपनी इच्छाओं और अपेक्षाओं के कारण ही यह कष्ट पा रही हूँ।" अपनी वेदना की पराकाष्ठा पर उसने अपनी सजगता को अन्तर्मुख किया और तब उसके अन्दर एक महान् परिवर्तन हुआ। उसे पश्चात्ताप हुआ कि "यदि मेरा उत्साह और अनुराग उस दिव्य प्रियतम के प्रति समर्पित होता तो आज मेरी यह दुर्दशा नहीं होती।"

इस प्रकार उसके अन्दर घोर वैराग्य उत्पन्न हो गया। विवेक की तलवार से उसने एक ही क्षण में अपनी इच्छाओं और अपेक्षाओं को काट फेंका और आध्यात्मिक मार्ग पर चली आई। दत्तात्रेय को पिंगला के जीवन से प्रेरणा मिली–उसे अपने ही कष्टों से सीख मिली, उसने अपने अज्ञान को उसी प्रकार उतार फेंका मानो वह कोई वस्त्र हो और उसकी चेतना विवेक और वैराग्य के पंखों पर इच्छाओं से मुक्त होकर आध्यात्मिक उपलब्धियों की ऊँचाइयों तक उड़ चली।

गोरैया

दत्तात्रेय एक छोटी गोरैया को उड़ते हुए देख रहे थे, जो अपनी चोंच में अन्न का दाना लिए जा रही थी। इसी बीच एक बड़ा पक्षी उसके पीछे लग गया। जब वह स्वयं को उससे बचा नहीं पा रही थी, उसने अपनी चोंच से अन्न का दाना गिरा दिया और स्वयं भाग खड़ी हुई। वह बड़ा पक्षी उस अन्न के दाने पर झपट पड़ा। उन्हें अनुभव हुआ कि उस छोटी-सी चिड़िया की मूल प्रवृत्यात्मक क्रिया के पीछे जो बुद्धि काम कर रही थी, उसके अनुसार शत्रु के अधिक शक्तिशाली होने पर स्वामित्व का मोह नहीं करना चाहिए।

यह तथ्य केवल भौतिक स्वामित्व के लिए सत्य नहीं है, बल्कि मन के लिए भी सत्य है। जब कोई बलवती भावना सम्पूर्ण व्यक्तित्व को प्रभावित कर रही हो तो उस समय मन के साथ संघर्ष नहीं करना चाहिए, बल्कि एक उदासीन साक्षी के समान उस भावना को ज्वार-भाटे की तरह चढ़ते-उतरते देखना चाहिए, ताकि उससे सम्बन्धित जो शक्ति है वह स्वयं ही धीरे-धीरे उपशमित हो जाये।

शिशु

दत्तात्रेय का उन्नीसवाँ गुरु एक शिशु था जिसे उन्होंने खेलते हुए देखा, जो अपने अतीत से अप्रभावित और मुक्त था। एक बच्चा अपने जीवन को क्षण प्रतिक्षण जीता है। उसे न तो किसी के अपशब्द याद रहते हैं और न एक क्षण पहले का कष्ट, और न ही वह भविष्य के स्वप्न देखता है। उसका सर्वस्व प्रत्येक क्षण में विद्यमान रहता है। जब वह खेल रहा होता है तब उसे न कोई तनाव होता है और न स्पर्धा होती है। वह केवल आनन्द और आह्लाद से ओतप्रोत रहता है, जैसे वृक्ष सहज से पुष्पित-पल्लवित होते रहते हैं।

आध्यात्मिक पथ भी इसी प्रकार प्रसन्नकर, आह्लादपूर्ण और अनुष्ठानों से परिपूर्ण हो सकता है। इसके लिए साधक को सदा अपने अहं के प्रलोभनों से सतर्क रहने की आवश्यकता है। इसीलिए कहा गया है कि संतोष एक शिष्य की प्रमुख विशेषता है।

बालिका

बीसवीं गुरु एक छोटी बालिका थी। जब वह घर में अकेली थी तो उसे अप्रत्याशित अतिथियों का स्वागत करना पड़ा। वह ऐसी परम्परा में पली-बढ़ी थी जहाँ अतिथि देवता के समान माने जाते हैं। उसने समुचित आदर के साथ उन लोगों को बैठाया और स्वयं अन्दर उनका भोजन तैयार करने चली गयी। जब वह चावल कूट रही थी तो उसकी काँच की चूड़ियाँ एक-दूसरे से टकरा कर कोलाहल कर रही थीं। उसने दोनों हाथों में एक-एक चूड़ी को छोड़ कर धीरे-धीरे अपनी सारी चूड़ियों को तोड़ डाला ताकि अतिथि उस ध्वनि से विक्षुब्ध न हों।

दत्तात्रेय तत्क्षण यह समझ गये कि आध्यात्मिक पथ पर अकेले ही चलना चाहिए। एक अन्तरंग और शान्त साथी भी मानसिक कोलाहल उत्पन्न कर सकता है, जो दिव्य नीरवता के मार्ग में बाधक हो सकता है।

धनुर्धारी

धनुर्धारी की एकाग्रता ने दत्तात्रेय को सत्त्वगुण और सत्य की खोज करने वाले की अविच्छिन्न एकाग्रता की याद दिला दी। यहाँ मुण्डकोपनिषद् के उस अंश का ध्यान हो आता है जहाँ उल्लिखित है–

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते ।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ॥

अर्थात् 'ॐ' धनुष है, 'आत्मा' तीर और 'ब्रह्म' लक्ष्य हैं। एकाग्र मन के द्वारा लक्ष्य बेध करने पर तीर के समान लक्ष्य के साथ एकात्म होने में सफलता प्राप्त होती है। धनुर्धर दत्तात्रेय का इक्कीसवाँ गुरु था।

सर्प

बाइसवाँ गुरु एक सर्प था, जिसने दो बातें सिखाईं। पहली यह कि भीड़ से बचो। दूसरी यह कि किसी भी सत्यान्वेषी को एक स्थान पर अधिक समय तक नहीं टिकना चाहिए, क्योंकि इससे अन्तरंगता आती है जो जागरूकता को कुंद कर देती है और आत्मीयता उत्पन्न करती है। यह सीख मन के लिए भी सत्य है। अन्दर की भीड़-भाड़ को दूर करना चाहिए। चेतना की कोलाहल मुक्त स्थिति में रहने का प्रयास करना चाहिए। किसी परिचित विचार या भावना के साथ नहीं जुड़े रहना चाहिए। ऐसा करने पर साधक की जागरूकता प्रत्येक क्षण पूर्वानुभूतियों से पूर्णतया मुक्त रहती है।

मकड़ा

तेइसवाँ गुरु एक मकड़ा था। मकड़ा अपनी ही लार से जाल बुनता है और जाल बनने के बाद बचे हुए लार को वापस मुँह में लौटा लेता है। इसने दत्तात्रेय को ब्रह्म की याद दिला दी, जो पहले तो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की रचना करते हैं, उसे फैला देते हैं और अन्त में सब को वापस समेट लेते हैं।

भ्रमर कीलक (भिड़ या ततैया)

चौबीसवाँ गुरु 'भ्रमर कीलक' था। यह कीड़ा अपने शिकार कीट को पकड़ कर अपने घोंसले में रखता है और वह उस कीट को तब तक डंक मारता जाता है, जब तक वह भय के कारण एकाग्र नहीं हो जाता है। वह भ्रमर कीलक के भय से अक्रांत हो कर उसी पर तब तक ध्यान लगाये रखता है जब तक वह अपने आक्रान्ता के गुणों से आविष्ट नहीं हो जाता और स्वयं भ्रमर कीलक नहीं बन जाता। *'ब्रह्म विद् ब्रह्मेव भवति'*–ब्रह्म का ज्ञान स्वयं ब्रह्म होना है। इसी का समब्रह्म योग कंस ने अभ्यास किया था। कृष्ण के भय ने उसके मन को एकाग्र बना दिया जिससे उसे मोक्ष की प्राप्ति हुई।

इन सारी घटनाओं तथा कथाओं के द्वारा यदु को ज्ञान की प्राप्ति हुई और वह अपने गुरु दत्तात्रेय को अपनी श्रद्धा अर्पित कर अपने मार्ग पर चल पड़ा।

शिष्यत्व

एक शिष्य के लिए दत्तात्रेय के चौबीस गुरुओं की कथाओं का व्यापक महत्त्व है। प्राय: ऐसा देखा गया है कि मनुष्य अपनी अहंकारपूर्ण प्रवृत्ति के साथ अपने गुरु की बातों का, क्रिया-कलापों का विश्लेषण करता है, एक गुरु को छोड़ अन्य गुरु की खोज में लगा रहता है। जब तक वह व्यक्ति शिष्य नहीं बन पाता है तब तक उसकी चेतना शब्दों के परे नीरवता को, आकार के परे निराकार को, परिधि के अन्दर केन्द्र को नहीं देख पाती है और इस प्रकार वह बार-बार कुछ चुकता जाता है, खोता जाता है।

एक सत्यान्वेषी के लिए शिष्यत्व अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। किन्तु शिष्यत्व का न तो कोई भावनात्मक अभिप्राय होता है और न ही गुरु के प्रति बौद्धिक समझदारी। शिष्यत्व चेतना की एक विशेष अवस्था है। यह पुष्प के प्रस्फुटित होने के समान है। पुष्प का प्रस्फुटन उसकी इच्छा से नहीं होता है। न इसके लिए कोई गणना की जाती है। पुष्प अपने प्रस्फुटन का समय भी निश्चित नहीं करता है। जब कली की अवस्था का अन्त होने लगता है, तो पुष्प स्वत: प्रस्फुटित हो जाता है और सूर्य का प्रकाश स्वाभाविक रूप से उसके अन्दर प्रवेश कर जाता है। सूर्य अपना प्रकाश देने के लिए पुष्प का चयन नहीं करता है। सूर्य की किरणें स्वाभाविक रूप से सर्वत्र विद्यमान रहती हैं। जब पुष्प प्रस्फुटित होता है तब उन दोनों-पुष्प और सूर्य-किरणों का मिलन होता है।

दत्तात्रेय का अपने सभी गुरुओं के साथ सम्बन्ध उनके प्रवचन, बौद्धिक वार्ता या चर्चा के आधार पर नहीं था। पूर्वानुभूतियों और पूर्व धारणाओं से मुक्त अबोध मन के अन्दर क्षणमात्र में उद्भूत हुए अन्तर्ज्ञान ने गुरु-शिष्य सम्बन्ध स्थापित किये थे। उनमें शिष्यत्व की चेतना इतनी संवेदनशील और सुग्राही थी कि मकड़ा, सर्प, गणिका, शिशु इत्यादि जैसे संसार के छोटे-बड़े जीव उन्हें गुरु के रूप में गहराई से प्रभावित करते रहे। चूँकि उनके अन्दर का शिष्य सदा जागरूक था, सम्पूर्ण सृष्टि उनकी गुरु बन गयी। चूँकि वे एक शिष्य थे, इसीलिए वे आदि गुरु भी थे। शिष्यत्व और गुरुत्व का संयोजन शारीरिक, मानसिक या भावनात्मक नहीं होता है। यह चेतना की ऐसी अवस्था है जहाँ दो महान् नदियों का जल आपस में मिल कर एकरूप हो जाता है।

सिद्ध गुरु

दत्तात्रेय ने विभिन्न प्रकार के वेश धारण किये थे। एक बार जब वे बद्रीवन में पहुँचे तो वहाँ अपनी श्रेष्ठता प्रमाणित करने के लिए अनेक सिद्ध एकत्र थे। उनमें से कुछ नग्न थे, कुछ वस्त्र धारण किये हुए थे, कुछ के सिर मुड़े हुए थे, कुछ ने अपनी जटाओं को सिर के ऊपर समेट रखा था, कुछ शान्त थे, कुछ वाचक थे, किन्तु थे सभी अहंकार में डूबे हुए। जब उन लोगों ने युवा अवधूत को देखा तो पूछा, 'तुम कौन हो?' उत्तर दिया, 'मैं अव्यक्त हूँ।' उन लोगों ने पूछा, 'कौन से योग का अभ्यास करते हो?' दत्तात्रेय ने कहा, 'निष्क्रियता का'। उनका अगला प्रश्न था, 'तुम्हारा मार्ग क्या है?' दत्तात्रेय ने उत्तर दिया, 'प्राकृतिक आनन्द का।' उन्होंने फिर पूछा, 'तुम्हारी मुद्रा क्या है?' दत्तात्रेय ने बताया, 'निरंजनी'।

स्वामी की कान्ति और उनके उत्तरों ने मानो उन सिद्धों की हृद्-तंत्रियों को झंकृत कर दिया और उनकी कृपा ने उन सब के अहंकार को पिघला दिया। वे समझ गये कि दत्तात्रेय उनके सम्मुख उपस्थित हैं। वे आपसी द्वन्द्व की क्षुद्रता को भी समझ गये। उन्होंने अत्यन्त विनम्रता के साथ कहा, 'भगवन्, अपना लक्ष्य भूलकर हम लोग अपने अहं-पंक में ही फँस कर रह गये। यहाँ तक कि हम लोगों ने आध्यात्मिकता को भी एक वस्तु बना दिया था और सत्संग को एक बाजार। हम लोगों को क्षमा करें और हमें यह आशीर्वाद दें कि हम पुन: पथ से विचलित नहीं हों।'

दत्तात्रेय तब अपने वास्तविक रूप में आ गये और उन्होंने उन सब को माघ की पूर्णिमा को बीजाक्षर मन्त्र 'ॐ' के द्वारा दीक्षित किया। गोरखनाथ, जो एक महान् सिद्ध और हठ योग के श्रेष्ठतम ज्ञाता थे, उनकी क्रियाएँ दत्तात्रेय द्वारा सिखाये जाने वाले अभ्यासों और क्रियाओं से मिलती-जुलती थीं। नाथ सम्प्रदाय के महान् योगी, जैसे, मत्स्येन्द्रनाथ, दत्तात्रेय अवधूत को त्याग और यौगिक क्रियाओं का प्रतीक मानते थे।

आदि गुरु

आषाढ़ की पूर्णिमा के दिन दत्तात्रेय आमलक वृक्ष के नीचे बैठ कर ध्यान कर रहे थे। राजा अलर्क जीवन के अस्थायित्व और सुखों की क्षणभंगुरता

से दु:खी होकर एक गुरु की खोज में था। राजा अलर्क ऋतुध्वज और रानी मदालसा का चौथा पुत्र था। उसके अन्य भाई तपस्या के लिए जा चुके थे और राजा ने वृद्धावस्था में अलर्क को अपना उत्तराधिकारी बनाकर वानप्रस्थ ले लिया था। उसकी माता का उस पर अत्यधिक स्नेह था और उसी ने उसका नाम अलर्क रखा था जिसका अर्थ होता है 'पागल कुत्ता'। जाने के पूर्व उसने लॉकेट के अन्दर कुछ लिख कर अलर्क को दिया और कहा, 'मेरे पुत्र! दुर्दमनीय कष्ट या बाधा आने पर इसे खोल कर पढ़ना।'

अलर्क ने बुद्धिमानी के साथ राज्य किया। उसकी प्रजा प्रसन्न और सुखी थी। इसी बीच उसका बड़ा भाई सुबाहु तपस्या से ऊब कर लौट आया था। अलर्क के राज्य की समृद्धि देख कर वह ईर्ष्या से जल उठा। उसने काशीराज के साथ मिल कर अलर्क के राज्य पर आक्रमण कर दिया और युद्ध में उसे पराजित कर दिया। अलर्क ने देखा कि उसके जिस भाई ने अध्यात्म से प्रेरित होकर राज्य छोड़ दिया था, उसी ने वापस आकर सत्ताधिकार प्राप्त करने के लिए उसके विरुद्ध युद्ध का षड्यन्त्र किया। वह दु:खी तो हुआ ही, द्वन्द्व में भी पड़ गया। इस समय उसे अपनी माँ के लॉकेट की याद आयी, उसने उसे खोल कर देखा। माँ ने लिखा था, 'इच्छा सभी कष्टों का कारण है। मोक्ष प्राप्त करो।'

प्राय: अहं के धराशायी हो जाने पर जब दुर्बलतापूर्ण क्षण आते हैं तो हम उच्चतर सत्यों के प्रति अत्यन्त संवेदनशील हो जाते हैं। अपने भाई की दशा देखकर अलर्क समझ गया कि केवल आध्यात्मिक क्रियाओं का अभ्यास करना पर्याप्त नहीं होता है। गुरु का होना अनिवार्य है, अन्यथा चेतना की उच्च अवस्था पर पहुँचने के बाद भी पतन की आशंका बनी रहती है। उसे अनुभव हुआ कि अपने अहं से प्रेरित होकर आध्यात्मिक क्रियाओं का अभ्यास और भी अनिष्टकारी हो सकता है। इसलिए वह राज्य का त्याग कर गुरु की खोज में निकल पड़ा।

खोज के क्रम में वह सहयाद्रि पर्वत पर पहुँचा जहाँ भगवान् दत्तात्रेय गहन ध्यान में लीन थे। जब दत्तात्रेय ने आँखें खोलीं तो अलर्क ने दण्डवत् होकर उन्हें प्रणाम किया और कहा, 'भगवन्, मैं अत्यन्त हताश और एकाकी हो गया हूँ। अपने कष्ट से उबरने में मेरी मदद करें, मुझे मार्ग प्रदर्शित करें। मैं शाश्वत सत्य को कैसे प्राप्त कर सकता हूँ?' दत्तात्रेय जोर से हँसे और कहा, 'अलर्क! तुम्हें वेदना हो रही है, क्योंकि तुम माया में उलझे हुए हो। तुम हो कौन? तुम पाँच तत्त्व–क्षिति, जल, पावक, गगन और समीर नहीं, जिनसे तुम्हारा शरीर

बना है। तुम वह मन भी नहीं जो द्वन्द्व में फँसा हुआ है। तुम शाश्वत साक्षी हो। इसी पर ध्यान करो।'

दीर्घ और गहन साधना के बाद राजा अलर्क को अपने गुरु के शब्दों में छिपे सत्य का बोध हुआ– 'मैं न तो प्रसन्न हूँ, न अवसाद युक्त। मान-सम्मान मुझे प्रभावित नहीं करते। मैं न तो यह शरीर हूँ, न ही यह मन। गुरु की कृपा ने मुझे अविद्या से मुक्त कर दिया है।' तब उसने अनुभव किया कि उसे अपने भाई सुबाहु का धन्यवाद ज्ञापन करना चाहिए जो उसके कष्टों तथा उनके परिणामस्वरूप गुरु की खोज का कारण बना। इसलिए राज्य वापस जाकर अपने भाई के चरणों का स्पर्श करने के बाद उसने उससे सम्पूर्ण घटना का वर्णन किया।

अलर्क को अत्यन्त आश्चर्य हुआ जब सुबाहु ने उसे बताया, 'भाई! माँ ने हम लोगों को लालन-पालन के साथ यह बताया था कि क्षणभंगुर जीवन के परे देखो। जब मैं अपनी आध्यात्मिक साधना के बाद लौटा तो देखा कि राज्य-संचालन में तुम मग्न और आत्मतुष्ट हो गये हो। तब मैंने तुम्हें इस भौतिक जगत् में उलझने से बचाना चाहा। इसलिए मैंने युद्ध की योजना बनाई, तुम्हें पराजित किया, ताकि तुम्हारा मोह-भंग हो और तुम एक गुरु की खोज में जाओ। यह दत्तात्रेय की कृपा थी जिससे प्रेरित होकर हम लोगों का मन उच्चतर सत्य की ओर मुड़ा, यह भी उन्हीं की कृपा थी जिसने मुझे वापस बुलाया और यह भी उनकी ही कृपा थी जिसके द्वारा तुम आकृष्ट होकर उनके पास चले गये।'

काशी के राजा मोक्ष-प्राप्त दो भाइयों की वार्ता सुन रहे थे, उनका मन विनम्रता से भर उठा। वे स्वयं अपनी उपयोगिता, अपनी मान्यताओं, अपने महत्त्व के विषय में सोचने लगे और एक रूपान्तरित व्यक्ति के रूप में उन्होंने काशी के लिए प्रस्थान किया। वे सोच रहे थे, 'यह सत्य है, दत्तात्रेय आदि गुरु हैं।'

गुरु से परे, शिष्य से परे

एक बार दत्तात्रेय अनेक ऋषियों के बीच बैठे हुए थे। पिंगलिंग नामक एक महर्षि-पुत्र उनके पास गया और उनसे पूछा, 'भगवन्! मैं आपको समझ नहीं पाता हूँ। आप एक संन्यासी के समान शरीर में भस्म लगाकर नग्न घूमते हैं।

कभी ऐसा भी मैंने देखा है कि एक गृहस्थ के समान आप हाथ में मद्य लिए स्त्री के साथ बैठे हुए हैं। आप अनासक्त होते हुए भी आसक्त प्रतीत होते हैं। आप क्या हैं? आप किस आश्रम के हैं? आप किसी अनुष्ठान में सम्मिलित नहीं होते हैं, फिर भी आपकी दीक्षा में महान् शक्ति होती है। कभी तो आप एक ऋषि के समान ध्यान में होते हैं और कभी एक भिखारी के समान बिना धूल और गंदगी की चिन्ता किये पृथ्वी पर लोट रहे होते हैं। वस्तुत: आप क्या हैं?'

दत्तात्रेय मुस्कुराये और बोले–ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास, जीवन के चार आश्रम, मनुष्य के विकास क्रम की चार अवस्थाएँ हैं। विकास समय के परिणामस्वरूप होता है, यह कालबद्ध है। और मैं समय के परे हूँ। मैं कालमुक्त हूँ। मुझे आश्रमों का अनुसरण करने की आवश्यकता नहीं। अनुष्ठान के द्वारा शरीर और मन की शक्तियों को एकाग्र किया जाता है ताकि उनसे ऊपर उठा जा सके। मैं न तो शरीर हूँ, न मन। मैं दोनों से ऊपर हूँ। सत्य के साथ सायुज्य करने की तैयारी है, संन्यास। यह अपरिवर्तनशील शाश्वत की खोज में सांसारिकता से मुक्ति है। मैं परिवर्तनमुक्त हूँ। मैं सभी आश्रमों से परे हूँ। फिर भी मैं इन सब में हूँ। मैं गुरु हूँ। मैं शिष्य हूँ। मैं इन दोनों से परे भी हूँ। मैं सर्व-साक्षी हूँ। तुम्हारी आवश्यकताओं के अनुसार मेरी भूमिका बदल जाती है। मेरी कोई निश्चित भूमिका नहीं। मैं सर्वव्यापी चेतना हूँ। मैं ही सत्य हूँ।

सत्य उद्घाटित

गुरुमूल पीठ का आरम्भ महर्षि अत्रि से ही हुआ था। दत्तात्रेय ने अपनी माता अनसूया से कहा था, "मैं इस शरीर में और सभी शरीरों में सर्व-साक्षी हूँ। यह शरीर मेरा मन्दिर है। इसके गर्भगृह में आओ और मुझसे मिलो। मैं तुम्हारे अन्दर भी हूँ।" युगों-युगों से ऋषियों ने, सत्यान्वेषियों ने सत्य की खोज की और उसे अपने अन्दर ही पाया। उन लोगों ने दत्तात्रेय का आवाहन किया तो उच्चतम चेतना की शक्ति उन्हें रूपान्तरित करती हुई उनके अन्दर प्रवाहित होने लगी। आध्यात्मिक विरासत की मशाल सदा शिखरोज्वलित रही है और पीढ़ी-दर-पीढ़ी आगे बढ़ती रही है।

शंकराचार्य के उपरान्त लोगों की आवश्यकताओं के अनुसार अनेक संगठनों की रचना हुई, उनका विघटन हुआ, आध्यात्मिक साधकों ने सच्चे

जिज्ञासुओं की आवश्यकताओं की पूर्ति की। किन्तु दत्तात्रेय का सम्प्रदाय आज भी विद्यमान है और इसकी अद्भुत कथा है। यह परम्परा जगमगाते हुए तारामंडल के समान अनेक महान् योगियों और संतों से समृद्ध है।

श्रीपादश्रीवल्लभ उच्च कोटि के अवधूत थे। श्री नरसिम्ह सरस्वती एवं रामकृष्ण परमहंस ने परमहंस पक्ष को उद्भासित किया। जनार्दन स्वामी, एकनाथ इत्यादि ने आध्यात्मिक चेतना के साथ गृहस्थ जीवन का मार्ग बताया। एकनाथ एवं वारकरी लोगों ने भक्ति पक्ष को जन साधारण की भावनाओं के माध्यम से पुनर्जीवित कर दत्त सम्प्रदाय में भक्ति योग को प्रतिष्ठित किया।

दासोपंत ने नाथ पंथ और सम्प्रदाय को एकीकृत किया। नारायण महाराज ने कर्मयोग और हठ योग को मिलाया। प्रायः यह कहा जाता है कि धनवान ईश्वर से दूर होते हैं और गरीब उनके निकट होते हैं। किन्तु यह सनातन धर्म की धारणा नहीं है। अनेक राजा ऋषि हुए हैं–राजर्षि। व्यक्ति को आध्यात्मिक जीवन के उपयुक्त बनाने में उसकी आर्थिक स्थिति, उसकी शिक्षा या जीवन के अन्य पक्ष का कोई महत्त्व नहीं होता है। यह व्यक्ति की चेतना से सम्बन्धित होता है।

जीवन की बाह्य स्थितियों का सम्बन्ध उसके प्रारब्ध से होता है। माणिक प्रभु ने अपने जीवन में इसका दृष्टान्त दिया। वे अच्छे-कीमती वस्त्र पहनते और मधुकरी की भिक्षा माँगते। उनका न धन से कोई सम्बन्ध था, न दरिद्रता से। वे द्वित्व से परे थे। रामकृष्ण, शिरडी के साईं बाबा एवं नूरी बाबा ने अपने जीवन और अपनी साधना से दिखा दिया कि अतीन्द्रिय ज्ञान की पराकाष्ठा पर पहुँचने के लिए किसी धर्म विशेष का होना अनिवार्य नहीं और सभी धर्मों का सार तत्त्व एक ही है। स्वामी शिवानन्द सरस्वती एक चिकित्सक थे। उन्होंने योग को वैज्ञानिक आयाम दिया और साथ-ही देश की सीमाओं से परे भी गये।

अतीत में लोगों ने अपने परिवारों को छोड़ा और सत्य की खोज में भटकते रहे। युगों-युगों तक ऋषियों ने सामूहिक चेतना की आध्यात्मिक आवश्यकताओं का पोषण किया है, आध्यात्मिक आयामों को सिद्धान्तों और पद्धतियों का रूप दिया। जीवन के प्रत्येक आश्रम में धर्म, जाति, आर्थिक एवं राष्ट्रीय सीमाओं को पार कर उन्होंने विज्ञान जगत् में प्रवेश किया। आज सम्पूर्ण मानवता एक सूत्र में बँधी एक नवीन और व्यापक चेतना की देहरी पर खड़ी है। दत्तात्रेय की चेतना इसी प्रकार पुष्पित-पल्लवित हो रही है।

श्री श्री पाद श्री वल्लभ सन् 1300 ई०

आँध्रप्रदेश में गोदावरी नदी के तट पर एक नगर था, पिथापुरम्। सन् 1300 ई० के आस-पास उस नगर में वेदों का ज्ञाता एक तपस्वी ब्राह्मण अप्पल राजा रहता था। उसकी पत्नी सुमति अनसूया के समान पतिव्रता स्त्री थी। यद्यपि ब्राह्मण का मन्दिर छोटा था, किन्तु वहाँ कुक्कुटेश्वर (शिव) और कुंती माधव (विष्णु) के अनेक मन्दिर थे। वहाँ पादगया नामक सरोवर प्रख्यात है, जहाँ आज भी पूरे देश के लोग श्राद्ध करने जाया करते हैं। यह नाभिगया और शिरोगया के समान ही पवित्र माना जाता है और इसका उल्लेख स्कन्द पुराण में भी है।

एक दिन वह ब्राह्मण अपने पितरों का श्राद्ध करने के बाद श्राद्ध भोक्ताओं को बुलाने चला गया। दो प्रहर बीत चुके थे। भोजन पकाने के बाद सुमति अकेली बैठी अपने पति की प्रतीक्षा कर रही थी। अचानक उसे अपने द्वार की तरफ से आवाज सुनाई दी, *'भवति भिक्षां देहि।'* वह दौड़ी हुई बाहर गई तो देखा, अद्भुत कांति वाला एक साधु खड़ा था। बिना श्राद्ध के नियमों का विचार किये, जिसके अनुसार ब्राह्मण भोक्ताओं को ही पहले भोजन कराया जाता है, *'अतिथि देवो भव:'* की भावना के साथ साधु को भोजन करा दिया। भोजन के पश्चात् साधु ने उससे पूछा, 'तुम्हारी इच्छा क्या है?' उसके हृदय से एक सहज-सा उत्तर निकला, 'तुम्हारे समान पुत्र'। साधु ने कहा, *'तथास्तु।'*

जब अप्पल राजा लौटा तो उसने देखा उसकी पत्नी द्वार पर जड़वत्, किन्तु निश्छल मुस्कान के साथ बैठी हुई थी। जब वह अपने पति से उस घटना का वर्णन कर रही थी तो उसकी आँखों से अश्रु-धारा प्रवाहित हो रही थी। उसने कहा, 'साधु को देखकर मुझे दत्ता प्रभु की याद आ रही थी। और श्राद्ध के सभी नियमों का उल्लंघन कर मैंने प्रेम से आप्लावित हृदय के साथ उन्हें भोजन कराया।'

अप्पल राजा ने कहा, 'तुम सचमुच धन्य हो। यदि तुम्हारे भीतर अकारण ही इतनी भक्ति थी और यदि तुम्हारी भक्ति ने गुरु का आवाहन किया था तो उस साधु की चेतना में उस क्षण अवश्य ही दत्ता प्रभु स्वयं उपस्थित हुए थे।'

दिन बीतते गये और सुमति अधिक-से-अधिक दत्तात्रेय के ध्यान में लीन होती गयी। उसका शरीर एक अद्भुत आभा से दमकने लगा। दिगंबर दत्ता की

छवि सदा उसके हृदय में रहती। मानसिक रूप से उसने स्वयं को दत्ता नाम से संतृप्त कर लिया था। समय के अन्तराल में उसने एक बालक को जन्म दिया। चूँकि उस बालक के पैरों पर शंख और चक्र अंकित थे, उसका नाम श्रीपाद रखा गया।

श्रीपाद श्रीवल्लभ विस्मयकारी बालक था। जिस कार्य को वह करता, पूर्णता के साथ करता। उसकी स्मृति सुस्पष्ट थी। एक दृष्टि में ही उसे सम्पूर्ण पृष्ठ याद हो जाता था। सात वर्ष की आयु में उसका उपनयन संस्कार किया गया और कुछ ही समय में वह वेदों का ज्ञाता हो गया। जब वह छब्बीस वर्ष का हो गया तो उसके माता-पिता ने उसका विवाह कर उसके गृहस्थ जीवन में प्रवेश करने की इच्छा व्यक्त की। इस पर युवक श्री पाद श्री वल्लभ ने विनम्रता के साथ कहा, 'मेरा विवाह तो वैराग्य से हो चुका है। प्रवृत्ति मार्ग मेरे लिए नहीं है। मुझे निवृत्ति मार्ग पर जाना है। मैं एक संन्यासी हूँ। मेरे लिए गृह त्याग करने का समय आ गया है।'

जिस प्रकार दत्तात्रेय ने सैकड़ों वर्ष पूर्व अपने माता-पिता से विदा ली थी और अकेले निकल पड़े थे उसी प्रकार श्री पादश्री वल्लभ यति ने अपनी माता की चरण-धूलि अपने मस्तक पर लगाई और पिथापुरम् को छोड़ कर चल पड़े। वे काशी, बद्रीनाथ, केदारनाथ होते हुए हिमालय में घूमते रहे। मार्ग में उन्होंने योगियों और जिज्ञासुओं को उच्चतम सत्य का ज्ञान दिया। उसके बाद उन्होंने पश्चिम भारत के सभी पुण्यक्षेत्रों के दर्शन किये। अपने अन्तःकरण के आदेश पर वे गोकर्ण से कुरूवापुर चले आये।

कुरूवापुर कृष्णा नदी का एक द्वीप था। हिन्दू-मुसलमान, सभी धर्म के लोग समान रूप से करुणामय योगी के पास जाते और वे अपने पास आने वालों को अपने दिव्य प्रेम से ओतप्रोत कर देते। किसी को उन्होंने समृद्धि का आशीर्वाद दिया, किसी को सन्तान का, तो किसी को ज्ञान का। कोई खाली हाथ नहीं लौटा। आश्विन के कृष्णपक्ष में द्वादशी के दिन श्रीपाद श्रीवल्लभ ने गंगा नदी के जल में समाधि ली।

श्री नरसिंह सरस्वती स्वामी

महाराष्ट्र के वरद जिले के करंजनगर में एक वाजसनेयी ब्राह्मण, माधव अपनी पत्नी अम्बा के साथ रहता था। इस पवित्र दम्पत्ति के पवित्र घर में ही नरसिंह सरस्वती का जन्म हुआ था। अपने बाल्यकाल में ही जो एक शब्द बोलता

था, वह था ‘ॐ’। अपने उपनयन के दिन ही उसने जिस प्रकार वेद के अंशों का पाठ किया उसे देखकर लोग आश्चर्यचकित रह गये। तत्पश्चात् उन्होंने अपने माता-पिता से घर छोड़ कर जाने की आज्ञा मांगी और अपने अन्दर की आध्यात्मिक ज्योति को और भी अधिक जाज्वल्यमान कर पाने का आशीर्वाद मांगा। चूँकि नरसिंह के माता-पिता उसके विलगाव के विचार से अत्यन्त दु:खी थे, इसलिए उनके निवेदन पर उन्होंने बीस वर्षों के बाद लौट कर आने का वचन दिया। आश्वस्त होकर माता-पिता ने उन्हें आशीर्वाद दिया और वे चले गये।

नरसिंह काशी गये और वहाँ तपस्या करने लगे। अनेक वर्षों बाद श्री कृष्ण सरस्वती नामक एक संन्यासी ने उन्हें संन्यास की दीक्षा दी। वे अनुकरणीय संन्यासी थे। वे शंकर के समान सदा भ्रमणशील रहते और लोगों को उन अनुष्ठानों का वास्तविक अर्थ और महत्त्व बताते जाते जो वे लोग यन्त्रवत् किया करते थे। उन्होंने भस्म और रुद्राक्ष की परम्परा को पुनर्जीवित किया। उनके शिष्यों ने उनसे आशीर्वाद प्राप्त कर पूरे देश में आध्यात्मिक तथ्यों पर प्रवचन और व्याख्यान दिये जिससे आम लोगों के अन्दर अध्यात्म के प्रति उत्कण्ठा जाग्रत हुई।

श्रीपाद श्रीवल्लभ का यति मार्ग धीरे-धीरे गुरु मार्ग में रूपान्तरित हो गया। आम लोगों की चेतना के मार्ग-दर्शन की आवश्यकता हुई और तब गुरु का महत्त्व बढ़ गया। साथ ही विश्व गुरु दत्तात्रेय की उपासना भी विकसित और प्रचलित होने लगी। आम लोगों के बीच दत्तात्रेय की रचनाओं की व्याख्या की गयी। श्री नरसिंह सरस्वती ने इस विचारधारा का प्रचार किया कि ‘बिना साधना के मोक्ष नहीं और बिना गुरु के साधना नहीं।’

उनकी यौगिक शक्ति ने अनेक लोगों का उपचार किया, उनके कष्टों का शमन किया। फिर भी श्री नरसिंह सरस्वती अपने अनुयायियों से बार-बार यह कहते कि कष्टों से मुक्ति पाना ही लक्ष्य नहीं। सभी कार्य चित्त शुद्धि के लिए होने चाहिए। अशान्ति और उथल-पुथल के उस काल में भी अनेक मुसलमान राजा उनका आदर करते थे। उस समय लोग प्रचलित रूढ़िवादी धारणाओं को त्याग कर स्पष्ट आध्यात्मिक विचारों के साथ मिलते थे।

अनेक लोगों का विश्वास है कि दत्तात्रेय की चेतना इन दोनों योगियों के माध्यम से प्रवाहित हुई थी तथा जनार्दन स्वामी से ही उनकी परम्परा प्रारम्भ हुई।

जनार्दन स्वामी, 1504

जनार्दन स्वामी का जन्म महाराष्ट्र के चलिया गाँव में सन् 1504 ई० में हुआ था। वे अश्वलायन गोत्र के देशस्थ ब्राह्मण थे। उनकी युवावस्था घोर अनैतिक आचरणों से परिपूर्ण थी। किन्तु उम्र बढ़ने पर दत्तात्रेय की कथाएँ उन्हें प्रेरित करने लगीं। जब उनकी नियुक्ति दौलताबाद के नवाब के मन्त्री के रूप में हुई तब भी वे प्रात: में गहन तपस्या करने के बाद अपराह्न में अपने काम पर जाते थे। जल्दी ही उन्हें दत्तात्रेय के दर्शन हुए, जिसके बाद उनका जीवन रूपान्तरित हो गया।

जनार्दन स्वामी तथा उनके अनेक अनुयायियों ने जीवन के दोनों पक्षों-सांसारिक प्रपंचिका एवं आध्यात्मिक परमार्थिका का निर्वाह किया था। जनार्दन स्वामी के लिए ऐसी स्थिति कभी नहीं आई जब उनकी चेतना गुरुमय नहीं रही हो। वे द्वित्व से परे थे जहाँ भौतिकता और आध्यात्मिकता अलग-अलग स्तरों पर होती है। उनके लिए गृहस्थाश्रम संन्यास-आश्रम के समान ही अध्यात्मपूर्ण था, क्योंकि दोनों का एक ही लक्ष्य था–अविद्या से मुक्ति। इस विचार ने दत्तात्रेय के दर्शन को एक नया आयाम दिया। उन्होंने जीवन के किसी भी पक्ष को अस्वीकार नहीं किया। सभी स्थितियाँ ईश्वर प्रदत्त थीं, अत: उन्हें उसी रूप में स्वीकार किया। ईश्वर-प्रदत्त जीवन को अस्वीकार करना ईश्वर को अस्वीकार करने के समान है। यदि प्रत्येक वस्तु में दत्ता चेतना व्याप्त है तो प्रत्येक वस्तु पवित्र है।

दत्ता परम्परा के यति और संन्यासियों ने संन्यास धारणा वाले अपने दृष्टिकोण को व्यापक बनाते हुए गृहस्थाश्रम को भी अपनी परम्परा में समेट लिया। चेतना की स्थिति महत्त्वपूर्ण है, वह कहाँ कैसे प्रकट होती है, इसका महत्त्व नहीं।

एकनाथ, 1533–1599

सन् 1533 ई० तक हिन्दुत्व के आध्यात्मिक पक्ष का ह्रास हो चुका था, इसके दो मुख्य कारण थे–ऊँची जाति के लोगों में बौद्धिकता का अहंकार और बार-बार होने वाले विदेशी आक्रमणों से हुआ नैतिक पतन। तथाकथित विद्वान् यन्त्रवत् शास्त्रों का उल्लेख किया करते थे, किन्तु उन शास्त्रों में छिपे सत्य का अनुसरण कभी नहीं करते। अपने ज्ञान से उन्होंने धन और शक्ति अर्जित की, किन्तु वह ज्ञान उनके हृदय या मन तक नहीं पहुँच सका। ऐसे ही समय में पैथन के एक दंपत्ति, सूर्यनारायण और रुक्मिणी के घर एकनाथ का जन्म हुआ।

बाल्यावस्था में ही उनके माता-पिता का निधन हो गया। उनके पितामह, चक्रपाणि और प्रपितामह, भानुदास ने उनका पालन-पोषण किया। वे दोनों पण्ढरपुर के पाण्डुरंग के भक्त थे।

छ: वर्ष की उम्र में जब उनका यज्ञोपवीत संस्कार किया गया तो वे सत्य प्राप्त करने की गहन इच्छा से ओतप्रोत हो उठे थे और तभी उन्हें अपने अन्त:करण से आदेश मिला कि वे दौलताबाद जायें, क्योंकि वहाँ उनके गुरु उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे। तीन दिनों तक चलने के बाद वे अपने लक्ष्य पर पहुँचे। उन्हें जनार्दन स्वामी के पास ले जाया गया। बालक के अन्दर मोक्ष प्राप्ति की महती इच्छा देखकर वे विभोर हो उठे और तत्काल उन्होंने एकनाथ को अपना शिष्य बना लिया।

एकनाथ भावुक प्रवृत्ति के थे, इसीलिए भक्ति उनका मार्ग बन गयी। बाद में वे गाया करते थे, 'मैंने अपने पवित्र मन में, दीप जलाया धर्म का, श्रद्धा-सुमन हैं समर्पित मेरे पंच-प्राणों के।' उनकी भक्ति ने उनके अन्दर के सारे अहं तत्त्वों को जला कर भस्म कर डाला। उन्हें दो बार दत्तात्रेय के दर्शन हुए–एक बार व्याध के रूप में और एक बार पठान के रूप में। दोनों बार अज्ञान के कारण उन रूपों को उन्होंने अस्वीकार कर दिया। समय के साथ वे पूरी तरह पवित्र हो गये। अच्छे-बुरे, पवित्र-अपवित्र सम्बन्धी पूर्वधारणाएँ धुल गयीं। जब 'आदि गुरु' चाण्डाल के रूप में उपस्थित हुए तो एकनाथ ने स्वयं को एक साधन के रूप में समर्पित कर दिया तथा अपने गुरु के मार्गदर्शन में उन्होंने उच्चतर चेतना का आशीर्वाद प्राप्त किया।

तत्पश्चात् उन्होंने सुलत्भांजना पर्वत पर तपस्या की और यहीं पर ध्यान में उन्हें श्रीकृष्ण के दर्शन हुए। गुरु जनार्दन के परामर्श पर एकनाथ ने गिरिजा बाई से विवाह किया और गृहस्थ के रूप में आदर्श जीवन व्यतीत किया। उनकी जीवन शैली से प्रेरित होकर उन आम लोगों के बीच भक्ति की धारा फूट पड़ी जो यह समझते थे कि आध्यात्मिक जीवन केवल उन लोगों के लिए है जो सांसारिकता का त्याग कर जंगलों में चले गये।

एकनाथ की भक्ति ने दत्ता के उपासकों और वारकरियों को आपस में एक कर दिया। कवि होने के कारण उनकी भक्ति गीतों में फूट पड़ती और हजारों लोग उस भक्ति धारा में प्रवाहित हो जाते। उनके अभंगों ने आम लोगों के हृदयों को छुआ था, आँखों में अश्रुधार, हाथों में झाल-मंजीरें, करताल, ढोल लेकर वे दिन-रात लगातार गाते और नाचते। इस प्रकार सामूहिक जन

चेतना का उत्थान हुआ। एकनाथ ने 'ज्ञानेश्वरी' का संपादन किया तथा भावार्थ रामायण एवं रुक्मिणी स्वयंवर की रचना की। उन्होंने सन् 1599 ई० में शरीर त्याग किया। उनके पौत्र मुक्तेश्वर जन्म से ही गूंगे थे, किन्तु एकनाथ की अनुकंपा से बहुत बड़े कवि बन गये।

दासोपंत

दिगंबर पंत और उनकी पत्नी पार्वतीबाई, अत्यन्त धार्मिक प्रवृत्ति के थे। आँध्रप्रदेश के नारायण पेट्ट में इनके घर दासोपंत का जन्म हुआ। वे चतुर बालक थे। युवावस्था में उनका विवाह किया गया। वे एकनाथ, जनार्दन स्वामी और सरस्वती गंगाधर के समकालीन थे और उन्होंने 'गुरु चरित्र' की रचना की थी।

यद्यपि वे सांसारिक जीवन में प्रसन्न थे, किन्तु उस समय के भक्ति आंदोलन ने उनके अन्दर सत्य को प्राप्त करने की इच्छा जाग्रत कर दी थी। सोलह वर्ष की आयु में वे सहयाद्रि पर्वत पर चले गये और पंद्रह वर्षों तक घोर तपस्या में लीन रहे। एक दिन गहरे ध्यान में उन्हें दत्तात्रेय के दर्शन हुए तथा उन्हें गोदावरी नदी के तट पर जाने का आदेश प्राप्त हुआ। आदेश था कि 'बालू के अन्दर एक जोड़ी पादुका दबी पड़ी है, उनका उद्धार करो।'

दासोपंत नवजीवन पाकर गोदावरी तट पर पहुँचे। इंगित स्थान पर उन्हें पादुकाएँ मिल गयीं। पादुकाओं को घर ले जाकर उन्होंने उन्हें एक वेदी पर रख दिया और उनकी पूजा करने लगे। अपने इष्टदेव दत्तात्रेय की कृपा से वे नाथ परम्परा में दीक्षित हुए। दासोपंत ने पचास से भी अधिक पुस्तकें लिखीं–कपड़े पर लिखी गयी 'हितार्णव', 'दत्तामहात्म्य' और 'अवधूत गीता' की व्याख्या उन्हीं के अन्तर्गत हैं।

निरंजन रघुनाथ, 1782–1855

एक देशस्थ ब्राह्मण श्रीधरपंत की पत्नी लक्ष्मी ने एक बालक को जन्म दिया। उसका नाम अवधूत रखा गया। यह नाम उसके लिए भविष्य सूचक सिद्ध हुआ, क्योंकि बड़े होने पर वह ठाकुरदास कीर्तनकार के भक्तिपूर्ण कीर्तन सुना करता। अवधूत का हृदय मुमुक्षत्व की भावना से ओत-प्रोत था। वह गुरु की खोज में निकल पड़ा। अपने वस्त्रों का त्याग कर वह देहू नामक स्थान पर ध्यान में बैठ गया। वह अपने इष्ट देवता के साथ ऐसा एकाकार हुआ कि उसके व्यवहार में ही परिवर्तन आ गया। एक दिन जब वह स्नान करने गया तो

उसे वहाँ एक कौपीन और एक कटिसूत्र प्राप्त हुआ। उसने उन्हें प्रसाद स्वरूप ग्रहण किया और यह शपथ ली कि यदि एक वर्ष सात दिनों के अन्दर उसे दत्तात्रेय के दर्शन नहीं हुए तो वह शरीर त्याग देगा।

यात्राओं के क्रम में उसे सम्मान भी मिला और उपहास भी। लोग उसे पागल समझते, क्योंकि उसका व्यवहार पारम्परिक या रूढ़िगत नहीं होता था। लोग उसे बिल्कुल समझ नहीं पाते थे। उसका मन अपने इष्ट के सगुण आकार के प्रति इतना एकाग्र हो गया था कि वह स्वयं दत्तात्रेय के समान व्यवहार करने लगा। चन्द्रदास द्वारा अवधूत गीता की व्याख्या सुनकर वह और अधिक प्रोत्साहित हुआ तथा उसका संकल्प इतना दृढ़ हो गया कि उसे दत्तात्रेय ने स्वप्न में तथा ध्यान में दर्शन दिये। उसके बाद वह नासिक गया जहाँ रघुनाथ ने उसे दीक्षा दी और निरंजन नाम दिया।

एक बार ध्यान के समय उन्हें अनुभूति हुई कि आठ वेश्याएँ अपना-अपना शरीर उनके शरीर के साथ घिस रही हैं। उनके गुरु ने उन्हें समझाया कि ये अष्टसिद्धियाँ थीं जो योग की साधना से प्राप्त होती हैं। किन्तु उनकी उपलब्धि साधक को भ्रमित कर अपनी सीमा में ही बाँध कर उनकी प्रगति को बाधित करने का प्रयास करती है। उन्हें ध्यान में अपने गुरु रघुनाथ कमल पर बैठे हुए और ब्राह्मण-रूप में दत्तात्रेय भी दिखे। निरंजन सबसे पहले एक गुरु-भक्त थे। वे तब गिरनार पर्वत की ओर गये, वहाँ भी उन्हें ध्यान में दत्तात्रेय ने दर्शन दिये और साथ ही उन्होंने निरंजन को एक वस्त्र और पादुकाएँ दी। इस अन्तिम दीक्षा के पश्चात् निरंजन अपने शरीर की सुध खो बैठे। दत्तात्रेय की चेतना ने उन्हें पूरी तरह आविष्ट कर दिया था, जिसके परिणामस्वरूप उनका व्यवहार एक विक्षिप्त व्यक्ति के समान होने लगा था।

उन्होंने अपने सम्पूर्ण जीवनकाल में ज्ञानेश्वरी, अमृतानुभव, गीता पर शंकर भाष्य, माण्डुक्य तथा केन उपनिषदों की व्याख्याएँ लिखीं। उन्होंने अनेक अभंग गाये। भगवती बाई से विवाह के पश्चात् वे अनेक वर्षों तक गृहस्थाश्रम में रहे। बाद में उन्होंने संन्यास ग्रहण कर लिया तथा अन्तकाल आने पर जल समाधि ली।

नारायण महाराज, 1807–1867

तात्या पुराणी झाँसी के निकट जालवन के महाराज के दरबार में पुराणों का पाठ करने का काम करते थे। बार-बार ईश्वर का नाम दुहराने से उनका चित्त शुद्ध

हो गया था। जब उसे पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई तो उसने उसका नाम नारायण रखा, जो जन्म से ही आध्यात्मिक प्रवृत्ति का था। उसमें ईश्वर के प्रति अपार उत्कण्ठा थी। विवाह के अगले दिन ही वह वृन्दावन, मथुरा भाग गया और गोवर्धन बाबा के पास उसने हठयोग में पूर्णता प्राप्त कर ली। अपने गुरु की सलाह पर वह घर लौट गया। पत्नी की मृत्यु के बाद वह गिरनार पर्वत पर गया और दत्तात्रेय के दर्शन प्राप्त करने के लिए तपस्या करने लगा। जब वह दर्शन की आशा खो चुका था तब दत्तात्रेय एक फकीर के रूप में उसके सम्मुख आये और उसे निरंजन योगी के पास ले गये ताकि उसका आगे का पथ प्रशस्त हो सके।

नारायण महाराज एक उच्च कोटि के रहस्यानुभवी थे। उन्होंने अनेक चमत्कार किये। पूरे देश में घूम-घूम कर उन्होंने कर्मयोग के महत्त्व को समझाया और उस पर बल दिया। नारायण महाराज ने सामान्य जन का हृदय जीत लिया था जिन्हें वे अपनी दैनिकचर्या को आध्यात्मिक बनाने की सलाह देते थे। किसी भी जाति, पंथ या सम्प्रदाय के जो लोग उनके पास जाते थे, उन्हें वे दीक्षा देते थे। उनके शिष्यों में कल्याण के सखाराम बाबा और रत्नगिरि के नारायण बाबा थे। उन्होंने अपनी जो पादुकाएँ अपने एक शिष्य बालाबा को दी थीं, वे अब भी बनारस में सुरक्षित हैं। उन्होंने सप्त सागर और करुणा सागर जैसे काव्यों की रचना की।

दत्तानाथ

दत्तानाथ एक अवधूत थे। उनके माता-पिता अनेक वर्षों तक नि:सन्तान रहे। उन्होंने शपथ ली थी कि यदि उनकी कोई सन्तान हुई तो उसे अनन्तनाथ को दे देंगे। सात वर्ष की अवस्था में उपनयन के बाद दत्ता अपने गुरु के आश्रम के लिए निकल पड़े। वहाँ उन्होंने योग, ज्योतिष शास्त्र तथा अनेक अन्य विज्ञानों का अध्ययन किया। उसके बाद गुरु के निर्देश पर घर लौट कर उन्होंने विवाह किया।

दत्तानाथ का व्यक्तित्व ऐसा प्रभावकारी एवं चमत्कारी था कि एक वीर मराठा योद्धा, महाद्जी शिंदे ने उनके लिए उज्जैन में एक मठ का निर्माण करवा दिया। वहाँ वे अनेक वर्षों तक रहे। वहाँ से वे प्राय: लोगों को ज्ञान प्रदान करने के लिए जाया करते थे। 120 वर्षों की दीर्घायु के बाद उज्जैन में उनका देहावसान हुआ। उनकी समाधि वहाँ अब भी सुरक्षित है। उनके प्रख्यात शिष्यों में शिवदत्त एवं आत्माराम शास्त्री हुए।

माणिक प्रभु, 1817–1865

मनोहर नायक हरकुदे और उनकी पत्नी बाया देवी ने गुरु चरित्र में विहित नियमों के अनुसार सोलह वर्षों तक उसका पारायण किया। अपने ध्यान में वे सदा दत्तात्रेय को एक शिशु के रूप में देखते। उन दोनों की सन्तान प्राप्ति की उत्कट इच्छा फलीभूत हुई और माणिक प्रभु का जन्म हुआ। बाल्यकाल में वे अत्यन्त विनोदी, और नटखट थे, अपने आस-पास के सभी लोगों का मन हर लेते थे। लादवन्ती गाँव एक दूसरा गोकुल बन गया। सीधे-सादे लोगों को उनमें कुछ विशेषता दृष्टिगोचर होती थी। इसीलिए वे अपनी समस्यायें लेकर उनके पास चले आते। जब उनकी समस्याओं का समाधान अत्यन्त सहजता से हो जाता तो माणिक प्रभु के प्रति उनका श्रद्धा-विश्वास और भी बढ़ जाता।

वे अनेक भाषाएँ जानते थे, जैसे, फारसी, उर्दू, मराठी, कन्नड़ एवं संस्कृत। ये सभी भाषाएँ उन्होंने स्वयं सीखी थीं। जैसे-जैसे उनकी उम्र बढ़ती गई, उनका व्यवहार अरूढ़िवादी होता गया। वे अपनी चप्पलें उतार कर मन्दिर की मूर्ति के सिर पर रख देते। पहले तो लोग थोड़ा परेशान हुए, किन्तु माणिक प्रभु की उदारता और श्रेष्ठता पर लोगों को पूरा भरोसा था। यह भारत की आध्यात्मिक मिट्टी की विशेषता है कि यहाँ चेतना का सम्मान किया जाता है, उसे ही महत्त्व दिया जाता है। मानव के आन्तरिक व्यक्तित्व के आधार पर ही उसके बाह्य व्यवहारों को आँका जाता है। आध्यात्मिक रूप से जाग्रत व्यक्ति को मन्दिर, मूर्ति, अनुष्ठान या धर्म की आवश्यकता नहीं होती है। वह स्वयं एक जीवन्त मन्दिर होता है, जिसमें सत्य प्रतिष्ठित होता है। वह उच्चतर चेतना का माध्यम होता है जो उस चेतना के संकेतों के द्वारा संचालित होता है।

एक बार एक ब्राह्मण परिवार को डकैतों ने मंदिरों में घेर रखा था। उन लोगों ने माणिक प्रभु को सहायता के लिए पुकारा। इस बीच डकैतों का सामना ऐसे योगी से हो गया जो बहुमूल्य परिधानों में सुसज्जित था। उसे देखते ही डकैत शीघ्रता से भाग खड़े हुए। माणिक प्रभु का पहनावा और रूप-रंग विचित्र होता था। अन्य संन्यासियों के विपरीत वे सदा मूल्यवान् वस्त्र धारण किये रहते और मधुकरी की भिक्षा माँगते। आध्यात्मिकता में हर तरह के विरोधाभास अन्तर्निहित होते हैं, किन्तु सत्य में कोई विरोधाभास नहीं होता। एक संन्यासी का बाह्य रूप-रंग या व्यवहार उसके शरीर या मन के

प्रारब्ध कर्म का परिणाम होता है। किन्तु उसकी चेतना चयनीयता और द्वित्व की भावना से मुक्त होती है।

माणिक प्रभु पूर्णतः विरक्त थे। उनकी आध्यात्मिक महत्ता ने हिन्दू, मुसलमान और सिक्ख, सब को आकृष्ट किया। लिंगायत सम्प्रदाय के संस्थापक एवं शिव-भक्त बासवेश्वर ने उन्हें आध्यात्मिकता का एक अद्भुत रत्न कहा था। माणिक प्रभु ने अनेक सिद्धों को आत्मज्ञान प्राप्त करने में मदद की-हंसराज स्वामी तथा सूरज सदानंद इसके दृष्टान्त हैं। उन्होंने एक पुस्तक लिखी कल्पतरु। अड़तालीस वर्ष की आयु में दत्तात्रेय जयंती के दिन माणिक नगर में समाधि ली।

अक्काल कोट के स्वामी

स्वामी समर्थ का जीवन अद्भुत था। संकुचित मन या दृष्टिकोण वाले अबाधित और मुक्त चेतना वालों के बाह्य पक्ष को देखकर उन्हें एक विशेष वर्ग में रख देते हैं। उनके पूर्ववर्ती जीवन के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं था। पूछे जाने पर वे भिन्न-भिन्न उत्तर देते। एक व्यक्ति को उन्होंने बताया कि उनका नाम नरसिंह बाण है और उनका जन्म 450 वर्ष पूर्व हुआ था। अन्य व्यक्ति को उन्होंने कहा कि वे हिमालय के कर्दलीवन के घुमक्कड़ साधु हैं। किसी अन्य के लिए वे मेहर, एक जातिच्युत थे। चौथे को उन्होंने बताया कि वे यजुर्वेद शाखा के ब्राह्मण हैं। शायद इसके द्वारा वे अपने भक्तों की सांसारिक तथ्यों से जुड़ी पूर्व-धारणाओं को उनके पीछे छिपी चेतना की तरफ ले जाना चाहते थे। या शायद वे बातें तथ्यतः सत्य भी रही हों, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति गुण और कर्मों के अनुरूप ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, सभी होता है। स्थान और समय उस चेतना की सीमा में नहीं बँधे होते जिसने अनन्त शाश्वत को परिवेक्षित कर रखा है। ऐसे संन्यासी असत्य नहीं बोलते। हम अपने संकुचित दृष्टिकोण के कारण उस सत्य को समझ नहीं पाते हैं जिसके सार्वभौमिक आयाम हैं।

बाद में स्वामी का व्यवहार विक्षिप्त व्यक्ति एवं शिशु जैसा हो गया था। उनकी चेतना शरीर तक सीमित नहीं रह गयी थी, इसलिए उन्हें अपने शरीर की सुध नहीं रहती थी। उनकी आध्यात्मिक शक्ति उनके पास आने वाले प्रत्येक व्यक्ति को छू जाती। इसलिए लोग स्वास्थ्य लाभ करने के लिए, अपने कष्टों से मुक्त होने के लिए या अपने ज्ञान की प्यास बुझाने के

लिए उनके पास जाया करते थे। अधिकतर लोग उनके पास इसलिए जाते थे कि वे गये बिना नहीं रह सकते थे, उनकी आकर्षण शक्ति ही ऐसी थी। अनेक लोग जो दत्तात्रेय से सम्बद्ध स्थानों, जैसे गिरनार, गंगापुर इत्यादि में रहते थे, उन्हें स्वप्न में दत्तात्रेय का आदेश मिला कि वे अक्कालकोट जायें। स्वामी ने कुछ भी नहीं लिखा। उन्होंने किसी को कुछ सिखाया भी नहीं। वे केवल अक्काल कोट में बैठे रहे, मात्र उनकी उपस्थिति से अनेक लोगों का रूपान्तरण हो गया। सन् 1878 ई० की 30 अप्रैल को उन्होंने शरीर त्याग दिया।

वासुदेव सरस्वती (तेम्बे महाराज), 1854–1914

वासुदेव का जन्म सावंतवाडी के निकट एक छोटे गाँव मानगाँव में हुआ था। उनके पिता का निधन उनके बाल्यकाल में ही हो गया था, इसलिए उनके पितामह ने उनका लालन-पालन किया। बड़े होने पर उनका विवाह नरसोवाबडी की अन्नपूर्णा से हुआ। स्वप्न में दत्तात्रेय ने उन्हें मन्त्र-जप की दीक्षा दी। उन्हें शीघ्र ही मन्त्र-सिद्धि प्राप्त हो गयी।

जब उनके एक पुत्र का निधन हो गया तो उन्होंने अपनी पत्नी को उच्चतम ज्ञान प्रदान किया। मानगाँव में दत्तात्रेय के मन्दिर की स्थापना का श्रेय उन्हीं को है। पत्नी के देहान्त के बाद उन्होंने संन्यास ले लिया और सम्पूर्ण देश का भ्रमण किया। भ्रमण के क्रम में उन्होंने लोगों को प्रेरणा दी, उनका मार्गदर्शन किया। वे दत्तात्रेय की एक मूर्ति की पूजा किया करते थे। उन्होंने दत्ता उपासना का विस्तृत विवरण लिखा। उन्होंने संस्कृत और मराठी में अनेक रचनाएँ कीं। उन्होंने दत्तात्रेय महात्म्य लिखा और गुरु चरित्र और गुरु संहिता का अनुवाद मराठी से संस्कृत में किया। उन्होंने दत्त पुराणम् भी लिखा। उन्होंने नर्मदा के पास गरूड़ेश्वर में सन् 1914 ई० में समाधि ली।

श्री रामकृष्ण परमहंस

गदाधर का जन्म बंगाल में सन् 1836 ई० में हुआ था। शारदा देवी से विवाह के पश्चात् भी गृहस्थाश्रम में वे संन्यासी की तरह ही रहे। दिव्य माँ के प्रति उनकी उत्कण्ठा बाल्यकाल से ही थी। उन्होंने अपनी विभिन्न प्रकार की साधनाओं में ईसाई, इस्लाम तथा अन्य सभी धर्मों के सिद्धान्तों को समन्वित कर दिया था।

उन्हें अद्वैत की दीक्षा एक नग्न, घुमक्कड़ साधु तोतापुरी से मिली थी और उन्होंने तन्त्र का अभ्यास एक भैरवी ब्राह्मणी के मार्गदर्शन में किया था।

यद्यपि वे निरक्षर थे, किन्तु अपने अनुभवों के द्वारा वेदान्त के सूक्ष्मातिसूक्ष्म पक्षों की भी व्याख्या कर देते थे। कभी बच्चों की तरह एकदम भोले-भाले बन जाते। कभी देवी माँ के प्रेम में मदहोश, माँ का नाम लेते ही चेतना के दूसरे आयाम में चले जाते। प्रत्येक स्थिति की नैसर्गिकता को ग्रहण करते, वे सचमुच एक परमहंस थे। उनमें पराभक्ति तथा विवेक एवं वैराग्यपूर्ण ज्ञान का सुन्दर सम्मिश्रण था।

उनकी आध्यात्मिक शक्ति और सरलता ने सम्पूर्ण देश के लोगों को उनका भक्त बना दिया। किन्तु उनके मुख्य शिष्य स्वामी विवेकानन्द पर यह उत्तरदायित्व आ गया कि वे पूरे विश्व को अपने गुरु का सन्देश दें, सैंकड़ों-हजारों युवक-युवतियों को कर्मयोग की प्रेरणा दें और समाज की चेतना का उत्थान करें। गुरु की स्मृति में रामकृष्ण मिशन स्वामी विवेकानन्द द्वारा विश्व को दिया गया एक श्रेष्ठ उपहार है।

शिरडी के साईं बाबा

शिरडी के साईं बाबा का वर्णन शब्दों में करना सम्भव नहीं, वे वर्णनातीत हैं। उनका कुल-गोत्र आदि एक रहस्य बनकर रह गया है। कोई कहता है कि उनके माता-पिता हिन्दू थे, कोई उन्हें मुसलमान बताता है। जब उनसे पूछा गया तो उन्होंने कहा, 'यह विश्व मेरा घर है। ब्रह्मा मेरे पिता हैं, माया मेरी माता।' हिन्दू-मुसलमान, सभी धर्मों के लोग उनके पास खिंचे चले आते थे। साईं में एक सूफी की विशेषताएँ थीं। वे एक आदर्श संन्यासी और अवधूत थे। वे एक बौद्ध भिक्षु के समान थे और उनकी करुणा ईसा के समान थी। उनके अन्दर सभी आस्थाओं-मतों का सुन्दर समन्वय था। उन्होंने कुछ लिखा नहीं। उनकी करुणा ने अनेकानेक चमत्कार किये।

उन्हें साईं माँ भी कहा जाता, क्योंकि वे सब की देख-भाल करते, उनका ध्यान रखते। उनके पास सभी आते–अपराधी, रोगी, शोकाकुल और सब में परिवर्तन हो जाता। सभी उनकी सन्तान थे। उनके कार्य-कलाप दुर्बोध्य और रहस्यात्मक होते थे। यदि दत्तात्रेय को पृथ्वी पर अवतरित होना होता तो वे अवश्य साईं बाबा के रूप में आते। सन् 1918 ई० में उन्होंने समाधि में उस दिन प्रवेश किया जिस दिन बुद्ध जयन्ती, दशहरा और मुहर्रम संयोगवश

एक साथ आ मिले थे। शिरडी में मन्दिर-मस्जिद दोनों ही स्थापित हैं। हजारों हिन्दू-मुसलमान एक साथ उनकी समाधि पर जाते हैं। साईं सब के थे। उनका सन्देश था कि प्रेम धर्म-सम्प्रदाय जैसे बन्धनों को पार कर जाता है।

नूरी बाबा, 1869–1923

नूरी बाबा का जन्म अहमदाबाद में सन् 1869 ई० में हुआ था। उनके पूर्ववर्ती फकीर ताबर बाबा और रोफन बाबा थे। बाल्यावस्था में ही वे कानपुर के फकीर परी इब्राहिम उलाई से मिले और उनकी दीप्ति ने नूरी बाबा का रूपान्तरण कर दिया। किन्तु मेरहरा के रहने वाले फकीर अब्बुल हुसैन नूरी ने उन्हें नूरी सम्प्रदाय में दीक्षित किया। नूरी बाबा हिन्दू तथा इस्लाम धर्मों के तथ्यों की व्याख्या समान रूप से करते थे, इसलिए दोनों धर्मों के लोग उनके पास जाया करते थे। उनका लक्ष्य था विभिन्न धर्मों के समन्वय का प्रयास। उनसे सम्बन्धित एक मनोरंजक घटना प्रचलित है। जब उनकी छवि उतारी गयी तो उसमें उनका चेहरा दत्तात्रेय के समान तीन मुख वाला प्रतीत हुआ। सन् 1923 ई० में उनकी मृत्यु हुई। उनकी दरगाह हिन्दू-मुसलमान, दोनों के लिए तीर्थ के समान है।

श्री रमण महर्षि 1879–1950

श्री रमण महर्षि ज्ञानी और भक्त के उत्कृष्ट उदाहरण थे। सोलह वर्ष की उम्र में ही उन्हें मृत्यु की प्रक्रिया की अनुभूति हुई जिसने उनके अन्दर एक गूढ़ आयाम को जाग्रत कर दिया, और तब उन्होंने अपना घर छोड़ दिया। वे तमिलनाडु के थे। वहीं चिदम्बरम के निकट अरुणाचल पर्वत है, जिसे तिरुवनमलाई कहते हैं, वे वहीं चले गये। वहाँ उन्होंने कठिन तपस्या की, कई महीनों तक उन्हें इस संसार की और अपने शरीर की कोई सुध नहीं रही। उनके जीवन का अधिकांश समय मौन में ही बीता। उनका कहना था कि शब्द व्यर्थ हैं। आध्यात्मिक तथ्यों पर प्रश्न पूछे जाने पर वे कहते, 'खोजो और देखो कि तुम कौन हो, तुम सब कुछ जान जाओगे।' यही उनका एकमात्र उपदेश था। उनके कोई औपचारिक गुरु नहीं थे। अरुणाचल पर्वत ही उनका गुरु था, उनका इष्ट देवता था। वे स्वयं को गुरु नहीं मानते थे। उनकी आध्यात्मिक महिमा ऐसी थी कि वे अरुणाचल पर बैठे रहे और सारा विश्व उनके पास आ गया।

तीन संन्यासी

गोरखनाथ

नाथ योगी शैव सम्प्रदाय के थे। इस पंथ का उदय उत्तर भारत में ग्यारहवीं शताब्दी में हुआ। प्रमाणों के अनुसार ग्यारहवीं सदी में गोरखनाथ के जीवन का विवरण मिलता है। उदाहरणार्थ, सन् 1290 ई॰ में रचित ज्ञानेश्वरी, जिसमें गीता की व्याख्या की गयी है, उसकी भूमिका में ग्यारहवीं सदी में गोरखनाथ के जीवन का उल्लेख मिलता है।

गोरखनाथ जब अपने गुरु मत्स्येन्द्रनाथ से दीक्षा लेने गये तो उस समय वे नेपाल में शैव सम्प्रदाय की शिक्षा दिया करते थे। नेपाल में ऐसी जनश्रुतियाँ प्रचलित हैं जिनके अनुसार अवलोकितेश्वर ही शैव मत्स्येन्द्रनाथ के रूप में नेपाल गये, आज भी वे ही नेपाल के इष्ट देवता हैं। ऐसा माना जाता है कि गोरखनाथ हिन्दी के प्रथम लेखक थे। उनके भक्तों में हिन्दू और मुसलमान, दोनों ही धर्म के लोग थे। जालंधर के राजा जालंधर नाथ और उज्जैन के राजा भर्तृहरि उनके शिष्य थे। ये दोनों राजा अपने-अपने क्षेत्रों में प्रख्यात थे।

गोरखनाथी शिव की भाँति कानों में बालियाँ पहनते हैं और स्वयं को शिवगोत्र कहते हैं। वे एक ऊनी धागे में एक छल्ला और एक सीटी पहनते हैं। उस छल्ले को दर्शन और उसे पहनने वाले को दर्शनी कहा जाता है।

नाथ योगी शिव और शक्ति की पूजा परमात्मा के दो पक्षों के रूप में करते थे, जो न तो द्वैत थे और न अद्वैत। शिव शरीर के अन्दर विशुद्ध चेतना हैं और शक्ति नाद हैं। विरक्ति के शिक्षण के क्रम में वे बार-बार कहा करते, 'नदी के किनारे का वृक्ष और स्त्री की निकटता में रहने वाला पुरुष अधिक दिनों तक स्थिर नहीं रह सकता।' उनकी प्रमुख रचनाएँ योग मार्तण्ड, विवेक मार्तण्ड, योग सिद्धान्त पद्धति इत्यादि हैं। गोरखनाथ की गूढ़ार्थक रचनाएँ गोरखबोध में हैं जो उनके और उनके गुरु के बीच की वार्ता के रूप में हैं। कुछ शताब्दियों के बाद गुरु नानक उन रचनाओं से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने उनकी शैली को अपना लिया।

गोरखनाथ सामान्य जन के बीच अत्यन्त लोकप्रिय थे, क्योंकि वे उनसे उनकी भाषा, हिन्दी में बातें करते थे। उन्होंने सम्पूर्ण भारत का भ्रमण किया, इसी क्रम में उन्होंने जगह-जगह मन्दिर बनवाये, मठों की स्थापना की और शैव सम्प्रदाय को पुनर्जीवित किया। उनके शिष्य अब भी उत्तर में नेपाल से

लेकर पंजाब, सिंध, आसाम, बंगाल, उत्तर प्रदेश तथा दक्षिण में तंजौर तक मिल जाते हैं।

सदाशिव ब्रह्मेन्द्र सरस्वती

सन् 1684–1712 ई० के बीच तंजौर के मराठा राजा शाहजी ने छियालीस विद्वानों को शुप्रारपुरम् नामक गाँव दे दिया था। उन विद्वानों में से एक थे मोक्षम् सोमसुंदरम् अवधारी।

परमशिवेन्द्र सरस्वती ने औपचारिक रूप से उन्हें अवधूत परम्परा की दीक्षा दी और उनका नाम सदाशिवेन्द्र सरस्वती रखा। आध्यात्मिक पथ पर उनका विकास अत्यन्त त्वरित गति से हुआ। उनको शास्त्रों का अद्भुत ज्ञान था। आश्रम के अतिथियों के साथ बौद्धिक वाद-विवाद करने के कारण उन्हें गुरु से फटकार मिली। उसके बाद उस योगी ने बोलना छोड़ दिया, आजीवन मौन रहे, मुनि बन गये।

शीघ्र ही वे अपने शरीर के प्रति पूर्णत: उदासीन हो गये। अपने आस-पास की वस्तुओं को पूरी तरह विस्मृत कर वे प्राय: कई दिनों तक की लम्बी समाधि में लीन हो जाते। वे अपने पीछे उपनिषदों पर अनेक रचनाएँ तथा ब्रह्मसूत्र आत्मानुसन्धान आदि छोड़ गये।

उन्होंने नादविद्या की साधना की और अनेक गीतों की रचना भी की। उनकी रचनाएँ एवं गीत अद्वैत भावना से ओतप्रोत हैं। उन्होंने ज्येष्ठ शुद्ध दशमी को (लगभग जून महीने के अन्त में) समाधि ली।

कारक्कल अम्मैयार

पुनीतावती का जन्म चोल राज्यकाल में तमिलनाडु के कारक्कल में हुआ था। वे एक धनी व्यापारी दानदत्त की पुत्री थीं तथा उनका विवाह एक व्यापारी परमदत्त से हुआ था। परमदत्त जल्दी ही समझ गया कि उसकी पत्नी सामान्य स्त्री नहीं; बल्कि विलक्षण आध्यात्मिक व्यक्तित्व की धनी हैं। उसने पारिवारिक जीवन त्याग दिया और पत्नी के सम्मुख वैसे ही साष्टाँग प्रणत हो गया जैसे किसी संत के सम्मुख किया जाता है।

पुनीतावती समझ गयीं कि उनका सांसारिक जीवन समाप्त हो चुका है। उसके बाद वे कारक्कल अम्मैयार के नाम से प्रचलित हो गयीं। वे अपने शरीर की सुध-बुध खो बैठतीं। उन्हें ध्यान में शिव ने दर्शन देकर तिरूवलंगडु जाने

का निर्देश दिया। वहाँ जाने पर उन्हें दिन-प्रति-दिन जलती चिताओं, मँडराते गिद्धों, हूँकते हुए सियारों और खोपड़ियों के बीच शिव के ताण्डव नृत्य का प्रत्यक्ष दर्शन होने लगा। वे अवधूत के समान रहती थीं, उनकी चेतना के व्यापक आयाम में भयानक और सुन्दर, दोनों समान रूप से समा गये थे। शिव के दर्शन होने पर उन्हें ब्रह्मा, विष्णु, और शिव त्रिमूर्ति के रूप में दिखते। वे स्वयं को अशरीरी कहतीं। श्मशान उनका मन्दिर था। उन्होंने अपनी अनेक कविताओं में उस स्थान की वीभत्सता और भयंकरता का वर्णन किया है जिनसे वे अप्रभावित रह कर अपने इष्ट का मनमोहक नृत्य निहारती रहतीं जो अपने हाथों में कालाग्नि लिये रहते। उनके कोई शिष्य नहीं थे।

तीर्थ क्षेत्र

चूँकि दत्तात्रेय एक अवधूत थे और उन्होंने सम्पूर्ण देश का भ्रमण किया था, इसलिए कुछ ऐसे स्थान हैं जो उनके कुछ विशेष क्रिया-कलापों के कारण विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण और पूज्य हो गये। सहयाद्रि पर्वत दत्तात्रेय का निवास स्थान होने के कारण पूज्य है। उनका जन्म-स्थान और सोने का स्थान होने के कारण महुरगढ़ की पूजा होती है। यह स्थान अत्रि और अनसूया के लिए भी पावन है। महाराष्ट्र के तीन प्रख्यात शक्ति पीठों में से एक यहीं पर है, अन्य दो में से एक कोल्हापुर में और एक तुलजापुर में है। ऐसा कहा जाता है कि यहीं पर दत्तात्रेय ने रेणुका देवी की अंत्येष्टि के बाद परशुराम को आध्यात्मिक ज्ञान दिया था। रेणुका देवी की पूजा एलम्मा के रूप में होती है।

गिरनार और गंगापुर दत्तात्रेय के ध्यान स्थल होने के कारण प्रख्यात हैं। गंगापुर भीमा और अमर्ग नदियों के संगम पर स्थित है। वहाँ पर भस्म का एक बड़ा पहाड़ है। जब भक्तगण उस क्षेत्र का दर्शन करने जाते हैं तो वहाँ से भस्म का प्रसाद ले जाते हैं। उस पहाड़ का आकार ज्यों का त्यों बना हुआ है। गिरनार एक प्राचीन स्थान है जहाँ दत्तात्रेय की पादुकाओं की पूजा होती है। वहाँ पर अनेक साधुओं को दत्तात्रेय के साक्षात् दर्शन हुए हैं। यह जैनों, वैष्णवों, देवी भक्तों, मुसलमानों और बौद्ध लोगों का तीर्थ स्थल है।

हरिद्वार की गंगा की पूजा इसलिए होती है कि उन्होंने वहाँ प्रातः स्नान किया था। कुरुक्षेत्र में उन्होंने आचमन किया। दत्तापापेश्वर में उन्होंने अपने शरीर पर भस्म मला था। कर्नाटक में उन्होंने प्रातः संध्या की थी। कोल्हापुर में

वे भिक्षा के लिए गये थे। पण्ढरपुर में उन्होंने तिलक लगाया था। पांचालेश्वर में उन्होंने भोजन किया। तुंग में उन्होंने जल पीया। नर्मदा के तट पर नर्मदेश्वर में स्वामी वासुदेवानंद सरस्वती ने दत्तात्रेय की उपासना की, इसलिए यह स्थान महत्त्वपूर्ण हो गया।

देश के दक्षिणी छोर पर एक स्थान है–सुचिंद्रम् जो अत्रि और अनसूया के लिए अत्यन्त पावन है। यहीं पर उन्हें शिव, विष्णु और ब्रह्म की शक्तियों की अनुभूति हुई थी और उन्होंने दत्तात्रेय के रूप में जन्म लेने का वचन दिया था। उज्जैन में दत्तात्रेय का अखाड़ा स्थित है। नरसोबा ही वाडी, गंगापुर और कुरवापुर दत्तात्रेय के तीर्थ क्षेत्र हैं, क्योंकि श्रीपाद श्रीवल्लभ और श्री नरसिंह सरस्वती ने इन्हीं स्थानों पर तपस्या की थी। अक्कालकोट के स्वामी के कारण वह स्थान पवित्र हो गया, क्योंकि ऐसा माना जाता है कि स्वामी के अन्दर स्वयं दत्तात्रेय की शक्ति उद्भूत हो गयी थी।

दत्तात्रेय की मूर्तियाँ

दत्तात्रेय की तीन प्रकार की मूर्तियाँ हैं–

1. ब्रह्मा, विष्णु और शिव दत्तात्रेय के रूप में एक साथ खड़े हैं,
2. विष्णु दत्तात्रेय के रूप में पद्मासन में बैठे हुए हैं,
3. दत्तात्रेय के तीन सिर और चार, छः या आठ हाथ हैं।

सबसे पुरानी मूर्ति पेशावर के संग्रहालय में है। यह स्वात और काबुल नदियों के पास बालाहिसार नामक जगह पर, जो पेशावर में है, मिली थी। अन्य मूर्तियाँ उड़ीसा, सौराष्ट्र, महाबलीपुरम् के मन्दिरों में, एलोरा के कैलास में, गुजरात के माटीकोरल में, एलिफैन्टा की गुफाओं में और त्र्यम्बकेश्वर में नील पर्वत के ऊपर हैं।

दत्त उपासना

श्री दत्तात्रेय की औपचारिक उपासना और साधना श्री नरसिंह सरस्वती ने प्रारम्भ की थी। यह साधना वृहस्पतिवार के किसी शुभ मुहूर्त में आरम्भ करनी चाहिए। श्री दत्तात्रेय या अपने गुरु की तस्वीर के सामने एक दीप जलाकर वहाँ पुष्प अर्पित करें। तत्पश्चात् *'गुरुब्रह्मा गुरुर्विष्णु गुरुर्देवो महेश्वरः, गुरु*

साक्षात् परब्रह्म तस्मै श्री गुरुवे नम:' मन्त्र के साथ ब्रह्मा, विष्णु और शिव की शक्तियों का आवाहन करें। नैवेद्य के रूप में मिष्ठान्न अर्पित करें तथा एक संकल्प करें।

पहले दिन गुरु चरित्र के सात अध्याय पढ़े, दूसरे-तीसरे दिन चार-चार अध्याय तथा उसके बाद प्रत्येक दिन दो-दो अध्याय पढ़ें। जब पारायण हो जाये तो तीन पवित्र ब्राह्मणों या एक साधु या एक गरीब व्यक्ति में श्री गुरु दत्तात्रेय की कल्पना करते हुए उन्हें भोजन करायें।

जैसे-जैसे साधना विकसित होती जाती है, साधक की जागरूकता बढ़ती जाती है और साधक की चेतना दत्ता-चेतना से ओत-प्रोत हो जाती है। इस साधना से सम्बन्धित विस्तृत विवरण गुरु के चरणों में ही प्राप्त हो सकते हैं। यह किसी पुस्तक में प्राप्त नहीं होता है, क्योंकि अब तक मौखिक रूप से गुरु द्वारा शिष्य को संचरित करने की परम्परा रही है।

संन्यास के नियम

स्वामी नरसिंह सरस्वती ने औपचारिक रूप से संन्यास ग्रहण करने के नियमों का भी प्रतिपादन किया था। वे इस प्रकार हैं–

1. *प्रायश्चित*–सभी जन्मों में अनजाने में किये गये कर्मों का प्रायश्चित, अर्थात् यन्त्रवत् किये गये पिछले कार्यों का विश्लेषण करना और निष्कर्ष निकालना कि उन कार्यों के द्वारा किसी भी लक्ष्य की प्राप्ति नहीं हुई। एक संकल्प लेना कि जागरूक रहते हुए उच्चतर चेतना में श्रद्धा के साथ किसी भी कार्य को करना है।
2. *अष्टश्राद्ध*–सभी सांसारिक सम्बन्धों तथा स्वयं अपना श्राद्ध करना। इनके द्वारा अपने अतीत से पूरी तरह सम्बन्ध टूट जाता है और यह स्थिति अपरिवर्तनीय होती है।
3. *विरजाहोम*–मृत्यु की नदी को पार करने के प्रतीक रूप में अग्नि में आहुति देना।
4. *गायत्री प्रवेश*– गायत्री मन्त्र के उच्चारण द्वारा शरीर और मन को संतृप्त तथा पवित्र करना।
5. *एषणात्रय त्याग*–पुत्रेषणा, वित्तेषणा, लोकेषणा–इन तीनों का त्याग करना।

6. *भुरादि संन्यास*–साधक को रुचिमुक्त होना चाहिए। उसे त्याग के लिए तैयार रहना चाहिए, बाह्य जगत्, सुखों तथा अपनी सिद्धियों के प्रति विरक्त होना चाहिए। *'ॐ भूर्भुव: स्व: संन्यस्तं मया'*–इस मन्त्र के द्वारा साधक अपने सभी बाह्य और आन्तरिक क्रियाकलापों को त्यागने का संकेत देता है। दूसरे शब्दों में वह चेतना के प्रत्येक स्तर पर रुचिमुक्त होने का प्रयास करता है।
7. *शिखा सूत्र संन्यास*–औपचारिक दीक्षा के समय संन्यासी को अपनी शिखा और यज्ञोपवीत का, जो जाति के द्योतक हैं, त्याग करना पड़ता है। यह क्रिया साधक की उस तत्परता की प्रतीक है जिसके द्वारा वह सभी सीमाओं को तोड़ कर उस चेतना में प्रवेश करता है जो नि:सीम और पूर्वानुभूतियों से मुक्त है।
8. *गुरु उपपत्ति*–तब साधक गुरु के पास जाता है, जो उसे चार महावाक्यों में ज्ञान देते हैं–*प्रज्ञानं ब्रह्म'*–ब्रह्म ही परम ज्ञान है। *'तत् त्वं असि'*–तू वह है। *'अहं ब्रह्मास्मि'*–मैं ब्रह्म हूँ। *'अयम् आत्मा ब्रह्म'*–यह आत्मा ब्रह्म है। विवेकचूड़ामणि में शंकराचार्य ने कहा है– *'वेदान्तार्थ विचारेण जायते ज्ञानमुत्तमम्।'* अर्थात् उपनिषद्-मन्त्रों के अर्थ पर ध्यान करने से ज्ञान उत्पन्न होता है। महावाक्यों का अभिप्राय है–साधक के अन्दर अपनी मूल प्रकृति को पहचानने की अभीप्सा को जाग्रत करना।
9. *योग पट्ट*–अभीप्सु को संन्यासी की पदवी दी जाती है।
10. *पर्यंक शौच*–सोने के लिए केवल अपने वस्त्रों का प्रयोग किया जाता है। अपने बिस्तर को पवित्र रखना है।
11. *स्वधर्म विचार*–संन्यास के अभिप्राय, संन्यास के लक्ष्य, अपनी मूल प्रकृति के विषय में निरंतर चिन्तन-मनन करते रहना।
12. औपचारिक दीक्षा एवं अनुष्ठान के द्वारा साधक का शुद्धिकरण किया जाता है। उच्चतर ज्ञान के प्रति उसकी ग्राह्यता को विस्तृत किया जाता है तथा आध्यात्मिक पथ पर उसका मार्गदर्शन किया जाता है। इसके बाद साधक की आन्तरिक यात्रा आरम्भ होती है जो पूर्व निश्चित मार्ग और अनुष्ठानों से मुक्त होती है। इसके बाद की सभी दीक्षाएँ सूक्ष्म स्तर पर आन्तरिक रूप से होती हैं।

शंकराचार्य

कस्त्वं कोऽहं कुत आयात: का मे जननी को मे तात: ।
इति परिभावय सर्वमसारं विश्वं त्यक्त्वा स्वप्नविचारम् ।।
भज गोविन्दं भज गोविन्दं भज गोविन्दं मूढ़मते ।।

–आदि शंकाराचार्य *'भज गोविन्दं'*

त्याग

प्रात: के धुँधलके में जब पक्षी अपने उष्ण और नम घोंसले छोड़ भोजन की खोज में जा रहे थे और उदित होते हुए सूर्य ने पूर्वी आकाश को अपने चमकीले रंगों से रक्ताभ कर दिया था, तब एक एकाकी स्त्री मंद पवन के झोंकों से सरसराती हुई पत्तियों से बेखबर आँखों में आँसू लिए नारियल के पेड़ के नीचे खड़ी थी। वह लगभग आठ वर्ष की उम्र के उस बालक को जाते हुए देख रही थी जिसका सिर मुड़ा हुआ था और जिसने गेरू वस्त्र पहन रखे थे। हाथों में दण्ड और कमण्डल लिए वह सधे कदमों से अनजान नियति की ओर बढ़ा चला जा रहा था। वह उस बालक को तब तक देखती रही जब तक वह केरल राज्य के छोटे-से गाँव कालडि को घेरने वाले आम और नारियल के विशाल वृक्षों तथा पान की वाटिकाओं के बीच विलीन नहीं हो गया।

वह बहुत देर तक वहाँ खड़ी रही। यद्यपि वह जानती थी कि ऐसी कोई सम्भावना नहीं, फिर भी एक छोटी-सी आशा अन्दर सुगबुगा रही थी–शायद उसका बालक लौट आये। उसने रुलाई को जबरन रोका, आँसू पोंछे और रुँधे गले से बुदबुदायी, 'शंकर, भगवान् आशुतोष तुम्हारी रक्षा करें, तुम्हारा मार्गदर्शन करें।' बाद में वह अपनी झोपड़ी के सामने बैठकर अपने बेटे

शंकर के विषय में सोचने लगी जो प्रातः अपना घर और गाँव त्याग कर गया था। वह कहाँ गया होगा, उसे मालूम नहीं। उसने कहा था कि उसे गुरु और सत्य की खोज करनी है। हृदय की बोझिलता उस पर तन्द्रा के रूप में व्याप्त हो गयी थी। उसी तन्द्रित अवस्था में उसे शंकर के जन्म के समय की बातें याद आ रही थीं। कितने आनन्द का समय था, वह कभी नहीं भूल सकती।

शंकर के पिता शिवगुरु, विद्याधर के इकलौते पुत्र थे। यद्यपि शिवगुरु गृहस्थ जीवन में उलझना नहीं चाहते थे, फिर भी पिता के आग्रह पर गुरु-आश्रम से वापस आकर उन्होंने विवाह किया। विद्याधर की मृत्यु के पश्चात्, शिवगुरु अपने पारिवारिक कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों का निर्वाह करते हुए शास्त्रों के अध्ययन-अध्यापन में संलग्न रहे। जब उनकी पत्नी और वे अधेड़ हो चले तो उन्हें पुत्र-प्राप्ति की इच्छा हुई। उन दोनों ने इस बिन्दु पर विचार-विमर्श किया और गाँव के पास के वृषा पर्वत पर चले गये। वहाँ के मन्दिर में उन दोनों ने पूर्ण भक्ति के साथ चन्द्रमौलीश्वर शिव आराधना की। वे दिन भी कितने कठिन थे। उन्होंने पूजा की, उपवास किये और कन्द-मूल-फल पर जीवन निर्वाह किया। इस कठिन अनुशासन से उनके शरीर अत्यधिक प्रभावित हुए।

उनकी तपस्या समाप्त होने के पूर्व एक रात शिवगुरु ने एक स्वप्न देखा। स्वप्न में भगवान् शिव उनके सम्मुख प्रकट हुए और करुणापूर्ण शब्दों में कहा– 'वत्स, मैं तुम्हारी भक्ति से प्रसन्न हूँ। तुम अपनी इच्छा बताओ, मैं उसे पूरी करूँगा।' स्वप्न में शिवगुरु अपने इष्ट के चरणों में गिर पड़े थे और कहा था– 'मुझे एक दीर्घायु और सर्वज्ञ पुत्र का वरदान दें।' ईश्वर ने मुस्कुराते हुए बताया-'यदि तुम सर्वज्ञ पुत्र चाहते हो तो वह अल्पायु होगा। और यदि तुम्हें दीर्घायु पुत्र चाहिये तो वह सर्वज्ञ नहीं होगा। अब तुम मुझे यह बताओ कि तुम्हें सर्वज्ञ पुत्र चाहिए या दीर्घायु पुत्र।' शिवगुरु ने निवेदन किया कि उनका पुत्र सर्वज्ञ हो। ईश्वर ने कहा-तुम्हारी इच्छा पूरी होगी। तुम्हें एक सर्वज्ञ पुत्र प्राप्त होगा। मैं स्वयं तुम्हारे पुत्र के रूप में आऊँगा।' इतना कहकर भगवान् विलीन हो गये।

शिवगुरु नींद से जाग उठे, और उन्होंने विशिष्टा देवी को अपने स्वप्न के विषय में बताया। वे इस बात से प्रसन्न थे कि उन पर ईश्वर की अनुकम्पा थी। शीघ्र ही उनकी आराधना पूर्ण हुई और वे अपने गाँव लौट गये। विशिष्टा देवी को सन् 686 ई० वैशाख शुक्ल पञ्चमी के बाद बारहवाँ दिन अच्छी तरह याद है, जब शंकर का जन्म हुआ था। लोगों ने बताया था कि आकाश का

गतिमान सूर्य थम गया था–उस नवजात शिशु की एक झलक पाने के लिए। पक्षी शिशु की स्तुति गाने के लिए एकत्र हो गये थे और मंद पवन ने अपने मृदुल स्पर्श से उसके शरीर को सहला दिया था। नम्बूदरी ब्राह्मणों ने आकर दिव्य बालक को आशीर्वाद दिये। पिता ने प्रसन्न होकर ब्राह्मणों को भूमि, धन और गायों का दान किया। शिशु के शरीर पर शिव के शुभ चिह्नों को देखकर उन लोगों ने उसका नाम शंकर रखा।

विशिष्टा देवी ने एक विशिष्ट शिशु को जन्म दिया था। जब वह बड़ा हुआ तो लोगों ने देखा कि वह शान्त, निर्भय और तीक्ष्ण बुद्धि वाला है। वह अपनी मातृभाषा मलयालम के अधिकाधिक साहित्य को पढ़कर कण्ठस्थ कर चुका था। वह वेदों, वेदान्तों, उपनिषदों, रामायण, महाभारत और पुराणों को भी पढ़ कर कण्ठस्थ कर चुका था। उसकी क्षमताओं की कोई सीमा नहीं थी। शिवगुरु इस देव-शिशु की दैविक क्षमताओं को देख-देख कर फूले नहीं समाते थे। उन्होंने निर्णय लिया कि जब शंकर पाँच वर्ष के हो जायेंगे तब उनका उपनयन संस्कार कर उन्हें आगे की शिक्षा के लिए गुरुकुल भेज देंगे। किन्तु असमय ही शिवगुरु की मृत्यु हो गयी। उनके अन्तिम संस्कार करने के पश्चात् विशिष्टा देवी शंकर को लेकर अपने पिता के घर चली गयीं। उन्हें अपने पति की अन्तिम इच्छा याद थी, इसलिए शंकर जब पाँच वर्ष के हो गये, तो वे पुन: अपने गाँव वापस आईं, शंकर का उपनयन संस्कार किया और उन्हें गुरुकुल भेजा।

उन्हें याद आया कि गुरु के आश्रम आने-जाने वाले ग्रामीणों ने बताया था कि शंकर ने अपनी स्पष्ट-तीक्ष्ण बुद्धि से और शास्त्रों के शुद्ध उच्चारण से सबको किस प्रकार चमत्कृत कर रखा था। शंकर को जो कुछ भी सिखाया जाता वे उसे कण्ठस्थ कर लेते और अपने अध्यापकों को मुदित कर देते। उन्होंने दो वर्षों की छोटी अवधि में इतना अध्ययन समाप्त कर लिया जिसे पूरा करने में सामान्यत: बीस वर्ष लग जाते थे। वे उपनिषद्, पुराण, इतिहास, धर्मशास्त्र, न्याय, सांख्य, पातंजल योगसूत्र, वैशेषिक तथा अन्य पारम्परिक साहित्य में निपुण हो गये थे।

किसी ने बताया कि शंकर में दैविक शक्तियाँ भी थीं। गुरुकुल के नियमानुसार शिष्यों को भिक्षा लेने के लिए जाना होता था। एक बार जब शंकर भिक्षा के लिए गये हुए थे तो एक अत्यन्त दरिद्र परिवार से उन्हें आँवला का एक फल मिला, क्योंकि उनके पास देने के लिए इसके अतिरिक्त कुछ

भी नहीं था। उन लोगों की दरिद्रता और भक्ति देखकर शंकर का हृदय करुणा से भर उठा। उन्होंने माँ लक्ष्मी का आवाहन किया जिससे शीघ्र ही उस दरिद्र परिवार की झोपड़ी आकाश से हुई स्वर्ण आँवलों की वर्षा से भर गयी। यह आश्चर्यजनक समाचार पूरे देश में फैल गया।

विचारों में खोई विशिष्टा देवी सोच रही थीं कि शंकर प्रतिभासम्पन्न, मेधावी पुत्र है। अन्यथा वे नदी को अपने द्वार तक लाने में कैसे सफल होते? उन्हें वह घटना याद आई-एक बार जब वे गाँव के पास बहने वाली अलवई नदी में स्नान करने जा रही थीं तो मूर्छित हो कर गिर गयी थीं। शंकर, जो उस समय मात्र सात वर्ष के थे, उन्हें ढूँढ़कर और उठाकर घर ले आए थे। तत्पश्चात् उन्होंने निश्चय किया था कि भगवान् आशुतोष की आराधना कर वे नदी को अपने द्वार तक ले आयेंगे ताकि उनकी माता को प्रतिदिन प्रात: उस कठिन मार्ग पर नहीं चलना पड़े। वे निरन्तर आराधना करते रहे जिसके सुफल के रूप में वर्षा ऋतु के बाद नदी ने अपना मार्ग बदल दिया और उनके घर के सामने से बहने लगी।

एक दिन कुछ विद्वान् ब्राह्मण उनके घर आये थे। शंकर के ज्ञान, उनकी बुद्धिमत्ता और प्रज्ञा से प्रभावित होकर उन लोगों ने उनकी जन्म-कुण्डली मांगी थी। कुण्डली देखकर उन्होंने कहा था कि शंकर प्रख्यात गुरु होंगे, आचार्य होंगे और परिव्राजक होंगे। वे अल्पायु होंगे, आठ, सोलह या बत्तीस वर्ष की आयु में उनकी मृत्यु होगी। परिवार को आशीर्वाद देने के बाद वे ब्राह्मण चले गये थे। उस दिन के बाद शंकर में परिवर्तन आ गये थे। उन्होंने संन्यास ग्रहण करने की इच्छा व्यक्त की थी। उन्होंने कहा था कि संन्यास के बिना आत्मज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता और आत्मज्ञान के बिना मोक्ष सम्भव नहीं। विशिष्टा देवी ने दृढ़ता के साथ उनकी इच्छा को ठुकरा दिया था, 'जब तक मैं जीवित हूँ, तुम्हें संन्यास ग्रहण करने की अनुमति नहीं दे सकती।'

उन्होंने शंकर को कितना गलत समझा था। क्या वे भूल गयी थीं कि उनके पुत्र के रूप में तो स्वयं भगवान् आशुतोष ही थे? उनके मातृत्व ने शंकर को अपने बुढ़ापे का सहारा बनाना चाहा, जबकि ईश्वर उन्हें मानवता का सहारा बनाना चाहते थे। एक दिन वे शंकर को लेकर अवलई नदी में स्नान के लिए गयीं। नदी में एक घड़ियाल ने शंकर का एक पैर अपने जबड़ों में दबा लिया और गहरे पानी की ओर खींचने लगा। शंकर ने चिल्ला कर माँ से कहा था, 'माँ, एक घड़ियाल मुझे खींचे जा रहा है। मेरे जीवन का अन्त निकट है। मुझे

संन्यास लेने की अनुमति दे दो, क्योंकि उसके बिना मोक्ष सम्भव नहीं। यदि तुम अनुमति दो, तो मैं ईश्वर का स्मरण कर संन्यास ग्रहण कर लूँगा और यह सोच कर मुझे मोक्ष प्राप्त हो जायेगा। मैं निश्चिन्त होकर मर सकूँगा।'

अपने प्रिय शंकर को घड़ियाल के चंगुल में फँसा हुआ देख उन्हें गहन पीड़ा हुई और वे उदास-निराश हो गयीं। अन्य स्नान करने वाले या मछुआरे शंकर को उनकी दुर्दशा से मुक्त कराने में सक्षम नहीं थे। तब उन्होंने सिसकते हुए कहा था, 'ऐसा ही हो मेरे बच्चे। मैं तुम्हें संन्यास ग्रहण करने की अनुमति देती हूँ।' इसके बाद वे मूर्च्छित हो गयीं और उन्हें याद नहीं फिर क्या हुआ। लोगों ने बताया कि कुछ मछुआरों ने घड़ियाल को जाल में पकड़ लिया था और शंकर को तट पर ले आये थे जहाँ वैद्य ने उनके घावों पर मरहम लगाया था। कुछ अफवाहें भी थीं कि ज्यों ही शंकर ने संन्यास का संकल्प लिया त्यों ही वह घड़ियाल अदृश्य हो गया। कुछ का अनुमान था कि इस घटना में अलौकिक शक्ति ने हस्तक्षेप किया, किन्तु वस्तुतः सत्य कुछ भी हो, माँ को इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता, उसके लिए तो यही पर्याप्त था कि उसका प्यारा शंकर जीवित था।

जब वे दोनों घर लौट रहे थे शंकर ने कहा था, 'माँ, अब मैं घर में प्रवेश नहीं कर सकता, क्योंकि मैं एक संन्यासी हूँ। मैं किसी वृक्ष के नीचे रहूँगा।' यह सुनकर वे अवाक् हो गयीं, फिर स्वयं को सम्भालते हुए उन्होंने कहा, 'क्या कह रहे हो तुम? मैं और कितने दिन जीवित रहूँगी? मेरी मृत्यु के बाद घर त्याग देना, किन्तु जब तक मैं जीवित हूँ तब तक मेरे साथ रहो। क्या मेरे प्रति तुम्हारे कोई कर्तव्य नहीं?' शंकर का उत्तर स्नेह और करुणा से परिपूर्ण था और उन्होंने माँ को अपने निश्चय के प्रति पूर्ण विश्वास दिला दिया और कहा, 'नदी में तुम्हारी अनुमति के बाद मैंने संन्यास लिया। ईश्वर ने घड़ियाल से मेरी रक्षा की और अब यह भी उनकी ही इच्छा है जिसे मुझे पूरा करना चाहिए। तुम्हारे आशीर्वाद से मैं योग सिद्धि और तत्त्व ज्ञान प्राप्त करूँगा। तुम अपने जीवन के अन्तिम क्षणों में मुझे स्मरण करना, मैं तुम्हारे सम्मुख होऊँगा, और तब तुम्हें अपने इष्ट के दर्शन होंगे। वह सब जो पवित्र और शुभ है, उन्हीं से उद्भूत है। माँ, मेरा विश्वास करो, मैं जो कह रहा हूँ वह अवश्यम्भावी है। मुझे आशीर्वाद दो ताकि मैं धर्म और संन्यास के पथ पर निर्भय और द्वन्द्वमुक्त होकर आगे बढ़ता जाऊँ।' वह अपने छोटे-से बच्चे की अविश्वसनीय बातें शान्तिपूर्वक सुनती रहीं। उन्हें अपने कानों पर विश्वास नहीं हो रहा था, फिर भी उन्हें विश्वास

करना पड़ा, क्योंकि वह एक देव बालक था और वह उसकी माता थीं। उनकी ममता ने डोर ढीली की और करुणा प्रवाहित हो चली, 'ऐसा ही हो मेरे पुत्र। मैं तुम्हें आशीर्वाद देती हूँ कि तुम्हें वह सब मिले जो तुम प्राप्त करना चाहते हो।'

यह कल की ही घटना थी। घर पहुँचने के बाद शंकर ने संन्यास आश्रम में प्रवेश करने के लिए समुचित अनुष्ठान की तैयारी में माँ की सहायता की। आज प्रात: उठकर परम्परा के अनुसार उसने स्वयं अग्नि प्रज्वलित की और स्वयं को दीक्षित किया। माँ ने शंकर को गेरू वस्त्र पहना कर एक दण्ड और एक कमण्डल दिया। पूरा गाँव इस घटना को देखने आया और बाद में सभी शंकर को गाँव की सीमा तक छोड़ने गये। वे सब शंकर को अश्रूपूरित नेत्रों से तब तक देखते रहे जब तक वे क्षितिज में विलीन नहीं हो गये। केवल माँ ही नारियल के वृक्ष के नीचे खड़ी रह गयी थीं, आशा की एक दुर्बल-सी डोर थामे – शायद उनका पुत्र शंकर कहीं लौट आये।

उन्होंने अपनी आँखें खोलीं और बरामदे को देखा जहाँ वे अकेली बैठी हुई थीं, जहाँ कितनी बार शिवगुरु के साथ बैठी थीं और बाद में कितनी मुग्ध होकर शंकर द्वारा वेद मंत्रों के पाठ को सुना था। आज वे अकेली थीं, किन्तु वे जानती थीं कि ईश्वर जैसे मेरे साथ हैं, वैसे ही शंकर के साथ भी हैं। ईश्वर की आभा से उनका अन्तर प्रदीप्त हो उठा था। वे धीरे-से उठीं और मन-ही-मन कहा, 'मेरे शंकर! ईश्वर हर कदम पर तुम्हारा मार्गदर्शन करें।'

गुरु के साथ प्रशिक्षण

गुफा के अन्दर अन्धकार था। किन्तु कोने में जलते हुए दीपक का प्रकाश यह देखने के लिए पर्याप्त था कि वहाँ कितने लोग उपस्थित हैं। मद्धिम प्रकाश में दो व्यक्ति बैठे हुए दीख रहे थे। उनमें से एक अत्यन्त वृद्ध, किन्तु काल प्रभावातीत, केश जटाओं में परिवर्तित, लम्बी सफेद दाढ़ी और दुर्बल शरीर गेरू वस्त्र से ढँका हुआ। वे एक ऊँचे चबूतरे पर बैठे हुए थे जो व्याघ्र चर्म से ढँका हुआ था। पास में एक दण्ड और एक कमण्डल रखा हुआ था। दूसरा व्यक्ति जो चबूतरे से नीचे बैठा था, वह ग्यारह वर्ष से अधिक का बालक नहीं था। उसने संन्यासियों जैसे वस्त्र पहन रखे थे और शान्तिपूर्वक दत्तचित्त होकर वृद्ध की बातें सुन रहा था।

'ईश्वर की अनुकम्पा से तुम्हारा जन्म वैदिक परम्परा को पुनर्व्यवस्थित करने के लिए हुआ है। मैंने अपने गुरु के निर्देश पर वर्षों तुम्हारी प्रतीक्षा की है ताकि

तुम्हें धर्म का ज्ञान प्रदान कर सकूँ। अब चूँकि तुमने सब कुछ सीख लिया है, मेरा कर्तव्य पूरा हुआ और मैं समाधि प्रवेश करने के लिए मुक्त हूँ। तुम अब काशी जाओ, जहाँ तुम्हें इष्ट के दर्शन होंगे और वह तुम्हें तुम्हारे भविष्य का मार्ग प्रदर्शित करेंगे।' इतना कहकर वृद्ध गोविन्दपाद ने अपनी आँखें बन्द कर लीं। उस छोटे बालक, शंकर ने झुक कर अपने गुरु को प्रणाम किया और धीरे से उस एकान्त गुफा से बाहर निकल आया जो ओंकारेश्वर में नर्मदा तट पर थी।

गोविन्द गुफा से निकलते हुए शंकर के धीमे पदचाप को सुन रहे थे और उनका मन समाधि से विचलित होकर अपने बाल्य शिष्य की ओर चला गया। उन्हें याद आया कि ओंकारेश्वर की इस गुफा में शंकर के आने पर किस प्रकार उनकी वर्षों लम्बी समाधि भंग हुई थी। ईश्वरेच्छा ही ऐसी थी। उन्होंने शंकर के विषय में अनेक कथायें सुनी थीं। और यह भी सुना था कि केवल दो महीनों में पैदल चल कर शंकर कालडि (केरल) से ओंकारेश्वर, जो नर्मदा नदी के तट पर है, पहुँच गये थे। आठ वर्ष के बालक के लिए यह एक अविश्वसनीय कार्य था। कहाँ नर्मदा, कहाँ कालडि? किसने पथ प्रदर्शित किया उनका?

शंकर जानते थे कि नर्मदा उनके गाँव से उत्तर की ओर है। उन्होंने सुना था कि वहाँ एक अतिवृद्ध गुरु रहते हैं जो किसी की प्रतीक्षा कर रहे हैं। घने जंगलों, नदियों और पर्वतों को पार करने में उन्हें कितनी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था। जंगली आदिवासी जनजातियाँ और जंगली जानवर मार्ग को बाधित करते रहे, किन्तु उस बालक के निश्चय को कोई भी डिगा नहीं सका। शंकर प्रतिभाशाली थे। सभी गुरुजन, संन्यासी और अन्य शिष्य उनका आदर करते और उनकी प्रशंसा करते नहीं थकते। मात्र तीन वर्षों में उन्होंने प्रत्येक विषय में निपुणता प्राप्त कर ली थी। पहले साल उन्होंने हठ योग में तथा दूसरे साल राजयोग में निपुणता प्राप्त कर ली थी। परिणामस्वरूप उन्हें अनेक आध्यात्मिक शक्तियाँ और सिद्धियाँ उपलब्ध हो गयी थीं। तीसरे वर्ष गोविन्दपाद ने शंकर को ज्ञान योग के परमोच्च सत्य, अपरोक्षानुभूति तथा धारणा, ध्यान और समाधि का ज्ञान दिया।

ऐसा शिष्य पाना भी स्वयं में एक सम्मान की बात थी। उस समय जब मूल्यों का ह्रास हो रहा था, तब वह अल्पवय बालक आशाओं के दीप स्तम्भ-सा प्रतीत हो रहा था। उन्हें उस वर्ष की वर्षा ऋतु याद आई जब वे समाधि में बैठे हुए थे और नर्मदा का उफनता हुआ जल यूँ लग रहा था मानो सम्पूर्ण गुफा को आप्लावित कर देगा। सभी शिष्य आतंकित थे, भगदड़ मची हुई

थी। शंकर ने गम्भीरता के साथ मिट्टी का एक बर्तन गुफा के द्वार पर रख दिया, देखते-ही-देखते नर्मदा का आप्लावित कर डालने वाला जल उस छोटे-से बर्तन में यूँ समा गया मानो कोई उच्छृंखल बालिका अपनी उच्छृंखलता पर लज्जित होकर अचानक शान्त हो गयी हो। उसके इस सहज चमत्कार से सभी कितने चमत्कृत हुए थे?

बाद में जब गोविन्दपाद ने इस घटना के विषय में सुना था तो शंकर को आशीर्वाद देते हुए कहा था, 'मैंने अपने गुरु गौड़पाद और उन्होंने अपने गुरु शुकदेव से सुना था कि ऐसा कोई आयेगा जो नर्मदा की सहस्त्र धाराओं को एक मिट्टी के बर्तन में समेट लेगा। वही व्यक्ति वेदों के ज्ञान को आत्मसात् कर ब्रह्म सूत्रों के रूप में धर्म को पुनर्जीवित करेगा। अब मैं जान गया हूँ, वे तुम्हारा ही उल्लेख कर रहे थे। मेरा आशीर्वाद सदा तुम्हारे साथ है।'

आचार्य गुरु गोविन्दपाद शंकर से संतुष्ट थे। शंकर ईश्वर का अवतार होने के कारण यथोचित कार्य करेंगे। गोविन्दपाद का लक्ष्य पूरा हो चुका था, उनकी प्रतीक्षा समाप्त हुई और अब वे महासमाधि में प्रवेश कर सकते थे। उन्होंने अपने मन को भ्रूमध्य में एकाग्र किया, मानसिक रूप से अपने गुरु और ईश्वर को प्रणाम कर उनकी आराधना की, अपने प्राणों को सहस्त्रार में अवस्थित कर वे महासमाधि में प्रवेश कर गये।

लक्ष्य

दोपहर का सूरज आकाश में चमक रहा था, फिर भी कुटी में अन्धेरा था। अन्धकार के बावजूद दो वृद्ध आकृतियों को देखा जा सकता था। उनमें से एक आकृति बिछावन पर लेटी हुई और कंबल से पूरी तरह ढँकी हुई थी। दूसरी उसके बगल से उस पर झुकी हुई थी। ऊपर से झुकी हुई आकृति एक वृद्ध दासी की थी जो शंकर की माता विशिष्टा देवी की सेवा करती थी। बिछावन पर लेटी हुई आकृति शंकर की माता की थी जो अत्यधिक बीमार होने के कारण मूर्छित हो गयी थीं और प्रलाप कर रही थीं। बीच-बीच में उनके मुँह से 'शंकर' नाम का उच्चारण स्पष्ट सुनाई दे जाता था। वैद्य आये, उन्होंने उपचार किये, दवाएँ दीं, किन्तु उनके दुर्बल शरीर पर उन सबका कोई प्रभाव नहीं हो रहा था।

अन्ततः वैद्य ने कहा कि केवल भगवान् आशुतोष की कृपा से वे स्वस्थ हो पायेंगी। धीरे-धीरे सभी उस कुटी से बाहर निकल गये। वहाँ केवल विशिष्टा

देवी और वह दासी रह गयी जो शंकर के जन्म के समय से उनकी सेवा करती आई थी। उस वृद्धा दासी को यह ज्ञात था कि जब शंकर ने संन्यास लिया था और गुरु की खोज में घर छोड़ कर जा रहे थे तो अपनी माता को एक वचन दिया था– 'तुम अपने अन्तिम क्षणों में मेरा स्मरण-मात्र कर लेना, मैं प्रकट होऊँगा और तब तुम्हें तुम्हारे ईश्वर के दर्शन होंगे।' किन्तु वे कहाँ थे? अब तक क्यों नहीं आये?

वह जानती थीं कि शंकर अवश्य आयेंगे, किन्तु कब? 'शंकर, कृपया आओ।' यह विचार बार-बार उनके मन में कौंध रहा था। शंकर की गौरवपूर्ण उपलब्धियों के समाचार उन तक पहुँचते रहते थे। प्रत्येक व्यक्ति के ओठों पर उन्हीं का नाम था। सुदूर प्रदेशों से आने वाले लोगों से शंकर के समाचार सुन माँ कितनी मुदित हो जाया करती थीं। आनन्द के अश्रुओं से पूरित नेत्रों के साथ वे चुपचाप समाचार सुनतीं, मन्दिर जाकर भगवान् आशुतोष की पूजा करतीं और गाँव के बच्चों के बीच प्रसाद वितरित करतीं।

अपने गुरु, गोविन्दपाद के महासमाधि-प्रवेश के उपरान्त शंकर ने कुछ अन्य संन्यासियों के साथ ओंकारेश्वर से वाराणसी की ओर प्रस्थान किया। वाराणसी में उन्होंने अपने रहने के लिए मणिकर्णिका घाट पर एक एकान्त स्थान चुना। प्रतिदिन वे अपने पास आने वालों को उपदेश देते। वे जिज्ञासु कभी तो उत्सुकतावश आते और कभी उनकी विद्वता से अपने ज्ञान की प्यास बुझाने आते। धीरे-धीरे उनकी ख्याति चारों ओर फैल गयी। अनेक लोग शंकर को तर्क और वाद-विवाद के द्वारा परास्त करने के लिए उनके पास आते, किन्तु अन्ततः स्वयं परास्त होते और एक युवा से सत्य की चर्चा सुन कर स्वयं को धन्य समझने लगते। विशिष्टा देवी की दासी ने स्मरण किया कि वाराणसी में शंकर सनन्दन नाम के विलक्षण प्रतिभा वाले एक तरुण से मिले जो शास्त्रों के अध्ययन के लिए वहाँ गया हुआ था, बाद में वह शंकर का शिष्य बन गया और उसे पद्मपाद नाम दिया गया।

शंकर के विषय में अनेक कथाएँ प्रचलित थीं। एक बार आद्या शक्ति भवानी और भगवान् शिव ने शंकर को अनुगृहीत किया था। आद्या शक्ति एक ऐसी स्त्री के रूप में प्रकट हुई थीं, जो अपने पति के शव को अपनी गोद में रख कर रो रही थी और उसके अन्तिम संस्कार के लिए सहायता मांग रही थी। शंकर अपने अनुयायियों के साथ स्नान करने के लिए जा रहे थे। उन्होंने उस स्त्री से शव को रास्ते से हटा लेने के लिए कहा। इस पर उसने उत्तर दिया,

'तुम क्यों नहीं शव को यहाँ से हट जाने को कहते हो?' शंकर ने कहा, 'माता, तुम क्यों इतनी भ्रांत हो रही हो? एक शव कैसे गतिशील हो सकता है? इसमें कोई शक्ति नहीं होती।' तब उस स्त्री ने कहा, "हे योगी! तब तुम यह क्यों घोषित करते हो कि 'शक्ति' से वियुक्त ब्रह्म ही स्रष्टा हैं?" इतना कह कर वह स्त्री शव के साथ विलुप्त हो गयी और शंकर यह देख कर अचंभित रहे गये। वे समझ गये कि आद्या शक्ति सत्य के एक अन्य आयाम को उद्घाटित करने आई थीं और इस प्रकार उनको अनुगृहीत कर गयीं।

एक अन्य अवसर पर, इस बार भी जब शंकर स्नान के लिए ही जा रहे थे तो भगवान् महादेव एक कुरूप चाण्डाल के रूप में प्रकट हुए। उनके साथ चार कुत्ते भी थे। शंकर ने उन्हें कहा, 'मार्ग से हट जा।' चाण्डाल हँसा, और पूछा, "तुम किसे हटाने को कह रहे हो, शरीर को या आत्मा को? आत्मा तो सर्वत्र विद्यमान है और शरीर इसका धारक है। आत्मा के दृष्टिकोण से क्या ब्राह्मण और चाण्डाल में कोई अन्तर है? गंगाजल और मदिरा में पड़ रही सूर्य किरणों में कोई अन्तर है क्या?" जैसे ही शंकर को स्थिति समझ में आई, वे चकित रहे गये। उन्होंने झुक कर चाण्डाल को प्रणाम किया, किन्तु वह तो तब तक विलुप्त हो चुका था। उसके स्थान पर भगवान् महादेव अपने पूर्ण तेज के साथ प्रकट हुए। उन्होंने शंकर को आशीर्वाद दिया और वैदिक ज्ञान को पुन: स्थापित कर सामान्य जनों के बीच उसका प्रचार करने का निर्देश दिया। साथ-ही शंकर को व्यास के ब्रह्मसूत्र की व्याख्या करने का आदेश दिया गया। ईश्वर ने उनसे कहा, 'तुम मानव जाति के कल्याण के लिए ही मुझसे उत्पन्न हुए हो।'

कालडि में उनकी माँ ने सुना था कि ईश्वर का साक्षात्कार होने के पश्चात् शंकर ने ईश्वर के आदेश को मूर्त रूप देने के लिए बद्रिकाश्रम जाने का निश्चय किया। अपने अनुयायियों के साथ वे बद्रिकाश्रम की ओर चल पड़े। वे पैदल ही अनेक नगरों और तीर्थों को पार करते गये। मार्ग में उन्होंने जिज्ञासुओं को उपदेश दिये, मन्दिरों के जीर्णोद्धार के लिए लोगों को प्रेरित किया, वैदिक परम्परा के अनुसार वे पूजा-अर्चना की पद्धतियों को व्यवस्थित करते गये। कितना विकट कार्य था और कितनी दुष्कर यात्रा थी वह, एक बारह वर्षीय बालक के लिए। उन्हें उनकी माता होने पर गर्व हो रहा था। अन्तत: शंकर बद्रीक्षेत्र के व्यासाश्रम में पहुँचे। यहीं पर ऋषि वेदव्यास ने गणेश के माध्यम से महाभारत की रचना की थी। वेदव्यास बोलते गये और गणेश लिखते

गये। यहाँ चार वर्षों तक रहकर शंकर ने अपने अनुयायियों को वैदिक ज्ञान प्रदान किया और ब्रह्म सूत्रों, बारह उपनिषदों, भगवद्गीता, विष्णु सहस्त्रनाम, सनत सुजातीय, श्रुतियों एवं स्मृतियों की व्याख्याएँ लिखीं। उसके बाद उन्होंने हिमाचल क्षेत्र के तीर्थ स्थलों का भ्रमण किया।

हिमाचल की यात्रा पूरी करने के बाद शंकर उत्तरकाशी गये। मानों उन्हें ज्ञात था कि उनके सोलह वर्षों की अवधि समाप्त हो रही है, इसलिए उन्होंने स्वयं को परमात्मा के ध्यान में डुबो दिया। ऐसी किंवदंती है मुनि व्यास एक वृद्ध के रूप में शंकर के सम्मुख आये और उनके साथ ब्रह्मसूत्रों तथा अन्य शास्त्रों पर वाद-विवाद के फलस्वरूप व्यास अत्यन्त प्रसन्न हुए तथा शंकर को सोलह वर्षों की अतिरिक्त आयु का आशीर्वाद देते हुए सामान्य जनों का पथ-प्रदर्शन करने का निर्देश दिया, जो विभिन्न सम्प्रदायों-परम्पराओं की राजनीति के कारण अपने मूल पथ से विचलित हो गये थे। उन्हें पुन: वैदिक सिद्धान्तों और आध्यात्मिक धारा के अन्दर लाना था।

यह सुनकर विशिष्टा देवी के आनन्द की सीमा न रही। वे जानती थीं कि देवताओं और यह संतों के आशीर्वाद से शंकर की आयु में वृद्धि हो गयी थी, किन्तु साथ-ही उन्हें महान् लक्ष्य पूरा करना था।

व्यास मुनि के निर्देशों के अनुसार शंकर ने अपने शिष्यों और अनुयायियों के साथ भारत के उत्तर पूर्वी क्षेत्रों का भ्रमण किया। वहाँ से लौट कर वे प्रयाग गये जहाँ कुमारिल्ल भट्ट रहते थे। उन्होंने उन विदेशी और अवैदिक प्रभावों के विरुद्ध एक अन्तहीन संघर्ष छेड़ रखा था जो अपनी सम्पूर्ण शक्ति के साथ वैदिक धर्म को जड़ों से उखाड़ डालना चाहते थे। इस संघर्ष के क्रम में उन्होंने अपने आचार्यों की भी अवमानना करने का पाप कर डाला था। इस पाप का प्रायश्चित करने के लिए वे आत्मदाह करने वाले थे। शंकर उनके पास सनातन आदर्शों पर विचार-विमर्श करने गये। कुमारिल भट्ट ने शंकर से कहा कि वे मण्डन मिश्र को ढूँढ़ कर उनसे इन सिद्धान्तों पर वाद-विवाद करें और यदि मण्डन मिश्र इसमें पराजित हो जायें तो शंकर वेदों के सर्वश्रेष्ठ ज्ञाता घोषित किये जायें।

वृद्धा दासी को वह दिन याद आया जब कुछ यात्रियों ने शंकर द्वारा मण्डन मिश्र को पराजित किये जाने और शंकर में चमत्कारिक शक्तियों के विद्यमान होने की बात बतायी थी। दासी उस कथा को याद करने लगी जिसका वर्णन उन लोगों ने किया था। शंकर महिष्मती पहुँचे जो नर्मदा और महिष्मती नदियों

के बीच स्थित था। वहाँ उन्होंने मण्डन मिश्र को वाद-विवाद के लिए आमन्त्रित किया, क्योंकि यह कुमारिल्ल भट्ट की इच्छा थी। मण्डन मिश्र कुमारिल्ल भट्ट के शिष्य थे, अत: उन्होंने अपने गुरु के इच्छानुसार वाद-विवाद का आमन्त्रण स्वीकार कर लिया। दोनों के बीच का वाद-विवाद मण्डन मिश्र की पत्नी उभया देवी की मध्यस्थता में प्रारम्भ हुआ जो स्वयं एक अत्यन्त विदुषी स्त्री थीं और उन्हें माँ सरस्वती का अवतार भी माना जाता था।

वाद-विवाद अत्यन्त प्रेरणात्मक एवं मनोरंजक था और अट्ठारह दिनों तक चलता रहा। अन्त में मण्डन मिश्र ने पराजय स्वीकार कर ली और परम्परा के अनुसार स्वयं को शंकर का शिष्य बनने के लिए प्रस्तुत किया। तब उभया भारती ने शंकर से निवेदन किया कि वे उन्हें वाद-विवाद का अवसर दें, क्योंकि सनातन सिद्धान्तों के अनुसार पत्नी अपने पति की अर्द्धांगिनी होती है। इसलिए उनके पति तब तक पूरी तरह पराजित नहीं होंगे जब तक वे भी पराजित नहीं हो जातीं। शंकर और उभया भारती के बीच का वाद-विवाद भी अट्ठारह दिनों तक चलता रहा। अन्तत: उभया भारती ने शंकर से काम कलाओं के विषय में पूछा, इस पर वे मौन रहे गये, क्योंकि उन्हें इसका कोई ज्ञान नहीं था। इसलिए उन्होंने उत्तर ढूँढ़ने के लिए एक महीने का समय मांगा तो उभया भारती ने उनका आग्रह मान लिया।

शंकर महिष्मती से निकलकर एक गुफा में बैठ गये। उनके शिष्यों ने उन्हें एक समाचार दिया कि पास के प्रांत के राजा अमरक की तुरन्त मृत्यु हुई थी। इस अवसर का लाभ उठाने के लिए उन्होंने अपने संन्यासी शरीर को अपने शिष्यों के संरक्षण में छोड़ अपनी आत्मा को उस मृत राजा के शरीर में स्थानांतरित किया। अल्प अवधि में ही महल के अन्दर रहकर उन्होंने काम कलाओं की सारी जानकारी प्राप्त कर ली। महीना पूरा होने से पूर्व ही राजा के शरीर को त्यागकर वे पुन: अपने निर्जीव शरीर में प्रवेश कर गये। इसके बाद शंकर ने उभया भारती के पास जाकर उनके सारे प्रश्नों का उत्तर दिया और उन्हें भी पराजित कर दिया। तत्पश्चात् मण्डन मिश्र शंकर के शिष्य रूप में दीक्षित हुए और उन्हें सुरेश्वराचार्य नाम दिया गया।

इस अविश्वसनीय कथा को सुन कर दासी चकित थी– जिस शिशु को अपनी गोद में खिलाया था, उसमें अब यह क्षमता भी थी कि उसकी आत्मा एक शरीर से दूसरे शरीर में स्थानांतरित हो जाती थी। वह सोचने लगी, 'शंकर के लिए कुछ भी असम्भव नहीं।'

महिष्मती के बाद शंकर ने अपने अनुयायियों के साथ, जिनकी संख्या दिनों-दिन बढ़ती ही जा रही थी, पश्चिमी भारत की यात्रा की। मार्ग में आनेवाले अनेक तीर्थों के दर्शन किये और अन्त में श्रीशैल पहुँचे। लोग आपस में इस बात की चर्चा करते थे कि श्रीशैल का उग्र भैरव नामक एक दुष्ट कापालिक शंकर की हत्या करने की मंशा से उनका शिष्य बन गया था। दासी सोच रही थी कि कोई कितना नीचे गिर सकता है। इतने उत्साही युवक शंकर, उन्हें किसी प्रकार के षड्यंत्र की आशंका नहीं हुई और उन्होंने उग्र भैरव द्वारा दिये गये एक कापालिक अनुष्ठान में आने के निमंत्रण को स्वीकार कर लिया जहाँ वह शंकर की ही बलि देने वाला था। यह तो पद्मपाद की सतर्कता थी कि उसने 'नरसिंह' (विष्णु के अवतार) का आवाहन कर शंकर की रक्षा की, अन्यथा वह कापालिक, जो उनकी जान का दुश्मन था, अवश्य ही उनकी हत्या कर डालता। इस नृशंस घटना की कल्पना से ही दासी को कँपकँपी छूट गयी। उसने मन-ही-मन कहा, 'ईश्वर तुम्हारी रक्षा करे।'

इन यात्राओं के क्रम में शंकर हरिहर तीर्थ भी गये। जब वे माँ अम्बिका के दर्शन के लिए मन्दिर जा रहे थे तो एक युवा दम्पत्ति अपने मृत नवजात शिशु को लेकर वहाँ आये। उन दोनों ने बच्चे को शंकर के चरणों में डाल दिया और उसके जीवन की भीख मांगने लगे। करुणापूर्ण शंकर माँ भगवती की आराधना करने लगे। अनगिनत अनुयायियों, शिष्यों और मन्दिर में आये दर्शनार्थियों ने देखा कि बच्चे के शरीर में हलचल हुई, उसने आँखें खोल दीं और फिर रोने लगा।

शंकर ने मृत शिशु को जीवन दिया! उन्होंने तो एक गूँगे बच्चे को भी वाणी दी थी। दासी उस घटना का स्मरण करने का प्रयास कर रही थी। शंकर अपने सैकड़ों अनुयायियों के साथ श्रीबेली गये थे। वहाँ एक ब्राह्मण परिवार अपने गूँगे बच्चे को शंकर के पास उनका आशीर्वाद दिलाने के लिए ले आया था। तेरह वर्षों का वह बालक जन्म से ही गूँगा था। शंकर ने संस्कृत में उससे पूछा, 'तुम कौन हो? तुम किसके पुत्र हो? तुम कहाँ जा रहे हो? मुझे बताओ, क्योंकि तुम्हें देखकर मुझे विशेष प्रकार का अनुभव हो रहा है।' शंकर के प्रश्न सुनकर बालक का चेहरा चमक उठा और उसने संस्कृत में ही स्पष्ट उत्तर दिया, 'मैं कोई मानव नहीं, देव नहीं, पिशाच नहीं, न ब्राह्मण, न क्षत्रिय, न वैश्य और न ही शूद्र हूँ, न ब्रह्मचारी हूँ, न गृहस्थ, न वानप्रस्थ और न ही संन्यासी। मैं आत्मा का मूर्तरूप हूँ।' इस प्रकार मूक बोल उठा। उसके माता-

पिता ने उसे शंकर को समर्पित कर दिया। दीक्षित होने के बाद वह हस्तामलक नाम से प्रख्यात हुआ।

तत्पश्चात् शंकर शृंगागिरि (शृंगेरी) गये जहाँ उन्होंने मठ की स्थापना की। एक मन्दिर में श्री यंत्र स्थापित कर देवी सरस्वती का आवाहन किया। वहाँ एक अन्य बालक उनके साथ हो लिया जिसे बाद में त्रोटकाचार्य के रूप में दीक्षित किया गया। दासी के मन में कौंधा, 'शंकर अभी शृंगेरी में हैं।' इसी बीच द्वार पर हल्की दस्तक हुई। दासी का ध्यान टूटा और उसने बिछावन पर लेटी आकृति को देखा। कम्बल खिसक गया था। जब वह धीरे-धीरे विशिष्टा देवी को कम्बल ओढ़ा रही थी तो वे शंकर का नाम ही उच्चारण कर रही थीं। दासी ने सोचा, 'क्या वह दिया हुआ वचन पूरा करेगा? क्या वह सचमुच आयेगा?' द्वार पर पुनः दस्तक हुई। इस समय कौन हो सकता है? साँझ ढल चुकी थी। गाँव के लोग दिन का काम समाप्त कर रात के भोजन की तैयारी में जुटे हुए थे।

वह उठी, अपनी साड़ी सम्भाली और द्वार खोलने गयी। बाहर सांझ अभी-अभी ढली थी। द्वार के सामने एक देव पुरुष खड़ा था जो स्वर्णिम सूर्य प्रतीत हो रहा था। वह स्तम्भित हो गयी। यह कौन हो सकता है? उस देव पुरुष ने झुककर वृद्धा दासी को प्रणाम किया और पूछा, 'माँ कैसी है?' दासी ने जब उस युवक को पहचाना तो उसकी बूढ़ी आँखों से आनन्द के आँसू प्रवाहित होने लगे– ओह! अन्ततः शंकर आ गये। किन्तु वे आये कैसे? धत्। ये प्रश्न तो बाद में भी पूछे जा सकते हैं। उसने अपनी बूढ़ी झुर्रीदार हथेली में शंकर के हाथों को थामा और खींचकर वहाँ ले गयी जहाँ उनकी माँ सोई हुई थीं।

शंकर ने प्यार से अपनी माँ के सिर पर हाथ रखे और अत्यन्त स्नेह के साथ कहा, 'माँ, तुम्हारा शंकर आ गया है।' इन शब्दों को सुनते ही विशिष्टा देवी की आँखें स्वतः खुल गयीं। इस बीच दासी ने एक दीपक जला कर बिछावन के पास रख दिया था ताकि दोनों माँ-बेटे एक-दूसरे को देख सकें। अपने युवा पुत्र को देख कर विशिष्टा देवी की आँखें आनन्द से भींग उठी, ऐसा पुत्र, जिसे विश्व गुरु घोषित किया गया। उन्होंने गेरू वस्त्र से ढँके शंकर के सिर को अपने काँपते हाथों में थामा और अपने निकट खींच कर उनके मस्तक को चुम्बनों से भर दिया।

शंकर ने अपनी माँ से कहा, 'मैं तुम्हारी सेवा करने आया हूँ ताकि तुम्हारे सभी कष्ट दूर हो जायें और तुम शीघ्र स्वस्थ हो जाओ।' उनकी माता ने मुदित

होते हुए कहा, 'मेरे बेटे, तुम्हें देखते ही मेरे सारे दु:ख दूर हो गये। मैं प्रसन्न हूँ। शरीर तो वृद्धावस्था के कारण कष्ट पा रहा है। यदि इस दासी ने इतनी निष्ठा के साथ मेरी देख-भाल नहीं की होती तो मैं कब की मर चुकी होती। अब स्नान करके भोजन कर लो।' दासी ने शीघ्रता से भोजन तैयार कर लिया था। स्नान और भोजन के पश्चात् शंकर पुन: अपनी माता के पास गये।

उनकी माता ने तब उनसे कहा, 'मैं अब महाप्रयाण की तैयारी कर रही हूँ। मेरी अन्तिम इच्छा तुम्हें देखने की थी। तुम आ गये, अब मेरे लिए कुछ शेष नहीं रहा। अब मैं केवल अपने इष्ट को प्राप्त करना चाहती हूँ।' शंकर ने स्नेह के साथ कहा, 'माँ, एक बार तुम परमात्मा को जान लोगी तो तुम्हें मोक्ष की प्राप्ति हो जायेगी।' और उन्होंने अपनी माता को अनुभवातीत ज्ञान प्रदान करना प्रारम्भ किया। तब विशिष्टा देवी ने कहा, 'मैं तो इस विद्या से अनभिज्ञ हूँ। मैं अशिक्षित हूँ। मैं उस आत्म-ज्ञान को कैसे प्राप्त करूँ जो वाणी और मन से परे है? ओ मेरे शंकर! मुझे तो ईश्वर के प्रत्यक्ष दर्शन कराओ ताकि मैं उन्हें अपनी आँखों से देख कर स्वयं को धन्य कर लूँ।'

शंकर कुछ क्षण मौन रहे और फिर कहा, 'माँ, अपनी आँखें बन्द कर अपने मन को अपने इष्ट देवता में लीन कर दो। इस प्रकार तुम्हें उनके दर्शन होंगे।' तब करुणापूर्ण स्वर में उन्होंने महादेव और नारायण की आराधना की और उनका आवाहन किया।

उनकी माता को अपने इष्ट के साक्षात् दर्शन हुए, जो अपनी सम्पूर्ण महिमा के साथ प्रकट हुए थे और जो स्वर्ग में चमकने वाले हजारों सूर्य की तुलना में कहीं अधिक तेजोमय और देदीप्यमान् थे। तत्पश्चात् उन्होंने शंकर के सिर पर अपने दुर्बल हाथ रख कर उन्हें आशीर्वाद दिया, भगवान् आशुतोष तुम्हारी रक्षा करें, तुम्हें तुम्हारे लक्ष्य तक पहुँचायें और अपनी इच्छा पूरी करने में तुम्हें एक योग्य और सक्षम साधन बनायें।' इतना कह कर वे अपना पार्थिव शरीर अपने प्रिय शंकर की गोद में त्याग कर अनन्त में विलीन हो गयीं।

एकाकी पथिक

सूर्य की किरणें पर्वतों के हिम-किरीट पर सोने की तरह चमक रही थीं। आकाश स्वच्छ नीली छतरी-सा तना हुआ था। उजले बादलों के कुछ टुकड़े रुई के गट्ठरों की तरह आकाश से लटके हुए थे और ऊँची उड़ान भरने वाले पक्षी तो हिमालय के विस्तार को नापने वाले आकाश की गरिमा में चार चाँद

लगा रहे थे। यह ऐसा निर्जन स्थान था जहाँ एक-दो वृक्षों का दृष्टिगत होना भी कठिन था, वहाँ की मिट्‌टी जो बंजर थी। इधर-उधर पृथ्वी की सतह को भेद कर निकले हुए पत्थर यूँ प्रतीत होते थे मानो पर्वतीय मार्गों की सुरक्षा के लिए चिरन्तन काल से प्रहरी खड़े हों। सम्पूर्ण दृश्य विशेष सौन्दर्य से स्पंदित हो रहा था। पद्‌मपाद, सुरेश्वराचार्य, हस्तामलक एवं त्रोटकाचार्य अपने गुरु शंकर को एकाकी पथिक के रूप में जाता हुआ देख रहे थे, उनकी आकृति धीरे-धीरे क्षितिज में विलीन हुई जा रही थी। वे नंगे पैर हिमाच्छादित पर्वत शृंखलाओं की गोद में स्थित एकान्त-नीरव केदारनाथ की ओर जा रहे थे। उसे ही उन्होंने अपने अन्तिम विश्राम के आश्रय के रूप में चुना था।

अपने बत्तीसवें वर्ष में, जो उनके जीवन का अन्तिम वर्ष था, शंकर अपने असंख्य शिष्यों के साथ बद्रिकाश्रम आये। उन्होंने अपने शिष्यों को सनातन वैदिक विचारों और ज्ञान को सुरक्षित रखते हुए उनका प्रचार-प्रसार करते रहने का अन्तिम निर्देश दिया। उस समय तक वैदिक सिद्धान्त धीरे-धीरे सामान्य जनों के बीच विस्तीर्ण हो कर गहराई में पैठ चुके थे। विदेशी, अवैदिक सम्प्रदायों के प्रभाव कम हो चुके थे। इसके बाद उन्होंने अपने चार निकटतम शिष्यों को बुला कर कहा, 'शरीर धारण करने का मेरा उद्‌देश्य पूरा हो चुका है। अब तुम लोग सर्वोच्च वेदान्तिक सत्य के जीवन्त उदाहरण बनो और देश के कोने-कोने में इन सिद्धान्तों का प्रचार करो। ईश्वरेच्छा ने इस आत्मा का मार्गदर्शन किया वही आगे भी पथ प्रदर्शित करती रहेगी। अब मुझे विदा दो।'

इतना कहकर वे अपने उन्हीं चार शिष्यों के साथ केदारनाथ की ओर चल पड़े। एक स्थान पर पहुँच कर उन्होंने शिष्यों को अपने साथ आगे बढ़ने से रोक दिया और कहा, 'अब जिस पथ पर मुझे जाना है वहाँ किसी मानव साथी की आवश्यकता नहीं, इसलिए तुम लोग यहीं रुक जाओ।' शिष्यों ने शंकर से विनती की कि वे उन लोगों को अपने साथ चलने दें ताकि आवश्यकता पड़ने पर वे लोग उनकी सहायता कर सकें। किन्तु उन्होंने कहा, 'ईश्वर मेरे साथ हैं, वे ही मेरा मार्ग-दर्शन करेंगे', और सभी सहायता को अस्वीकार करते हुए वे अकेले ही निकल पड़े। शिष्य, जो स्वयं को अकेला अनुभव कर रहे थे, बर्फ पर ही बैठ गये और अपने गुरु को हिमालय शृंखलाओं में ओझल होते हुए देखते रहे। प्रत्येक शिष्य अपने ही विचारों में खोये हुये थे। उन सब को एक लक्ष्य पूरा करना था जो शंकर ने उनके लिए निर्धारित किये थे।

उनका ध्यान उस विशेष क्षण पर चला गया जब शंकर शृंगेरी में अपने अनुयायियों के बीच वेदान्तिक ज्ञान की चर्चा कर रहे थे। अचानक उन्होंने बीच में ही व्याख्यान बन्द कर दिया और अपने कक्ष में चले गये। ये चारों शिष्य उनके पीछे-पीछे गये थे। वहीं शंकर ने बताया था कि उनकी माता मृत्यु-शैय्या पर है और उन्हें स्मरण कर रही हैं। इसलिए उन्हें तत्काल उनके पास होना चाहिए था। शिष्य भी नव-स्थापित मठ के कार्यों की व्यवस्था करके जाने को उत्सुक थे। वे शंकर से पूछने लगे कि बिना किसी पूर्व तैयारी के वे इतनी लम्बी यात्रा किस प्रकार करेंगे। शंकर ने हँस कर कहा था, 'ईश्वर ही उपाय बतायेंगे।' उसके बाद उन्होंने स्वयं को अपने कक्ष में बन्द कर लिया और जब शिष्यों ने कक्ष का द्वार खोला तो वे वहाँ नहीं थे। लोगों का विश्वास है कि अपनी यौगिक शक्ति से उड़कर अपनी बीमार माता के पास चले गये।

जब शंकर के शिष्य कालडि पहुँचे तब तक उनकी माता अपना पार्थिव शरीर छोड़ चुकी थीं। माता की इच्छा के अनुसार शंकर ने स्वयं उनके अन्तिम संस्कार किये थे। शंकर ने सारी पारिवारिक सम्पत्ति उस वृद्धा दासी को दे दी और उसकी सुविधाओं की व्यवस्था कर दी। शंकर जब कालडि में ही थे, तो केरल प्रदेश के राजा राजशेखर ने उनसे वहाँ कुछ अधिक समय तक रह कर प्रदेश की सामाजिक प्रगति के लिए वैदिक परम्परा को पुनर्व्यवस्थित करने का अनुरोध किया था।

केरल में कुछ समय व्यतीत करने के पश्चात् शंकर अपने अनुयायियों के साथ यात्रा पर निकल पड़े-सामान्य जनों के हृदय में पुन: धर्म की ज्योति प्रज्वलित करने। केरल के राजा राजशेखर और कर्नाटक के राजा सुधन्वा भी अपने-अपने परिजनों को लेकर उनके साथ हो लिये। शंकर के शिष्यों द्वारा किये गये मंत्रोच्चार ने उनके मार्ग में आने वाले सभी जनों के हृदय में, मन में गुंजार भर दिया। वे नगर-नगर, गाँव-गाँव और असंख्य तीर्थ-मन्दिरों की यात्रा तब तक करते रहे जब तक लोगों को एक नयी और सुनिश्चित दिशा नहीं मिल गयी।

मध्यार्जुन तीर्थ पहुँचने पर शंकर ने भगवान् शिव के मन्दिर में अनेक पण्डितों के सम्मुख वेदान्त के अद्वैत सिद्धान्त की विवेचना की। जब उनके अद्वैत सिद्धान्त की वैधता पर सन्देह किया जाने लगा तो शंकर ने ईश्वर का ध्यान किया और उनसे प्रार्थना की कि वे विद्वानों को इस सिद्धान्त की

प्रामाणिकता का कोई संकेत दें। तत्पश्चात् आकाशवाणी हुई, 'अद्वैत ही सत्य है।' और इसे सभी ने सुना।

इस घटना के बाद शंकर श्रीरंगम् होते हुए रामेश्वरम् गये। श्रीरंगम् में वैष्णव सम्प्रदाय के प्रमुख तथा उनके अनुयायियों के साथ उन्होंने शास्त्रार्थ किया तथा उन्हें पाँच प्रकार के महायज्ञों की शिक्षा दी–1. ब्रह्मयज्ञ–शास्त्रों का अध्ययन; 2. पितृयज्ञ–पूर्वजों को अर्पण; 3. होमयज्ञ–अग्नि होत्र इत्यादि, 4. बलियज्ञ–ईश्वर द्वारा सृजित जीवों की सेवा, 5. नृयज्ञ–अतिथि सत्कार। श्रीरंगम् में उनके अनेक अनुयायी बन गये थे।

उत्तर की यात्रा के क्रम में शंकर प्रयाग और वाराणसी गये। वहाँ उन्होंने सांख्य पद्धति को मानने वालों, शैवों, शाक्तों, मीमांसकों, चार्वाकों, कर्मकाण्डियों, योगियों, तंत्र की विभिन्न शाखाओं को मानने वालों, लक्ष्मी, सरस्वती, गणेश इत्यादि के उपासकों के साथ वाद-विवाद किया और उन सब को वैदिक धारा से जोड़ दिया।

वाराणसी से शंकर सौराष्ट्र गये। उस क्षेत्र में उन्होंने अनेक तीर्थों के दर्शन किये और द्वारिका में एक मठ की स्थापना भी की। यहाँ भी उन्होंने सांख्यों, बौद्धों और जैनियों के साथ वाद-विवाद किया। इसके बाद वे कश्मीर गये और श्रीनगर के ही एक मन्दिर में उन्होंने सौन्दर्य लहरी की रचना की। वहाँ से उन्होंने बिहार, बंगाल और आसाम की यात्रायें की, जहाँ उन्होंने वैदिक परम्पराओं और धर्म के ज्ञान तथा उन सब के विषय में अपनी स्पष्ट धारणा से प्रत्येक व्यक्ति का हृदय जीत लिया।

प्राग्ज्योतिषपुर (आसाम) में शंकर को नासूर के कारण अत्यन्त कष्ट झेलना पड़ा। उन्हें अपने शिष्यों का स्मरण हो आया जो अब भी बर्फ से ढँके केदारनाथ की निचली पहाड़ियों पर बैठे हुए थे। आसाम तांत्रिकों के लिए प्रख्यात था, विशेषकर प्राग्ज्योतिषपुर के आस-पास का वह क्षेत्र जिसे कामरूप के नाम से जाना जाता था। यहीं शंकर कामाख्या के मन्दिर में भी दर्शन के लिए गये थे। और यहीं पर अभिनव गुप्त के नेतृत्व में कुछ बौद्ध तांत्रिकों ने शंकर को शास्त्रार्थ के लिए चुनौती दी थी और वे सभी उनकी अन्तर्दृष्टि एवं बुद्धि के द्वारा पराजित भी हो गये थे। पराजय से आहत होकर उन तांत्रिकों ने शंकर के विरुद्ध तांत्रिक अनुष्ठान किये जिसके कारण उन्हें अत्यन्त कष्टकर नासूर हो गया। नासूर से भयंकर पीड़ा के साथ ही मवाद और खून भी आने लगे थे, किन्तु पीड़ा और गिरते स्वास्थ्य के बावजूद शंकर ने शान्ति और

सन्तुलन बनाये रखा। उस समय उनके शिष्यों को ऐसा प्रतीत हो रहा था कि वे अधिक दिनों तक जीवित नहीं रह पायेंगे। किन्तु एक बार फिर पद्मपाद ने शंकर को उनके कष्ट से उबारा, उसने अभिनव गुप्त की दुर्भावनापूर्ण वृत्ति को भाँप लिया और समुचित शान्ति कर्म किये ताकि तांत्रिक दुष्प्रभावों को निष्क्रिय किया जा सके। उसके बाद शीघ्र ही शंकर ने स्वास्थ्य लाभ किया।

इसके बाद शंकर गौड़ देश (उत्तरी बंगाल) आ गये और वहाँ के राजा को उन्होंने वेदान्तिक सिद्धान्तों का प्रचार करने की प्रेरणा दी। यहीं पर शंकर को अपने दादा गुरु, आचार्य गौड़पाद के दर्शन हुए। एक शाम जब शंकर गंगा नदी के तट पर बैठे चिन्तन में लीन थे, तभी काल से अप्रभावित एक देदीप्यमान वृद्ध आकृति, उनके समक्ष प्रकट हुई। शंकर ने उन्हें प्रणाम किया। वृद्ध ने कहा, 'प्रिय शंकर, तुमने मेरे शिष्य गोविन्दपाद से मोक्ष प्राप्ति का परम ज्ञान प्राप्त कर लिया है। मुझे संतोष है कि तुमने वैदिक धर्म को पुन: स्थापित करने का महान् कार्य किया है, और शास्त्रों की व्याख्यायें लिखी हैं। तुम मुझसे कुछ मांगो।' शंकर ने उत्तर दिया, 'हे महान् गुरु! आपकी दृष्टि तो परमेश्वर की जीवन्त हो उठी दृष्टि के समान है। मुझे यह वरदान दें कि मैं स्वयं को उस परमात्मा के ध्यान में लीन कर दूँ जो सत्, चित् और परमानन्द है।' गौड़पाद ने शंकर को आशीर्वाद दिया और विलीन हो गये।

कुछ दिनों बाद शंकर ने नेपाल और तिब्बत की यात्रा की। वहाँ भी उन्होंने लोगों के बीच धर्म को पुन: जाग्रत किया। फिर धीरे-धीरे उन्होंने स्वयं को बद्रिकाश्रम और केदारनाथ की ओर मोड़ दिया। सूर्य अस्ताचल पर था और पर्वतों से बर्फीली हवायें उठने लगी थीं। शिष्य अब भी अपने बोझिल हृदयों से शंकर के उन चरण-चिह्नों को देख रहे थे जो अनन्त की ओर जा रहे थे। अन्तत: उन्होंने उठकर चरण-चिह्नों को प्रणाम किया। एक ही वाक्य उनके ओठों पर बार-बार आ रहा था, 'विश्व गुरु, आचार्य, कलियुग के ऋषि शंकर की जय हो। शंकराचार्य की जय हो।' धीरे-धीरे वे बद्रिकाश्रम की ओर उतरने लगे। विश्राम के पूर्व उन्हें मीलों चलना था। चलते जाना था, क्योंकि उन्हें एक लक्ष्य जो पूरा करना था।

कार्य एवं प्रतिष्ठान

शंकर के महाप्रयाण के विभिन्न वृत्तान्त हैं। कुछ लोगों का कहना है कि दत्तात्रेय की गुफा में उनसे आशीर्वाद प्राप्त करने के बाद शंकर ने कैलाश पर्वत पर

शरीर त्याग किया। कुछ विश्वास करते हैं कि उन्होंने कांची में अपने पार्थिव शरीर को त्यागा, जबकि अन्य मानते हैं कि मालाबार त्रिचुर में स्थित परशुराम-मन्दिर में उन्होंने स्वयं को परशुराम की मूर्ति के साथ एकरूप कर दिया। फिर भी अधिकतर इतिहासज्ञ इस बात पर एकमत हैं कि शंकर केदारनाथ क्षेत्र में परमात्मा के साथ एकात्म हो गये थे। तथ्य कुछ भी हो, किन्तु यह सभी स्वीकार करते हैं कि शंकर ने बत्तीस वर्षों की अल्पायु में जितने कार्य कर दिये, उतना करने के लिए एक सामान्य मनुष्य को अनेक जन्म लेने पड़ते। उन्होंने भारत की सम्पूर्ण धार्मिक और आध्यात्मिक संरचना को बदल डाला, संन्यासियों के बिखरे हुए समूहों को पुनर्व्यवस्थित किया और वैदिक आन्दोलन को एक ठोस और निश्चित दिशा दी। इस आन्दोलन का अनुसरण करने वाले उत्साही जिज्ञासु आज सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त हैं।

इस महान् देव पुरुष ने अपनी दूरदर्शी अन्तर्दृष्टि के द्वारा भारत के सभी तपस्वियों, ऋषियों, योगियों और साधुओं को, जो उद्देश्यहीन और दिशाहीन भटक रहे थे, संन्यास की प्राचीन वैदिक परम्परा से बाँध दिया। उन्होंने सम्पूर्ण देश के भ्रमण के क्रम में देश के चारों कोनों पर चार मठों की स्थापना की। प्रत्येक मठ में उन्होंने अपने एक शिष्य को संन्यासियों का दिग्दर्शन करने और वैदिक ज्ञान के प्रचार-प्रसार के महत्कार्य के संचालन के लिए 'मठाधीश' के रूप में रखा। उन मठों के विषय में कुछ जानकारी इस प्रकार है–

1. *कालिका मठ*– पश्चिमी भारत में द्वारिका स्थित, आचार्य– हस्तामलक, वेद– सामवेद, महावाक्य– तत्त्वमसि, सम्प्रदाय– कीतवर, संन्यासियों के लिए उपनाम– तीर्थ, आश्रम।

2. *विमला मठ*– पूर्वी भारत में पुरी स्थित, आचार्य– पद्मपाद, वेद– ऋग्वेद, महावाक्य– प्रज्ञानम् ब्रह्म, सम्प्रदाय– भोगवर, उपनाम– वन, अरण्य।

3. *ज्योतिर् मठ*– उत्तर भारत में बद्रिकाश्रम स्थित, आचार्य– त्रोटकाचार्य, वेद– अथर्व वेद, महावाक्य– अयमात्म ब्रह्म, सम्प्रदाय– आनन्दवर, उपनाम– गिरि, पर्वत, सागर।

4. *शारदा मठ*– दक्षिण भारत में श्रृंगेरी स्थित, आचार्य– सुरेश्वराचार्य, वेद– यजुर्वेद, महावाक्य– अहं ब्रह्मास्मि, सम्प्रदाय– भूरिवर, उपनाम– भारती, पुरी, सरस्वती।

इन मठों को इनके स्थान के नाम से भी जाना जाता है, जैसे– द्वारका मठ, जोशी मठ, श्रृंगेरी मठ।

संन्यास सम्बन्धी दृष्टिकोण

शंकराचार्य एक महान् आध्यात्मिक प्रणेता तो थे ही, वे एक क्रांतिकारी भी थे। उन्होंने अपने समय के उन सभी विचारों, सिद्धान्तों और धर्मों के विरुद्ध संघर्ष किया जिन्हें वे परम ज्ञान की प्राप्ति के लिए अपर्याप्त या बाधक समझते थे। वे संन्यासियों में एक ऐसी उच्चतर चेतना का विकास करना चाहते थे जिसके द्वारा वे एक सामान्य व्यक्ति से अधिक जागरूक रहें, दूसरों को ज्ञान दें और उन्हें ऐसा जीवन जीने की प्रेरणा दें जिससे वे लोग अपने अन्दर की आध्यात्मिक क्षमता को जाग्रत कर सकें, इसके साथ ही उस विशेष जीवन शैली और उनकी आध्यात्मिक उत्कण्ठा का तत्कालीन धार्मिक धारणाओं से कोई सम्बन्ध नहीं हो। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उन्होंने महान् विद्वानों और पण्डितों के साथ वाद-विवाद के द्वारा यह प्रमाणित कर दिया कि उन सब का बौद्धिक शास्त्रार्थ निरर्थक था–ब्राह्मणों का बौद्धों के विरुद्ध द्वन्द्व, बौद्धों का जैनों के विरुद्ध, जैनों का मुसलमानों के विरुद्ध द्वन्द्व या और भी इस प्रकार के द्वन्द्व सब व्यर्थ थे, निरर्थक थे।

शंकराचार्य एक ऐसे शिक्षक थे जिन्होंने बौद्धिक जागरूकता से अधिक अन्त:प्रज्ञा को सजग बनाये रखने पर बल दिया। उन्होंने इस बात को समझा था कि लोगों को अन्त:प्रज्ञात्मक सजगता की नयी धारणा से परिचित कराने के लिए प्रशिक्षण प्रक्रिया को एक उपयुक्त वातावरण देने की आवश्यकता थी। अन्त:प्रज्ञा को उत्प्रेरित करने वाला यह वातावरण आश्रम या मठ में ही प्राप्त हो सकता था जिसका संचालन एक गुरु या आचार्य ही कर सकते थे। शंकर ने आश्रम के वातावरण में अध्यापन प्रारम्भ किया तथा उनके चार मुख्य केन्द्र थे। उनके समय में ही ये स्थान शिक्षा के मान्य केन्द्रों के रूप में प्रख्यात हो गये थे।

शंकाराचार्य के समय से ही वैदिक परम्परा, अर्थात् ऋषि परम्परा का ह्रास प्रारम्भ हो गया था, क्योंकि लोगों की आध्यात्मिक जागरूकता का स्थान सांसारिकता के प्रति रुझान ने ले लिया था। इसलिए शंकर ने अपने संन्यास सम्प्रदाय के लिए ऋषि परम्परा को नहीं अपनाया, बल्कि इसके लिए उन्होंने केवल ब्रह्मचारियों, ऐसे अविवाहित संन्यासियों को लिया जो उनके द्वारा निर्धारित किये गये सिद्धान्तों का कठोरता से पालन करते। उन्होंने कहा कि उनके सम्प्रदाय के लिए उनके शिष्यों को वेदोक्त ब्रह्मचर्य, गृहस्थ एवं वानप्रस्थ के पश्चात् संन्यास आश्रम में प्रवेश करने

की आवश्यकता नहीं। उन्होंने अपने शिष्यों को सीधे संन्यास में दीक्षित किया, किन्तु यह संन्यास उस संन्यास से सर्वथा भिन्न था जिसका अभ्यास ऋषि-तपस्वी किया करते थे। शंकर के संन्यास का लक्ष्य और उसकी दिशा बिल्कुल अलग थी।

शंकर के आगमन के पूर्व संन्यास मात्र व्यक्तिगत उपलब्धि का एक मार्ग था। शंकर ने अनुभव किया कि इस प्रकार का व्यक्तिपरक अनम्य त्याग न तो संन्यासी को लाभान्वित करता था और न ही समाज के लिए इसकी कोई उपयोगिता होती थी। अत: शंकर ने संन्यासियों के एक ऐसे सम्प्रदाय की रचना की जो आने वाली पीढ़ियों के आध्यात्मिक पथ का प्रकाश-स्तम्भ बन गया। इस सम्प्रदाय का उद्देश्य था सही ज्ञान, सही समझ, उपयुक्त साधना तथा चेतना की रूपान्तरित अवस्थाओं को उपलब्ध करने की विधियों का संरक्षण करना ताकि सामान्यजन परम तत्त्व को प्राप्त करने में सक्षम हो सकें।

धीरे-धीरे शंकर ने अपने संन्यासियों को अपनी अन्तर्दृष्टि और अन्तश्चेतना को जाग्रत करना सिखाया जिसके माध्यम से वे अन्तत: उस परम सत्य का अनुभव प्राप्त कर सकें। शंकराचार्य के अद्वैत सिद्धान्त का मूल तत्त्व यही था। संन्यास के किसी भी प्रकार या किसी भी स्तर के लिए यह प्रशिक्षण अनिवार्य है, क्योंकि इसके द्वारा संन्यासी अपने अन्दर की एकात्मिका शक्ति के प्रति सजग होते हैं। यदि हम शास्त्रों का गम्भीरता से अध्ययन कर उन पर मनन करें तो पायेंगे कि उनमें निहित ज्ञान सृष्टि के प्रत्येक अंश, प्रत्येक क्रिया, विचार, आवेग, इच्छा, भावना, अर्थात् जीवन के सभी पक्षों को एक अदृश्य श्रृंखला में आबद्ध किये हुए है। जब लोग इस बात को समझने लगते हैं कि मानव स्वभाव को वे अपनी सामान्य समझ से जितना परख सकते हैं वह उससे महत्तर है, उत्कृष्ट है तो शास्त्रों पर आत्मचिन्तन करने का आयाम अधिक विस्तीर्ण हो जाता है।

शंकर ने सभी धर्मों, सिद्धान्तों और विचारों के पीछे छिपा ज्ञान अपने शिष्यों को दिया ताकि वे उन सब की समानताओं को पहचाने और समझें, क्योंकि केवल एक धर्म, एक सिद्धान्त या एक विचार अपने आप में पर्याप्त नहीं होता। इसके लिए उन्होंने वस्तुत: सभी शास्त्रों, वेदों, उपनिषदों एवं गीता का उपयोग किया जो विभिन्न अतिमानसों के महत् सत्यान्वेषण का प्रतिनिधित्व करते हैं।

कर्म के विषय में शंकर ने कहा कि परमात्मा को अनुष्ठानों के द्वारा नहीं, बल्कि ज्ञान के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। उन्होंने इस पर बल दिया है कि ज्ञान प्राप्ति के साथ ही कर्मों का प्रभाव धीरे-धीरे समाप्त होने लगता है। किसी भी प्रकार का कर्म मोक्ष के मार्ग में बाधा उत्पन्न करता है, यह सांसारिक चक्र में उलझा कर इस स्थूल संसार में बाँध देता है। केवल ब्रह्मज्ञान अज्ञान दूर कर मोक्ष प्रदान करता है।

शंकर के अनुसार संन्यास नितांत अनिवार्य है, चाहे विविदिशा संन्यास हो या विद्वत् संन्यास। पूर्ण त्याग के बिना ब्रह्मज्ञान के मार्ग पर चलना सम्भव नहीं है। संन्यास के लिए जिन आवश्यक गुणों पर उन्होंने बल दिया वे इस प्रकार हैं–

- किसी वस्तु या संघटना की शाश्वतता एवं क्षणभंगुरता के बीच विभेद कर पाना।
- इहलोक एवं अन्य लोक में सुख प्रदान करने वाले वस्तुओं के प्रति विरक्त रह पाना।
- साथ ही इन गुणों का होना–1. मानसिक शान्ति 2. इन्द्रियों पर नियंत्रण 3. सभी सांसारिक क्रियाओं से मुक्ति 4. हर प्रकार की परिस्थिति को समान रूप से सहन करने की क्षमता, जैसे–ठण्ढक-गर्मी, सुख-दुःख, प्रेम-घृणा इत्यादि 5. मन को एकाग्र करने की क्षमता।
- ज्ञान और मोक्ष के प्रति उत्कण्ठा या आकांक्षा।

इस सम्बन्ध में जनक का उदाहरण देकर यह कहना कि उन्हें गृहस्थ होने के बावजूद ब्रह्मज्ञान प्राप्त हुआ, मूर्खतापूर्ण है। इस तरह के उदाहरण वे ही देते हैं, जो अपनी आसक्तियों और सांसारिक बन्धनों से मुक्त नहीं होना चाहते हैं। ज्ञान ही उन बन्धनों से मुक्त करने में सहायक होता है। सांसारिक बन्धनों से मुक्त हुए बिना आत्मज्ञान की प्राप्ति दुष्कर होगी। इन विचारों का तात्पर्य यह कदापि नहीं कि संन्यासी मानव समाज के मूल्यों को हीन समझे, मनुष्यों की सेवा न करे और उन्हें यूँ ही त्याग दे। एक संन्यासी आध्यात्मिक विकास की विभिन्न अवस्थाओं से होता हुआ ज्ञानातीत स्तर तक पहुँचता है और साथ ही वह मानवता के कल्याण में अपनी अप्रत्यक्ष किन्तु प्रभावशाली शक्ति का उपयोग करता है।

स्वर्ग के देवताओं के बीच स्थान प्राप्त कर लेना ही मानव-मात्र का सर्वोच्च लक्ष्य नहीं। कर्मों के परे भी कुछ है, जो क्षणभंगुर जीवन तथा नैसर्गिक सुखों

से अधिक उत्कृष्ट है। यहाँ तक कि देवता भी स्वर्गिक–संसार के दु:खों से मुक्त नहीं और वस्तुत: वे भी सही अर्थों में अमर नहीं। श्रुतियों ने यह घोषित किया है कि केवल ब्रह्म ही अनुभवों से बँधे इस संसार से परे हैं। शान्तम्, शिवम्, सुंदरम्, अद्वैतम् को प्राप्त करने के लिए दृढ़ संकल्प व्यक्ति ही इस संसार का सबसे उपयोगी और शक्तिशाली मित्र है।

सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् ॥

जो प्रारम्भ में केवल एक था, अद्वितीय था।

(छांदोग्य उपनिषद् **VI**: 2–1)

आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् ।

जड़-चेतनमय प्रत्यक्ष जगत् के इस रूप में प्रकट होने से पहले कारण अवस्था में एकमात्र परमात्मा ही थे। (ऐतरेय आरण्यक 114–1)

तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यमयमात्मा ।

यह ब्रह्म अपूर्व (कारणरहित), अनपर (कार्यरहित), अनन्तर (विजातीय द्रव्य से रहित) और अबाह्य है। यह आत्मा ही सबका अनुभव करने वाला ब्रह्म है। (बृहदारण्यक उपनिषद् 2–5–19)



स्वामी शिवानन्द

युगों-युगों से आध्यात्मिक ज्ञान की ज्योति से प्रदीप्त पुरुष जन चेतना का उत्थान करने और गमनीय पथ को प्रदर्शित करने विश्व में समय-समय पर आते रहे हैं। स्वामी शिवानन्द भी ऐसे ही महिमाशाली पुरुष थे, जिन्होंने सम्पूर्ण विश्व के सैंकड़ों-हजारों मनुष्यों को आध्यात्मिक मार्ग पर दिशा निर्देश करने के लिए जन्म लिया था। वे न तो कभी पश्चिम आये और न कभी पूरब गये, किन्तु फिर भी वे सर्वत्र हैं।

–स्वामी सत्यानन्द सरस्वती

जन्म एवं बाल्यकाल

मंगलवार, 16 जुलाई सन् 1963 ई० की संध्या, संन्यासियों के एक झुण्ड ने ऋषिकेश की गंगा के पवित्र जल में स्नान कर अपनी थकान दूर की, किन्तु उनका अवसाद नहीं मिटा। वे सब नदी तट पर बैठ गये, उनकी दृष्टि डूबते हुए सूरज पर टिकी हुई थी, किन्तु उनका ध्यान कहीं और था, वे सब अपने-अपने विचारों में खोये हुए थे।

अन्ततः एक युवा संन्यासी बोल उठा, जिसकी भावनाएँ उसके चेहरे से झलक रही थीं। उसने अपने समूह के ज्येष्ठ संन्यासी को धीरे से सम्बोधित कर रोते हुए कहा, "स्वामीजी! हम सब के लिए कितना कठिन है यह समय।" ज्येष्ठ संन्यासी ने कहा, "हाँ किन्तु हमें दुःखी नहीं होना चाहिए। यद्यपि हमारे गुरु जा चुके हैं, फिर भी उनका मिशन अब भी हमारे बीच है। स्वामीजी के मिशन की मर्यादा को बनाये रखना तथा उसका प्रचार-प्रसार करना हमारे हाथ में है।"

स्वामी चिदानन्द नाम था उन ज्येष्ठ संन्यासी का। वे स्वामी शिवानन्द की चमत्कारपूर्ण महासमाधि का उल्लेख कर रहे थे, जो एक रात पहले घटित हुई थी। ये सभी शिष्य पद्मासन में रखे गये अपने गुरु के शरीर के पास बैठ कर सारी रात धीरे-धीरे महामंत्र का जाप करते रहे थे और साथ ही अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करने आये हुए आश्रमवासियों का मार्ग निर्देश कर रहे थे। प्रात: होने पर शंखनाद और घंटियों की ध्वनि के साथ उनकी अर्थी को उठा कर सावधानी से गंगा तट पर लाया गया और पूरे अनुष्ठान के साथ उनके पवित्र शरीर को स्नान कराया गया। शिष्यगण पवित्र मन्त्रों का लगातार उच्चारण करते हुए स्वामी जी के शरीर को विश्वनाथ मन्दिर पर्वत पर स्थित आश्रम ले आये, जहाँ उन्हें अत्यन्त संवेदना के साथ समाधिस्थ किया गया।

स्वामी चिदानन्द की बातों से प्रेरित होकर अनेक युवा संन्यासी आपस में गम्भीरता से इस घटना की चर्चा कर रहे थे। कुछ देर बाद उनमें से एक ने पुन: स्वामी चिदानन्द की ओर उन्मुख हो कर कहा, 'स्वामी जी हममें से अनेक इस आश्रम में नये हैं। यद्यपि हमलोगों ने स्वामी जी की दिव्य करुणा और दया स्वयं अपनी आँखों से देखी और अनुभव की है, किन्तु हमलोग उनके अतीत, उनके बाल्यकाल, उनके त्यागपूर्ण मार्ग तथा इस आश्रम में उनके प्रारम्भिक दिनों के विषय में कुछ भी नहीं जानते हैं। कृपया हमें हमारे गुरु के विषय में बतायें।'

स्वामी चिदानन्द ने उन उत्सुक चेहरों को स्नेहपूर्ण मुस्कान के साथ देखा जो उनसे अनुनय-विनय कर रहे थे। उन्होंने मुस्कुराते हुए कहा, 'अपने गुरु के विषय में बोलना मेरे लिए सदा प्रसन्नता और गौरव की बात रही है।' इसके बाद वे आराम से बैठ गये और फिर कथा प्रारम्भ हो गयी।

'स्वामीजी का जन्म और उनका बाल्यकाल उनके भावी जीवन की तैयारी के समान था। उन्होंने स्वयं अपने बचपन की बातें मुझे बतायी थीं, इसलिए क्रमश: प्रकट होती गयी उनकी महानता के विषय में मैं थोड़ा बता सकता हूँ। उनका जन्म दक्षिण भारत में ताम्रपर्णी नदी के तट पर स्थित पट्टमडाई नामक गाँव में 8 सितम्बर सन् 1887 ई० को हुआ था। उनके पिता वेंगु अय्यर शिव-भक्त और एक संत-विद्वान् अप्पाया दीक्षितार के वंशज थे। उनकी माता एक ग्रामीण स्त्री थीं। दोनों अत्यन्त सरल, भक्त और धार्मिक प्रकृति के थे। अपने तीसरे पुत्र के जन्म पर वे अत्यन्त प्रसन्न हुए और उन दोनों ने उसका नाम कुप्पूस्वामी रखा। उनके जन्म के पूर्व ही उन लोगों को शुभ संकेत मिलने

लगे तो उन्हें विश्वास हो गया कि स्वयं अप्पाया दीक्षितार ही पुनर्जन्म ले रहे हैं। अप्पाया दीक्षितार एक शैव थे, किन्तु उन्होंने एक बार एक वैष्णव मन्दिर में जाकर व्यंकटेश्वर की मूर्ति को शिवलिंग में परिवर्तित कर दिया और पुनः मूर्ति को पूर्व रूप में ला दिया। यह घटना मानो भविष्य में होने वाले महान् परिवर्तनों की उद्घोष थी। स्वामी शिवानन्द ने सभी मतों और सम्प्रदायों की भिन्नताओं को परे रख यह घोषित किया था कि ईश्वर एक हैं।'

'बालक कुप्पू में जन्मजात ईश्वर-प्रेम था। अपने पिता के लिए पूजा के फूल-बेलपत्र इत्यादि लाने, वैदिक स्तोत्रों को सुनने तथा अपनी माता के साथ मन्दिर जाने में उन्हें बड़ी प्रसन्नता होती थी। कुछ ही दिनों में उन्होंने पूजा, कीर्तन आदि में उत्साह के साथ सक्रिय भाग लेना प्रारम्भ किया।'

मैंने सुना है कि बचपन से ही कुप्पूस्वामी को दान में बड़ा आनन्द आता था। उन्हें गरीबों पर बहुत दया आती थी। जब भी सम्भव होता वे नौकरों और भिखारियों के बीच मुक्त हृदय से भोजन बाँटते थे। पशु भी निर्भय होकर उनके हाथों से खाते थे। किसी एक विशेष उत्सव के अवसर पर कुप्पूस्वामी ने नयी धोती पहन रखी थी। अचानक उनकी दृष्टि एक निर्वस्त्र भिखारी पर गयी। उन्होंने तुरन्त अपनी धोती खोली और उस भिखारी को दे आये। जब उनकी माता ने उनकी इस दरियादिली का विरोध किया तो उन्होंने कहा, "देखो अम्मा, वह धोती पहनकर कितना प्रसन्न है। मुझसे अधिक उसे इसकी आवश्यकता थी।"

'कुप्पूस्वामी की माता अपने इस नादान बालक की इन आदतों के कारण परेशान रहती थीं। कुप्पूस्वामी का दुःसाहसिक कार्यों के प्रति रुझान एवं अंधेरे मुँह उठकर अपने प्रातः अभियान पर निकलना भी माता के लिए चिन्ता का कारण था। एक बार वे अपने घर से बारह मील दूर स्थित कजुगुमलाई के मन्दिर पैदल चले गये। उनकी माता तीन दिनों तक व्याकुलता से प्रतीक्षा करती रहीं, किन्तु वे चौथे दिन शाम में लौटे–भूखे और थके हुए, लेकिन उनका चेहरा आनन्द और भक्ति से चमक रहा था। स्वामी चिदानन्द अपने गुरु की चर्चा करते-करते उनके ही विचारों में खो गये, युवा संन्यासी ने उन्हें उनके क्षणिक मौन से बाहर खींचा, 'कृपया उनकी शिक्षा के विषय में बतायें-क्या दुःसाहसिक कार्यों के प्रति उनके प्रेम के कारण उनकी शिक्षा बाधित भी होती थी?'

चिदानन्द मानों स्वप्न से जागे, उन्होंने सिर हिलाया, 'अरे नहीं, कुप्पूस्वामी का अध्ययन के प्रति भी उतना ही उत्साह और उतनी ही रुचि रहती जितनी

किसी को स्नेह देने में। और तुम सब यह जानते हो कि उनके लिए शिक्षा के अन्तर्गत व्यायाम तथा खेलों का पूर्ण प्रशिक्षण भी आता था। वे प्रातः तीन बजे उठकर व्यायामशाला चले जाया करते थे और वहाँ पूरी शक्ति के साथ व्यायाम किया करते थे। किन्तु उस समय घर से निकलने के पूर्व वे तकिये को अपने स्थान पर रखकर उसे चादर से ढँक देते थे ताकि माता-पिता समझें कि पुत्र गहरी नींद में सो रहा है।' स्वामी शिवानन्द के नटखट स्वभाव की बात सुन कर शिष्य हँस पड़े, क्योंकि उनके इस स्वभाव से सभी परिचित थे, उनकी यह प्रकृति सबका मन मोह लेती थी।

'जब कि उनके सहपाठी कला और विज्ञान की उपाधियों के द्वारा विश्व में स्वयं को प्रतिष्ठित करना चाहते थे, कुप्पूस्वामी ने ऐसे स्वप्नों को अस्वीकार कर दिया था। उन्होंने कहा कि विश्व को अपने कृत्यों से आन्दोलित करने के स्वप्न देखने के बनिस्पत विश्व की पीड़ा को देखकर हमारे हृदयों को उद्वेलित होना चाहिए। उन्होंने डॉक्टर बनने का निश्चय किया ताकि उस ज्ञान के माध्यम से लोगों के कष्ट कम कर सकें। अपने माता-पिता के विरोध के बावजूद कुप्पूस्वामी ने तंजोर मेडिकल कॉलेज में प्रवेश ले लिया और पूरे उत्साह और रुचि के साथ अध्ययन में संलग्न हो गये। अध्ययन की सम्पूर्ण अवधि में उनका प्रभावशाली व्यक्तित्व कभी ऑपरेशन कक्ष में परिलक्षित होता, तो कभी मध्यावकाश में भी किताबों पर झुका हुआ। लम्बे अवकाशों में भी जब अन्य छात्र अपने घरों में आराम कर रहे होते, आमोद-प्रमोद में डूबे हुए होते, तो वे उस समय भी अध्ययन में लीन रहते।'

चिदानन्द बोलते जा रहे थे, 'मैं समझता हूँ कि उसी अवधि में उनके साथ ऐसी घटना घटी जिसने जाति-भेद की दुर्भावना को उनके मन से, उनके जीवन से पूरी तरह निकाल बाहर किया। वे एक अछूत शिक्षक से तलवार चलाना सीख रहे थे। एक दिन अभ्यास के समय एक ब्राह्मण दर्शक ने उन्हें फटकारा, "ओह कुप्पू! एक ब्राह्मण होकर तुम एक अछूत के छात्र बने हुए हो?" घर लौटने पर भी ब्राह्मण की वह बात उनके मन को मथती रही। वे चिन्तन करते-करते ध्यान में लीन हो गये। तभी भगवान् शिव की आकृति, जिसकी पूजा वे अपने पिता के पूजाकक्ष में किया करते थे, पूर्ण गरिमा के साथ उनके सम्मुख प्रकट हुई और अछूत के हृदय में प्रवेश कर गयी। कुप्पूस्वामी तुरन्त उठे, कुछ फूल, मिष्ठान्न और वस्त्र लेकर उस अछूत के पास गये, उसे माला पहनाई, उसके पैरों पर फूल चढ़ाये और साष्टांग प्रणाम किया। इस प्रकार कुप्पूस्वामी

के प्रारम्भिक जीवन में ही ईश्वर ने उन्हें यह प्रदर्शित कर दिया कि जाति-भेद अनुचित और अन्यायपूर्ण है, और तब इसी आधार पर डॉक्टर बनने के बाद उन्होंने ब्राह्मण और अछूत, सब की समान रूप से सेवा की, इलाज किया।

लगातार बोलते रहने से चिदानन्द थक गये थे, इसलिए वे पुन: रुक गये। उन्होंने दाहिनी ओर बैठे हुए अपने मित्र स्वामी कृष्णानंद से, जो उनकी बातें बहुत ध्यान से सुन रहे थे, अनुरोध किया, 'आप तो मलाया में स्वामीजी के कार्यों के विषय में जानते हैं। वहाँ की कठिन परिस्थितियों में भी उनकी नि:स्वार्थ सेवा की कथा इन युवा संन्यासियों को सुना दें।' कृष्णानंद ने सिर हिला कर सहर्ष कथा की डोर थाम ली।

मलाया में डॉक्टर

'विस्मयकारी प्रतिभा का प्रदर्शन करते हुए कुप्पूस्वामी ने डॉक्टरी की उपाधि प्राप्त की और तत्पश्चात् उन्होंने तिरुची के एक डॉक्टर के सहायक के रूप में कार्य आरम्भ किया। उन्होंने इस तथ्य को समझा कि कष्ट में पड़े हुए लोगों की वास्तविक सेवा करने के लिए यह सिखाना आवश्यक है कि बीमारी से कैसे बचा जाये। इसके लिए उन्होंने स्वास्थ्य सम्बन्धी एक पत्रिका 'ऐम्ब्रोसिया' का प्रकाशन प्रारम्भ किया। इस पत्रिका का आदर्श वाक्य था– 'निवारण उपचार से बेहतर है।' कुछ वर्षों तक कुप्पूस्वामी संतोष और प्रसन्नता के साथ काम करते रहे। किन्तु धीरे-धीरे उनके अन्दर अधिक देने और पीड़ित व्यक्तियों की पीड़ा को और कम करने की भावना बढ़ती जा रही थी। इस बीच उन्हें मलाया में रबड़ की खेती में लगे भारतीय मजदूरों की शोचनीय अवस्था की जानकारी मिली। उन्होंने समुद्र पार जाकर उन जरूरतमंदों की सेवा करने का निश्चय किया। एक विदाई सभा में उस तरुण डॉक्टर ने अपने मित्रों से कहा, "किताबी ज्ञान हमें आगे नहीं ले जा सकता है। मैंने शरीर विज्ञान पढ़ा, मैंने मानव शरीर को चीरा। किन्तु उसके अन्दर मुझे आत्मा नहीं मिली।" "आत्मा को तभी देखा जा सकता है जब अहं समाप्त हो जाता है," उनके एक मित्र बीच में ही बोल पड़े। कुप्पूस्वामी ने कहा, "हाँ और उस अहं को समाप्त करने का सर्वोत्तम साधन है नि:स्वार्थ सेवा।"

'किन्तु उनका परिवार?' अचानक एक युवा संन्यासी ने, जो अभी-अभी अपना घर और परिवार छोड़कर आश्रम आया था, उत्कण्ठित होकर पूछा,

'क्या उनके परिवार वालों ने उन्हें जाने की अनुमति दे दी?' स्वामी कृष्णानंद ने बताया, 'नहीं, इतनी आसानी से नहीं। उनकी माता एक बार फिर विचलित हो उठीं। उन्होंने अनेक प्रकार से कुप्पूस्वामी को समझाने का प्रयास किया, उन्होंने कहा कि शास्त्रों में समुद्र पार जाना वर्जित है। किन्तु कुप्पूस्वामी ने समुद्र के पार जाकर मानवता की सेवा करने की ठान ली थी, और वे जानते थे कि शास्त्र उनके मार्ग की बाधा नहीं बनेंगे। बाद में उनकी माता ने उनके निर्णय को स्वीकार कर लिया और आशीर्वाद देते हुए ईश्वर से प्रार्थना की कि वे उनके उस महान् लक्ष्य को पूरा करने में सदा सहायक हों, सदा उनके साथ रहें। और एक दिन साँझ की गोधूली बेला में माता ने अपने पुत्र को आशीर्वाद देते हुए विदा किया, उनका हृदय उस पुत्र के प्रति गर्व से भर उठा जो कि सेवा के लिए उत्पन्न हुआ था।'

'लम्बी समुद्री यात्रा के बाद कुप्पूस्वामी मलाया पहुँचे। मार्ग में उन्होंने विनम्रता और उदारता से यात्रियों का मुफ्त उपचार किया। वहाँ पहुँचते ही उन्हें सेनावांग के रियासती अस्पताल में नौकरी मिल गयी। वे लोगों के उपचार में अहर्निश जुटे रहे। वे स्वयं लेखा भी रखते और व्यक्तिगत रूप से रोगियों की देखभाल करते। प्राय: उनके पास हर तरफ से निराश हुए रोगी आया करते, किन्तु उन्हें निश्चित सफलता प्राप्त होती। उनके चमत्कार पूर्ण उपचारों, उनकी विनम्रता और रोगियों के प्रति उनकी सहानुभूति के कारण चारों तरफ यह बात फैल गयी कि उनके मनमोहक और प्रभावशाली व्यक्तित्व के साथ उनमें कुछ ईश्वर प्रदत्त विशेषताएँ भी हैं। वे लोगों की अनवरत सेवा करते रहे और कभी-कभी तो उन्होंने उनलोगों की आर्थिक सहायता भी की।'

'मैंने तो यहाँ तक सुना है कि एक बार एक गरीब आदमी एक रात वर्षा में भीगता हुआ डॉक्टर के पास गया। उसकी पत्नी प्रसव पीड़ा से बेचैन थी और उसे अविलम्ब सहायता की आवश्यकता थी। डॉक्टर ने तुरन्त जाकर उस स्त्री की परिचर्या की और उस मजदूर की झोपड़ी के बाहर मूसलाधार वर्षा में उसकी पत्नी के प्रसव होने तक खड़े रहे। जब वे पूरी तरह आश्वस्त हो गये कि नवजात शिशु तथा माँ पूर्णत: सुरक्षित हैं तभी वे वापस घर गये।'

कथा के इस मोड़ पर आश्रम में संध्या-कीर्तन के लिए घंटी बजी। सभी भक्त एकत्र हो गये। मंत्रोच्चार ने कृष्णानंद को याद दिलाया कि मलाया की अत्यन्त व्यस्ततापूर्ण दिनचर्या के बावजूद उसके गुरु की आध्यात्मिक उत्कण्ठा

शमित नहीं हुई थी, और तब स्वामी कृष्णानंद ने गुरु की उत्कण्ठाओं के विषय में उन संन्यासियों को बताना प्रारम्भ किया जो अभी उनके पैरों के पास बैठे हुए थे–'प्रवास की इस अवधि में त्याग और संन्यास की भावनाएँ स्वामी जी को लगातार उद्वेलित करती रही थीं। शनैः शनैः उनकी विचार मग्नता अधिक होती गयी। भौतिक सुखों के प्रति उनकी विरक्ति बढ़ती गयी और वे चिरकालिक शान्ति की प्राप्ति के लिए ध्यान करने लगे।'

'अब तक जीवन ऐसे पड़ाव पर आ चुका था जहाँ से उनकी दिशा ही बदल गयी। डॉ० कुप्पूस्वामी को एक साधु का उपचार करने का अवसर प्राप्त हुआ, मानों ईश्वर ने ही उस साधु को भेजा था। डॉक्टर ने पूर्ण आदर और भक्ति के साथ उसकी सेवा की। जब वह साधु स्वस्थ हो गया तो उसने उन्हें श्री स्वामी सच्चिदानन्द की लिखी एक पुस्तक दी, 'जीव-ब्रह्म-ऐक्य' जिस पर एक टिप्पणी थी, "मैं तुम्हारी सेवाओं से अत्यधिक प्रसन्न हूँ। तुममें विलक्षण उदारता और महानता है। तुम एक विश्वगुरु के रूप में जगमगा उठोगे। इस पुस्तक को भली प्रकार पढ़ो, यह तुम्हारी सहायता करेगी।" कुप्पूस्वामी ने इससे प्रेरित होकर शंकराचार्य, स्वामी रामतीर्थ, स्वामी विवेकानंद तथा अनेक अन्य लोगों की ऐसी ही पुस्तकें पढ़ीं। प्रतिदिन उनकी साधना का अभ्यास बढ़ता गया और वे अस्पताल के कार्यों में पहले की तरह संतोषजनक योगदान दे पाने में स्वयं को असमर्थ अनुभव करने लगे। उन्हें यह भी अनुभव हुआ कि वे किसी रोग का स्थायी निदान नहीं दे पा रहे हैं, इसलिए उन्होंने अपनी नौकरी से इस्तीफा दे दिया और भारत वापस चले आये। यहाँ उन्होंने अमरत्व की प्राप्ति के लिए त्याग का मार्ग अपनाया।'

सूरज ऋषिकेश की पहाड़ियों के पीछे छिप गया था। सारा आकाश रक्ताभ हो उठा था और यही लालिमा गंगा के जल पर भी बिखर गयी थी। कैसी थी यह लाली, कथा में मग्न शिष्यों के चेहरों पर भी दमक उठी थी। तभी स्वामी कृष्णानंद ने कहा, 'आज के लिए इतना ही पर्याप्त है। शेष कथा तुम लोग कल सुनोगे। अभी सत्संग का समय है। कहीं ऐसा न हो कि हमारे गुरु की गाथाएँ हमारी साधना में बाधा उत्पन्न करें।' जल्दी-जल्दी उठते हुए उन सब ने कहा, 'नहीं-नहीं ऐसा नहीं होगा' और अपनी-अपनी धोती सम्भालते हुए वे चले गये। सब एक साथ घाट की ओर गये और फिर वहाँ से अपने गुरु की समाधि पर गये। उन लोगों की भक्ति में कोई अन्तर नहीं आया है–जैसे उनके जीवन-काल में थी, वैसी ही अभी भी है।

सदा की भाँति शिष्य उसी प्रकार तड़के उठे जब ऋषिकेश में घण्टियों की टन-टन, मन्त्रोच्चार तथा गंगा की लहरों की कलकल के अतिरिक्त और कोई ध्वनि सुनाई नहीं पड़ती। उस दिन उन लोगों ने समाधि के पास बैठकर अपने गुरु की महानता पर चिन्तन करते हुए बहुत देर तक ध्यान किया। जब शाम होने को आई तो सब एक साथ उठे, मानो उनमें कोई सहमति हुई थी, गंगा में स्नान किया और फिर से कथा सुनने की आशा में सभी एकत्र हो गये। एक बार फिर स्वामी चिदानन्द ने कथा आरम्भ की। कथाओं के द्वारा अपने गुरु को याद करना उनके लिए सबसे बड़ी श्रद्धांजलि थी।

'उनके भारत लौटने पर कुप्पूस्वामी की माता अपने पुत्र को पुनः देख पाने की कल्पना से प्रसन्न थीं, किन्तु उनकी यह प्रसन्नता क्षणिक सिद्ध हुई, क्योंकि वे तो बिना अपने घर गये चुपचाप एक अन्य मार्ग पर निकल पड़े। उनकी माता उनकी प्रतीक्षा करती रहीं, किन्तु व्यर्थ। खाली हाथ कुप्पूस्वामी ईश्वर की खोज में निकल पड़े। वाराणसी का मार्ग था, वे उसी पर बढ़ते गये। उनके सहयात्री आस-पास की गतिविधियों के प्रति उनकी अनभिज्ञता और परमानन्द में उनकी तल्लीनता देखकर चकित थे। वाराणसी पहुँचने पर कुप्पूस्वामी ने एक तीर्थयात्री के रूप में गंगा-स्नान किया और भगवान् विश्वनाथ के दर्शन के लिए गये। वहाँ उन्होंने प्रार्थना की, 'हे ईश्वर! अब मैं तुम्हारी शरण में हूँ। सत्य की खोज में मेरा पथ प्रदर्शित करो।' वाराणसी एक पवित्र नगर होने के बावजूद शान्त और एकान्त स्थान नहीं है, इसलिए कुप्पूस्वामी ऋषिकेश की ओर बढ़ गये। एक भिक्षुक के रूप में, कई-कई दिनों तक भूखे रहते हुए भी चलते गये–मील दर मील, किन्तु उन्होंने इन कठिनाइयों का सामना भी प्रसन्नता के साथ किया। वे ईश्वर के प्रति कृतज्ञ थे जिन्होंने उन्हें अपनी भक्ति प्रमाणित करने का अवसर दिया था।'

'ऋषिकेश पहुँचने के कुछ ही दिनों बाद सन् 1924 ई० के जून महीने में कुप्पूस्वामी श्री स्वामी विश्वानंद सरस्वती से मिले जिन्होंने उनको गेरू वस्त्र और स्वामी शिवानन्द सरस्वती नाम देकर संन्यास की दीक्षा दी। बाद में उनकी संन्यास दीक्षा का अनुष्ठान परम पावन श्री स्वामी विष्णु देवानंद जी महाराज के द्वारा कैलास आश्रम में किया गया। उस क्षण से स्वामी शिवानन्द ने मात्र तन ढँकने के लिए वस्त्र पहना, जीवित रहने लायक

भोजन किया और मानवता की सेवा में अपना जीवन अर्पित कर दिया। एक छोटी टूटी-फूटी कुटी, जहाँ कोई और नहीं रहता था, (हाँ! बिच्छुओं से आक्रामित अवश्य थी) उनका आश्रय बन गयी, आतप-वात-वर्षा से उनकी रक्षा करती। वे प्रतिदिन प्रातः गाते और जोश के साथ 'ॐ' का उच्चारण करते हुए चार मील चलते हुए जाते और चार रोटियों एवं एक प्याली दाल की भिक्षा मांगते। उन्होंने गहन तपस्या की, मौन का अभ्यास किया और लगातार कई-कई दिनों तक उपवास किये। प्रतिदिन प्रातः घण्टों कमर तक गंगा के बर्फीले जल में खड़ा रहने की कल्पना से ही उन शिष्यों को संध्या की ऊष्मा में भी कँपकँपी छूट गयी।

'गहन साधना के बावजूद स्वामी शिवानन्द बीमार तीर्थ-यात्रियों और साधु-महात्माओं का इलाज करते रहे, क्योंकि उनका दृढ़ विश्वास था कि निःस्वार्थ सेवा के द्वारा ही ज्ञान प्राप्त होगा। वे दवाओं के साथ साधुओं की कुटियों में जाते, उन्हें दवाएँ देते, उनके पैरों की मालिश करते। वे उन लोगों के बीमार पड़ने पर उनके लिए भी भिक्षा मांगते और उन्हें स्वयं अपने हाथों से खिलाते। गंगा से जल लाकर उनके कुटियों की सफाई करते। मलाया में उन्होंने जो बचत की थी उससे उन्होंने दवाएँ खरीदीं और आध्यात्मिक रचनाओं का प्रकाशन किया। वे इतने प्रख्यात हो गये कि स्वर्गाश्रम के अधिकारीगण दर्शनार्थियों को उनके दर्शन के लिए भेज देते और कहते, "वे ही स्वर्गाश्रम के एकमात्र महात्मा और योगी हैं।"

'उसी क्षेत्र में एक महात्मा थे, स्वामी कालिकानंद, उन्हें स्वामी शिवानन्द के कार्य-कलापों तथा उनकी निःस्वार्थ सेवा में अत्यधिक रुचि थी। उन्होंने सोचा ऐसा अवसर बार-बार नहीं आता, इसलिए वे स्वामी शिवानन्द के पास धर्मार्थ दवाखाना चलाने का प्रस्ताव लेकर गये। इस प्रकार सन् 1925 ई० में सत्य सेवाश्रम दवाखाना की स्थापना हुई। यहाँ स्वामी शिवानन्द सेवारत रहे।' बीच में ही स्वामी कृष्णानंद ने टोककर कहा, 'इन्हें तीर्थ यात्री की कहानी सुनाओ ताकि ये भी अपने गुरु की भक्ति की पराकाष्ठा से अवगत हो सकें।' स्वामी चिदानन्द ने कहा, 'हाँ, अवश्य।' और कथा पुनः चल पड़ी।

'एक शाम एक तीर्थ-यात्री जिसे बद्रीनाथ जाना था, दवाखाने में आया। जब वह दवा लेकर चला गया तो स्वामी शिवानन्द को लगा कि एक दूसरी दवा उसके लिए अधिक लाभप्रद होती। इसलिए अगले दिन सूर्योदय से भी पहले वे दवा लेकर उस यात्री को ढूँढ़ने निकल पड़े। लेकिन वह तो और भी पहले अपने

मार्ग पर निकल पड़ा था। फिर भी स्वामी शिवानन्द हताश नहीं हुए और लगभग पाँचवें मील पर उन्होंने उस यात्री को पकड़ ही लिया और उसे दवा दे दी।'

'स्वामीजी, क्या तब तक आप यहाँ आ चुके थे?' एक श्रोता ने पूछा जो यह जानता था कि स्वामी चिदानन्द को किसी समय दवाखाने की जिम्मेवारी सौंपी गयी थी। स्वामी चिदानन्द ने कहा, 'नहीं मेरे बच्चे, यह घटना मेरे यहाँ आने के अनेक वर्ष पूर्व की है। लोगों ने बताया था उस समय स्वामी जी शिष्यों को स्वीकार नहीं करते थे, वे स्वयं को एक सामान्य साधु और सब का मित्र मानते थे–गुरु नहीं। बाद में एक बार श्रीकृष्ण ने उन्हें दर्शन दिये और स्वामी जी से अनुरोध किया कि वे अपने आस-पास के लोगों को भी दिव्य अमृत का पान करवायें। वे संकेत समझ गये और तब उन्होंने योग एवं ध्यान की विधियों का प्रशिक्षण आरम्भ किया, किन्तु उनकी आन्तरिक शान्ति कभी लुप्त नहीं हुई। कभी-कभी जब लगातार दर्शनार्थियों का तांता लगा रहता और उससे उनके आध्यात्मिक कार्यक्रम में अवरोध उत्पन्न होता तो वे गंगा के कगार पर या मणिकूट पर्वत की ढलानों में कहीं खो जाते। गहनतम ध्यान में उन्होंने अपनी आत्मा को झकझोरा तो सत्य का प्रकटीकरण प्रारम्भ हुआ।'

संन्यासियों के उस झुण्ड पर नीरवता छाई हुई थी, सभी अपनी-अपनी कल्पनाओं में खो गये थे–उस समय उनके गुरु कैसे रहे होंगे। स्वामी कृष्णानंद ने मानो उन्हें उनके दिवास्वप्न से जगाया, 'स्मरण रहे, तुम्हारे गुरु कभी दूसरों को विस्मृत नहीं करते थे। जब उन्हें अनुभव हुआ कि बाहरी दुनिया में उनकी आवश्यकता है, तो सन् 1931 ई० से उन्होंने सामान्य जनों से मिलना प्रारम्भ किया, वे उत्तरप्रदेश, बिहार, पंजाब, जम्मू-कश्मीर एवं आंध्र प्रदेश की व्यापक यात्रा पर गये। जहाँ भी वे गये उन्होंने प्रेरणात्मक भाषण दिये, आसन-प्राणायाम का प्रदर्शन किया और लोगों के साथ आह्लादकारी कीर्तनों का आयोजन किया। वे स्कूल, कॉलेज, जहाँ भी गये, अपनी पूरी शक्ति के साथ स्वयं को उड़ेल दिया। देश के कोने-कोने के लोग उनके भक्त बन गये। यहाँ तक कि अंग्रेज और उनके समालोचक भी स्वामीजी की उपस्थिति मात्र से भावावेश में आ जाते और कीर्तन के साथ गाने-नाचने लगते।' श्रोता शिष्यों को उस दृश्य की कल्पना से बहुत हँसी आई–किस प्रकार स्वामी शिवानन्दजी की दिव्य प्रेरणा दूसरों को स्पंदित कर देती थी।

'पाँच वर्षों तक उन्होंने सम्पूर्ण भारत का व्यापक भ्रमण किया। वे केवल लोगों से ही नहीं मिले, बल्कि उन्होंने दक्षिण के प्रमुख तीर्थों के दर्शन भी

किये।’ कृष्णानन्द थोड़ा रुके। उनका ध्यान डूबते हुए सूरज और श्रोताओं के म्लान चेहरों पर गया। उन्होंने सोचा, ‘आज पर्याप्त हो चुका।’ और वे बोले, ‘उनके कार्य, उनकी शक्ति और ऊर्जा को हम सब के लिए एक ज्वलंत उदाहरण होना चाहिए। हमें यह भूलना नहीं चाहिए कि स्वामीजी एक देव पुरुष थे और उनकी तुलना में हम केवल बच्चे हैं। अब हम लोगों को शय्या पर जा कर उनकी चकित कर देने वाली कथाओं पर चिन्तन करना चाहिए।’ कुछ देर प्रार्थना करने के बाद सभी रात्रि-विश्राम के लिए चले गये। अपने गुरु के सर्वाधिक प्रिय शिष्यों से उनके जीवन की कथाएँ सुन कर मानो गुरु के वियोग से व्यथित हुआ हृदय कुछ शान्त हुआ, आश्वस्त हुआ।

मिशन

एक युवा संन्यासी, जो गुरु-शोक से उबर रहा था, अपने साथियों से बोला, ‘यदि हम शीघ्रता से तैयार हो जायें तो शायद हम अपने गुरु की कुछ अधिक कथा सुन पायेंगे।’ उसकी इस सलाह से उत्साहित होकर उसके साथी गंगा के जल में जल्दी-जल्दी कूद पड़े और कुछ ही क्षणों में तैयार होकर फिर से उसी प्रकार झुण्ड बनाकर प्रतीक्षा की मुद्रा में बैठ गये। स्वामी चिदानन्द और स्वामी कृष्णानन्द मंथर गति से सीढ़ियाँ उतरते हुए चले आ रहे थे और उनके बीच कोई गम्भीर वार्ता चल रही थी। स्वामी चिदानन्द का ध्यान अचानक उन सब पर गया जो उन दोनों की आतुरता से प्रतीक्षा कर रहे थे और उनके स्वागत के लिए बैठे हुए थे। उन्होंने कहा, ‘मैं तुम लोगों की आतुरता को देख पा रहा हूँ। तुम लोगों को निराश नहीं किया जायेगा। मैं कुछ क्षणों में ही तुम लोगों के बीच होऊँगा।’ इसके पश्चात् उन दोनों जयेष्ठ संन्यासियों ने स्नान किया और कहानी सुनाने के लिए उन लोगों के बीच जाकर बैठ गये।

स्वामी चिदानन्द ने प्रारम्भ किया, ‘तुम आश्रम को आज जिस रूप में देख रहे हो, यह पहले ऐसा नहीं था। व्यापक रूप से यात्रायें करने के पश्चात् स्वामीजी को अनेकों जिज्ञासुओं के आध्यात्मिक उत्थान के लिए अपनी स्वतन्त्र संस्था की आवश्यकता हुई। इसलिए सन् 1934 ई० में वे अपने शिष्यों के साथ गंगा के दाहिने तट पर आ गये। वहाँ उन्हें पुरानी, टूटी-फूटी गोशाला मिली। उन्होंने वहीं काम शुरू किया और इस प्रकार वर्तमान डिवाइन लाइफ सोसाइटी की नींव पड़ी।’

'आश्रम निर्माण त्वरित गति से हुआ। भक्तों ने कुटीर बनाने के लिए दान दिये। निर्माण की सामग्रियाँ, कारीगर और मजदूर आने लगे। छोटे स्तर पर जो शुरुआत हुई थी, वह एक लघु संसार में परिणत हो गयी। किन्तु शिवानन्दजी ने कभी संचय का अवसर नहीं आने दिया। वे सदा अधिक-से-अधिक महान् सेवाओं में संलग्न रहे। परिणामस्वरूप आश्रम को सदैव कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था। स्वामीजी इस स्थिति से उबरने का प्रयास नहीं करते थे ताकि आश्रमवासी सदा कठिन परिश्रम करते रहें। हमेशा की तरह उस समय भी उनका सूत्र वाक्य था– "मानवता के कल्याण के लिए निरन्तर कार्य करते रहो।" एक बार ऋषिकेश के एक दुकानदार ने आश्रम के लिए खाद्य सामग्री देने से यह कह कर इन्कार कर दिया कि पहले 20,800 रुपये का उधार चुकाया जाये। आश्रम के व्यवस्थापक ने स्वामी शिवानन्द जी से आग्रह किया कि वे पुराने संन्यासियों के अतिरिक्त अन्य संन्यासियों को वापस भेज दें। स्वामीजी ने यह आग्रह ठुकरा दिया, उन्होंने कहा कि ईश्वर ने इन सब को यहाँ भेजा है, वही मदद करेंगे। अगले दिन चमत्कार हुआ। स्वामी शिवानन्द के एक अनन्य भक्त ने आश्रम को दान में ठीक उतने पैसे दिये जितने की उस समय आवश्यकता थी।'

एक आश्चर्यचकित संन्यासी ने पूछा, 'जब स्वामीजी इतने व्यस्त रहते थे तो उन्हें उन सारी पुस्तकों को लिखने का समय कब मिलता था जो पुस्तकालय में हैं?' स्वामी कृष्णानंद ने कथा को आगे बढ़ाते हुए कहा, 'ईश्वर ही जानें। तुम सब ने तो उन्हें अथक-अनवरत कार्य करते हुए देखा ही था, किन्तु वे उपलब्ध ज्ञान को सर्वोत्तम उपहार मानते थे और उसे अधिक से अधिक लोगों के बीच बाँटना चाहते थे। इस कार्य के लिए उन्होंने आश्रम में एक छापाखाना बैठाया। यदि उन्हें कोई पत्र या छोटे-से-छोटा दान भेजता तो वे उसे एक पर्चा या पुस्तिका भेजते। किन्तु उनकी प्रकृति ऐसी थी कि वे इससे भी संतुष्ट नहीं थे। वे अपने भक्तों-अनुयायियों के साथ नियमित पत्राचार करना चाहते थे। इस प्रकार सन् 1938 ई॰ में डिवाइन लाइफ सोसायटी ने मासिक पत्रिका 'द डिवाइन लाइफ' का प्रकाशन प्रारम्भ किया। तत्पश्चात् सन् 1939 ई॰ में उनकी प्रथम पुस्तक प्रकाशित हुई। लगभग दो दशकों तक उन्हें अपनी पुस्तकें बाहर प्रकाशित करानी पड़ीं। आश्रम में छापाखाना होने के बाबजूद सभी वान्छित सामग्रियाँ प्रकाशित नहीं हो पाती थीं।' स्वामी कृष्णानन्द ने घूम

कर स्वामी चिदानन्द से कहा, 'क्या आपको याद नहीं? जब आप सन् 1943 ई० में और मैं सन् 1944 ई० में यहाँ आया था तो छापाखाना कभी बन्द नहीं होता था, आश्रम में आर्थिक संकट के समय भी नहीं।'

'ओह हाँ' स्वामी चिदानन्द मानो उन बीते वर्षों में खो गये, 'स्वामी जी जिस गति से किताबें लिखते थे वह अद्‌भुत था, अनूठा था। प्राय: वे तीन-चार ग्रन्थों पर एक साथ काम किया करते। कुल मिलाकर उन्होंने 200 से अधिक पुस्तकें लिखी होंगी, जिनमें भगवद्गीता, प्रमुख उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र, पांतजल योगसूत्र एवं नारद भक्ति की व्याख्याएँ सम्मिलित हैं। योगाभ्यास, वेदान्त, स्वास्थ्य, चिकित्सा आदि पर भी अनेक पुस्तकें हैं। अपनी बातें पाठकों को स्पष्ट रूप से समझाने के लिए उन्होंने साहित्य की प्रत्येक विधा का प्रयोग किया। कविता, नाटक, पत्र, निबन्ध, कहानियाँ, नीतिकथायें, सूक्तियाँ, व्याख्यान-दिव्य जीवन के ज्ञान का प्रचार-प्रसार करने के लिए उन्होंने इन सब को अपना माध्यम बनाया।'

'शायद तुम लोगों ने स्वामीजी की अखिल भारतीय यात्रा के विषय में सुना होगा। उन्होंने यह यात्रा सन् 1950 ई० में 9 सितम्बर से 8 नवम्बर तक जन सामान्य को जाग्रत करने और ज्ञान का प्रचार-प्रसार करने के लिए की थी। उन्होंने अनेक नागरिक एवं सार्वजनिक समूहों, प्रमुख नगरों के स्कूल-कॉलेजों के छात्रों को सम्बोधित किया। रास्ते में हर स्टेशन पर हजारों भक्त उनके दर्शन के लिए आते और उनके कीर्तन सुनते। अन्त में जब स्वामीजी वापस आश्रम पहुँचे तो हम लोगों ने उनका हार्दिक अभिनन्दन किया था। हम अत्यन्त गौरवान्वित अनुभव कर रहे थे। उनकी इस यात्रा का अद्भुत प्रभाव पड़ा था। तब से आश्रम आनेवाले भक्तों की संख्या बढ़ती ही गयी। वे स्वामीजी के दर्शन और उनके द्वारा दिशा-निर्देश प्राप्त करने आते थे। जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में प्रतिष्ठित एवं ख्यातिप्राप्त लोग शिवानन्दजी के पास आने लगे।'

'क्या यह सत्य है' एक युवा-भक्त ने पूछा, 'कि वे आश्रम में आने वाले प्रत्येक व्यक्ति का स्वागत करते थे और हर उस व्यक्ति को मन्त्र दीक्षा देते थे जो उसकी इच्छा व्यक्त करता था?' 'अवश्य', स्वामी चिदानन्द बीच में बोल पड़े, 'स्वामीजी ने अत्यन्त उदारता से लोगों को संन्यास दीक्षा भी दी। मैं समझता हूँ कि भारत के आध्यात्मिक इतिहास में किसी अन्य संत ने इतने संन्यासी नहीं बनाये होंगे। उन्होंने स्त्री-पुरुष, भारतीय-विदेशी, सभी को

समान रूप से संन्यास दिया, व्यक्तिगत रूप से तो संन्यास देते ही थे, पत्र के द्वारा भी देते थे। उन्हें भी दिया जिन पर सांसारिक उत्तरदायित्व थे। वे मानसिक संन्यास देते थे। उन्होंने उन सब के मन को रंग दिया। वे सबसे कहते थे कि संसार में रहो, किन्तु सांसारिक न बनो। इसके अतिरिक्त स्वामी शिवानन्द ने अपने शिष्यों पर कभी अत्यधिक नियमों और प्रतिबन्धों को आरोपित नहीं किया। वे उन्हें अपने शरीर या भोजन के विषय में अधिक सोचने से मना करते थे। उनका कहना था कि चेतना को सदा ब्रह्ममय रखा करो। सब के लिए उनका निर्देश था–सेवा करो, स्नेह करो, ध्यान करो और सत्य का ज्ञान प्राप्त करो।'

सभी शिष्यों ने अपने गुरु के चिर-परिचित शब्दों को पहचान लिया। और एक-एक कर वे गुरु के साथ के अपने अनुभव सुनाने लगे। एक ने बताया कि सन् 1948 ई० में निवासी साधकों और आश्रम में आने वाले जिज्ञासुओं को क्रमिक प्रशिक्षण देने के लिए योग वेदान्त फॉरेस्ट एकेडेमी की स्थापना की गयी। अन्य ने स्वामीजी के उस मत की प्रशंसा की जिसके आधार पर उन्होंने सभी धर्मों में मौलिक समानता का समर्थन किया था। और उसने सन् 1953 ई० में आश्रम में हुए विश्वधर्म संसद का वर्णन किया। धीरे-धीरे वार्ता वर्तमान तक पहुँच गयी। सभी संन्यासी एक-दूसरे को याद दिलाने लगे कि पिछले कुछ महीनों में उनके गुरु को अपने जीवन के अन्तकाल का आभास हो गया था। उन्होंने कुछ दिनों से अन्न-जल त्याग दिया था, किन्तु महासमाधि के दिन उन्होंने पूरा एक गिलास गंगा जल पीया था।

उस समूह के एक सदस्य ने अपनी जिज्ञासा व्यक्त करते हुए स्वामी चिदानन्द से पूछा कि क्या उन्हें यह मालूम था कि स्वामी शिवानन्द के अन्तिम शब्द क्या थे? चिदानन्द कुछ क्षणों के लिए मौन रहे और फिर अत्यन्त स्नेह एवं मृदुलता के साथ उन्होंने कहा, "ईश्वर के साथ एकात्म होने पर ही मनुष्य को आनन्द की प्राप्ति होती है।" हमलोगों के लिए उनका यही अन्तिम सन्देश था।' सभी शिष्य शान्त हो गये। उनके उद्वेलित मन पर नीरवता छा गयी। कथा से उपजी नीरवता ने मानो ऋषिकेश को भी अपने अंक में समेट लिया था। केवल रात के अन्धकार में चमकने वाले तारे गतिमान थे। एक क्षण के लिए शिष्यों को अनुभव हुआ कि उनके गुरु उनके बीच थे, मानो उनका स्नेह उन सब को स्पर्श कर गया था और वे सोचने लगे कि काश! यह अनुभूति चिरकालिक होती!

कार्य एवं प्रतिष्ठान

स्वामी शिवानन्द ने सम्पूर्ण विश्व में आध्यात्मिक ज्ञान का प्रचार करने तथा मानवों की सेवा करने के उद्देश्य से सन् 1936 ई० में डिवाइन लाइफ सोसाइटी की स्थापना की। सोसाइटी के आदर्श नमनीय, व्यावहारिक तथा जन सामान्य की पहुँच के अन्दर थे। वे आदर्श जाति, रंग, देश, मत, वर्ग भेद से परे थे तथा सभी लोगों की आवश्यकताओं की समान रूप से पूर्ति करते थे।

सन् 1936 ई० में ही भारत के मुंगेर (बिहार), जंघ माघिया (पंजाब), अकिडु (आन्ध्र प्रदेश), अम्बाला सिटी (पंजाब), माण्डया (मैसूर) तथा मद्रास में, सीलोन के जाफना में, पूर्वी यूरोप के लाटविया में और जर्मनी के हीड्लबर्ग में इसकी शाखाएँ स्थापित हो गयी थीं। साल-दर-साल शाखाएँ बढ़ती ही गयीं। दक्षिण अफ्रीका के डर्बन में तथा मलेशिया के क्वालालम्पुर में डिवाइन लाइफ सोसाइटी के अत्यन्त सक्रिय प्रशिक्षण केन्द्र थे।

सन् 1939 ई० में सम्पूर्ण विश्व में आध्यात्मिकता को जाग्रत करने के लिए शिवानन्द प्रकाशन संघ (शिवानन्द पब्लिकेशन लीग) की स्थापना की गयी। इसके अन्तर्गत योग तथा वेदान्त के वैज्ञानिक पक्षों के आधार पर पुस्तकें, पत्रिकाएँ तथा पुस्तिकाएँ प्रकाशित होती थीं। कुछ वर्षों के अन्तराल में ही स्वामी शिवानन्द की सभी पुस्तकों का प्रकाशन इसी संस्था के माध्यम से होने लगा।

सन् 1942 ई० में भजन हॉल बना और 1943 में अखण्ड कीर्तन, भजन हॉल में ही प्रारम्भ किया गया। उसी वर्ष भगवान् विश्वनाथ मन्दिर की स्थापना भी हुई जिसमें नियमित रूप से प्रतिदिन तीन बार पूजा प्रारम्भ की गयी।

सन् 1945 ई० में शिवानन्द आयुर्वेदिक दवाखाना खोला गया, जिसमें लोगों के उपचार के लिए विशुद्ध जड़ी-बूटियों से तैयार दवायें दी जाने लगीं। उसी वर्ष स्वामी धार्मिक संघ का तथा 1947 में अखिल विश्व साधु संघ का संगठन किया।

निवासी साधकों एवं दर्शन के लिए आने वाले जिज्ञासुओं को क्रमिक प्रशिक्षण देने के उद्देश्य से सन् 1948 ई० में योग वेदान्त फॉरेस्ट एकेडमी की स्थापना की गयी।

आध्यात्मिक ज्ञान के व्यापक प्रचार के लिए सन् 1951 ई० में योग वेदान्त फॉरेस्ट एकेडमी प्रेस की स्थापना की गयी।

स्वामी शिवानन्द ने सन् 1953 ई० में शिवानन्दाश्रम में विश्व धर्म संसद का आयोजन किया।

सन् 1930 ई० में खोला गया दातव्य दवाखाना जो स्वामी शिवानन्द के जीवन का एक अभिन्न अंग था, धीरे-धीरे विस्तृत होता गया। 1950 ई० तक उसमें एक्सरे जैसी अन्य सुविधाएँ भी उपलब्ध हो गयीं और तब उसे सामान्य अस्पताल की श्रेणी प्राप्त हो गयी। शिवानन्द नेत्र अस्पताल 1957 में खोला गया।

स्वामी जी की सभी पुस्तकों का विभिन्न भारतीय भाषाओं में अनुवाद तथा उनका क्रमिक प्रकाशन करने के उद्देश्य से सन् 1958 ई० में शिवानन्द साहित्य शोध संस्थान की स्थापना की गयी। 1959 ई० में शिवानन्द साहित्य प्रचार समिति का गठन किया गया जिसकी प्रत्येक क्षेत्रीय भाषा में क्षेत्रीय समितियाँ हैं।

इस प्रकार सन् 1963 ई० में महासमाधि में प्रवेश के पूर्व स्वामी शिवानन्द के जीवनकाल में ही उनके सभी लक्ष्य पूरे हो गये थे।

विश्व पर्यन्त जागृति

गंगा तट पर बनी एक छोटी-सी झोपड़ी में रहने वाले स्वामी शिवानन्द ने सम्पूर्ण विश्व को प्रभावित किया। उन्होंने उन देशों के नागरिकों की समस्याओं को भी समझा जहाँ वे कभी नहीं गये थे और अध्यात्म के क्षेत्र में उनका मार्गदर्शन किया। आश्रम, आश्रमवासी, डिवाइन लाइफ सोसाइटी तथा स्वामी शिवानन्द द्वारा स्थापित दूसरी संस्थायें, कुल मिलाकर सभी मानव मात्र के आध्यात्मिक जागरण के साधन थे। स्वामी शिवानन्द के अनुसार आश्रम में उनके पास एकत्र होने वाले जिज्ञासुओं का केवल व्यक्तिगत उत्थान पर्याप्त नहीं था। वे उन सब को एक क्षण के लिए भी यह भूलने नहीं देते कि सम्पूर्ण मानवता के आध्यात्मिक जागरण में ही उनकी मुक्ति निहित है।

उन्होंने इतनी सारी अध्यात्म-सम्बन्धी साहित्यिक सामग्रियों का वितरण किया और योग के प्रचार में इतने शिष्यों को प्रवृत्त किया कि विश्व के कोने-कोने में योग शब्द गूँज उठा। उन्होंने प्रत्येक सम्भव साधन और मार्ग के द्वारा विश्व को आध्यात्मिक ज्ञान से ओतप्रोत कर दिया। हजारों लोगों को उन्होंने आध्यात्मिक जीवन के तथ्यों से परिचित कराया। ईश्वर प्राप्ति को मानव-जन्म के एकमात्र लक्ष्य के रूप में सदा लोगों के समक्ष रखा।

मनुष्य की निम्नतर प्रवृत्तियों को नष्ट कर अपने अन्दर की दिव्यता के प्रकटीकरण के द्वारा उसका रूपान्तरण करना लक्ष्य था। यह रूपान्तरण सार्वभौमिक रूप से आवश्यक था, इसीलिए उनके इस लक्ष्य ने जीवन के सभी क्षेत्रों और देशों के लोगों को आकृष्ट किया। उन्होंने विलक्षण क्षमता वाले संन्यासियों को प्रशिक्षित किया और यह कहना कदापि अतिशयोक्ति नहीं होगी कि महासमाधि प्राप्त करने के पश्चात् वे वस्तुत: उन्हीं संन्यासियों में प्रवेश कर गये हैं जो उनके मिशन की मशाल लेकर आज भी उसी उत्साह से आगे बढ़ते जा रहे हैं। स्वामी चिदानन्द, स्वामी कृष्णानन्द, स्वामी व्यंकटेशानन्द, स्वामी विष्णुदेवानन्द, स्वामी सच्चिदानन्द, स्वामी नादब्रह्मानन्द, स्वामी शिवप्रेमानन्द एवं स्वामी सत्यानन्द सरस्वती उनके लब्ध प्रतिष्ठित शिष्य हैं।

संन्यास का सिद्धान्त

त्यागपूर्ण जीवन ही संन्यास है। पूर्ण त्याग के बिना ब्रह्म विद्या के पथ पर चलना सम्भव नहीं है। संन्यासी इस संसार और अपने परिवार के लिए मृतक के समान होता है। वह सम्पूर्ण विश्व को एक बार में त्याग देता है और आत्मा के अतिरिक्त किसी से भी उसका सम्बन्ध नहीं रह जाता है। एक संन्यासी के लिए नाम और यश विष्ठा के समान हैं। इसलिए अपने नाम और यश का त्याग कर वह मुक्त रूप से घूमता है।

एक संन्यासी के केवल तीन कर्तव्य होते हैं–शौच, भिक्षा एवं ध्यान। ध्यान ही उसका कर्तव्य है, ध्यान उसका भोजन है, ध्यान उसका जीवन है। ध्यान की ही श्वास लेता है, ध्यान में ही जीता है। वह सदा परम ब्रह्म की प्राप्ति के लिए उद्यत रहता है। संन्यासी बुद्धि के उच्चतम स्तर पर एक मूर्ख के समान, एक बालक के समान रहता है। ज्ञान उसके अन्दर से प्रस्फुटित होता रहता है, किन्तु उसका व्यवहार एक मूढ़ की तरह होता है। अपनी आत्मा में लीन संन्यासी शब्दों से परे हो जाता है।

संन्यास के लिए पात्रता

एक ब्रह्मचारी, गृहस्थ या वानप्रस्थ, सभी समान रूप से संन्यास ग्रहण कर सकते हैं। ब्रह्मचर्य या किसी अन्य अवस्था से भी सीधे संन्यास लिया जा सकता है। संन्यास में प्रवेश करने के लिए साधना की परिपक्वता होनी

चाहिए। विवेक द्वारा त्याग उत्पन्न होना चाहिए। वैराग्य की भावना भी आधी-अधूरी नहीं होनी चाहिए। दृश्य-अदृश्य के प्रति विरक्ति की ज्वाला प्रज्वलित रहनी चाहिए। कैवल्य मोक्ष की स्थिति को ही आदर्श उपलब्धि मानना चाहिए। पत्नी एवं संतान की इच्छा तथा सांसारिकता के प्रति मोह नहीं होना चाहिए। संन्यासी को वैराग्य की भावना से परिवेष्टित रहना चाहिए।

आत्माभिमान को अन्ततः निरस्त करना है। प्रेम और घृणा को पूरी तरह निर्मूल करना है। जिज्ञासु को सांसारिक माया तथा उसके बन्धनों से परे होना चाहिए। जैसे ही मन में सांसारिक वस्तुओं के प्रति विरक्ति उत्पन्न हो, बिना किसी द्वन्द्व के तुरन्त संन्यास ले लेना चाहिए।

यदि तुम्हें एकान्त पसन्द है, यदि तुम राग, सांसारिक इच्छाओं, कार्मिक प्रवृत्तियों और संसार के प्रति आकर्षण से मुक्त हो, यदि तुम मितभाषी और शान्त हो, यदि तुमने संसार में रहते हुए भी स्वयं को अनुशासित कर रखा है, यदि तुम साधारण भोजन पर भी निर्वाह कर सकते हो, यदि तुम शारीरिक रूप से स्वस्थ-शक्तिशाली हो, यदि तुम बिना किसी साथी के और बिना बोले रह सकते हो, यदि तुम आध्यात्मिक पथ पर आने वाली कठिनाइयों का सामना कर सकते हो, यदि तुममें विचारशील और ध्यानमग्न रहने की प्रवृत्ति है, यदि तुम अपमान और किसी भी प्रकार का आघात सहन कर सकते हो, तब तुम त्याग का मार्ग अपना सकते हो, और तभी तुम संन्यास के द्वारा लाभान्वित हो पाओगे।

वस्तुतः संसार में रहकर ही एक-दो वर्षों तक संन्यासी-सा जीवन व्यतीत करना चाहिए, अन्यथा इस मार्ग पर चलना अत्यन्त कठिन होता है। विरक्त, विवेकी और दृढ़ इच्छाशक्ति वाले मनुष्य के लिए यह मार्ग आनन्द और आह्लादपूर्ण होता है। एक आसक्त व्यक्ति को संन्यास नहीं लेना चाहिए, क्योंकि संन्यास लेने के बाद आसक्तियों के जाल में उलझने वाला व्यक्ति अवसाद और अन्धकार की गलियों में भटकता रह जाता है। जिसने अपनी जिह्वा, जनेन्द्रिय, उदर और हाथों को अनुशासित कर लिया है वह संन्यास लेने योग्य है।

जब स्त्रियाँ साधन-चतुष्टय से युक्त हो चुकी हों तो वे भी संन्यास के योग्य हो जाती हैं। वे अध्यात्म के क्षेत्र में पुरुषों के समान सक्षम होती हैं। जब कोई संन्यास के संस्कारों के साथ उत्पन्न होता है तो कोई भी शक्ति उसे संन्यास लेने से रोक नहीं सकती। यदि उसे सैकड़ों पहरेदार भी घेरे रहें, तो भी उसे घर छोड़ने से कोई रोक नहीं पायेगा।

युवा लोग संन्यास के लिए सबसे उपयुक्त होते हैं। एक वृद्ध व्यक्ति क्या कर सकता है? जब मृत्यु उसके निकट होती है तो कोई उसके उन कानों में महावाक्य का उच्चारण कर देता है जो पहले से ही बधिर हो चुके हैं। ऐसा संन्यास किस काम का? स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ, स्वामी दयानन्द तथा ऐसे ही लब्ध प्रतिष्ठित संन्यासियों ने युवावस्था में ही संसार को त्याग दिया था।

समाज में संन्यासियों की भूमिका

प्रत्येक धर्म में ऐसे संन्यासीवृंद रहे हैं जिनका जीवन एकान्त और ध्यान में ही व्यतीत हुआ। बौद्ध भिक्षु, मुसलमान फकीर, सूफीसंत, ईसाई, पादरी इसी के उदाहरण हैं। किसी भी धर्म की गरिमा समाप्त हो जाये यदि उसके उन साधु-संन्यासियों को हटा दिया जाये जो त्याग और दिव्य साधना का जीवन निर्वाह करते हैं। ये ही वे लोग हैं जो विश्व में धर्मों को बनाये रखते हैं। ये लोग ही गृहस्थों को उनके कष्ट एवं दु:ख के क्षणों में शान्ति प्रदान करते हैं। ये आध्यात्मिक ज्ञान द्वारा निराशों में आशा का संचार करते हैं, दु:खितों को सुख पहुँचाते हैं, दुर्बल को सबल और डरपोक को निडर बनाते हैं।

संन्यासी रोटी के कुछ टुकड़ों पर ही जीवन निर्वाह करते हैं और उसके बदले में वेदान्त का ज्ञान, जो ब्रह्म-प्राप्ति का सिद्धान्त है, द्वार-द्वार घूम कर पूरे देश में प्रसारित करते हैं। विश्व उनका ऋणी है। उनकी रचनायें आज भी हमारा मार्गदर्शन करती हैं और हमें प्रेरणा देती हैं। यदि तुम अवधूत गीता के कुछ श्लोक पढ़ लो तो तुम तुरन्त दिव्य गरिमा और महिमा की ऊँचाइयों को छूने लगोगे। अवसाद, दुर्बलता, दुश्चिन्ता तथा क्लेश स्वत: लुप्त हो जायेंगे।

एक सच्चा संन्यासी ही सही अर्थों में शक्तिमान् होता है। वह कभी कुछ लेता नहीं, केवल देता है। संन्यासियों ने ही अतीत में उदात्त और गौरवशाली कार्य किये हैं। संन्यासी ही वर्तमान और भविष्य में भी चमत्कारपूर्ण कार्य कर सकते हैं। यह संन्यासियों का साहस है कि उन्होंने सारे बन्धनों को काट डाला। वे निर्भीक हैं, माया, आसक्ति, स्वार्थ इत्यादि से मुक्त हैं और वे ही संसार की वास्तविक सेवा कर सकते हैं। केवल संन्यासी ही लोकसंग्रह कर सकता है, क्योंकि उसमें दिव्य ज्ञान होता है, वह पूर्णत: समर्पित होता है। एक

सच्चा संन्यासी पूरे संसार की नियति को बदल सकता है। वे शंकर महान् थे जिन्होंने अद्वैत सिद्धान्त दिया। वे अब भी हमारे हृदयों में हैं। इस विश्व में उनका नाम अमर रहेगा।

जिस प्रकार विज्ञान, मनोविज्ञान, जीवविज्ञान और दर्शनशास्त्र में शोधकर्ता या स्नातकोत्तर होते हैं, उसी प्रकार आत्म के विषय में अध्ययन, उस पर ध्यान और शोध करने वाले स्नातकोत्तर संन्यासी होने चाहिए। ये स्नातकोत्तर संन्यासी आध्यात्मिक क्षेत्र के अपने अनुभवों एवं ज्ञान का प्रकाश विश्व में फैलायेंगे। वे विद्यार्थियों को प्रशिक्षित कर विश्व में शिक्षण के लिए भेजेंगे।

यह गृहस्थों और प्रशासन का कर्तव्य है कि वे संन्यासियों की आवश्यकताओं की पूर्ति करें। इसके बदले ये संन्यासी उनकी आत्मा की देखभाल करेंगे। इस प्रकार संसार अत्यन्त सुगमतापूर्वक चलता रहेगा और सर्वत्र शान्ति रहेगी।

संन्यास की आवश्यकता

मैं उनका विश्वास नहीं करता जो यह कहते हैं कि उन्होंने अपने हृदयों को रंग लिया है। यह उनका दिखावा और कायरता है। यदि अन्तरंग वस्तुत: परिवर्तित होता है तो बहिरंगी परिवर्तन अवश्यम्भावी है। आन्तरिक प्रवृत्तियाँ हमारे बाहरी व्यक्तित्व में विपरीत प्रवृत्तियों या स्वभाव को टिकने नहीं देती हैं। मैं नहीं समझता कि अहंकार और वासना के निर्मूलन का संकल्प कर लेना ही संन्यास है। आश्रमभेद नितान्त अनिवार्य है। शंकर और श्रीरामकृष्ण जैसे संतों ने संन्यास क्यों लिया? ब्रह्म ज्ञान प्राप्त होने के बाद भी याज्ञवल्क्य ने संन्यास क्यों लिया? संन्यास क्यों आवश्यक है?

मंडन मिश्र के समान महान् कर्मकाण्डी या प्रवृत्ति मार्गी दूसरा नहीं हुआ। वे कर्म के सबसे बड़े पक्षधर थे। उन्होंने शंकर के साथ लगातार कई दिनों तक संन्यास की अनावश्यकता पर बहस की थी। वे यह प्रमाणित करना चाहते थे कि कर्म मार्ग के द्वारा भी मुक्ति सम्भव है और इसके लिए निवृत्ति बिल्कुल अनिवार्य नहीं, किन्तु अन्त में मण्डन मिश्र शंकर से पराजित हो गये और उनके चार पट्ट शिष्यों में से एक हुए। जब उनके जैसा समर्थवान् पुरुष संन्यासी बन सकता है तो क्या हम ऐसा कहने की धृष्टता कर सकते हैं कि संन्यास अनावश्यक है?

गेरू और मुंडित सिर

संन्यासी के वस्त्र का गेरू रंग यह इंगित करता है कि वह अग्नि की तरह पवित्र है। वह तपे हुए सोने की तरह चमकता है, इच्छाओं और वासनाओं जैसी अशुद्धियों से मुक्त होता है। यह पवित्रता का प्रतीक है। यह निवृत्ति मार्ग पर चलने वाले जिज्ञासु की सहायता करता है। गेरू उसे दुष्प्रवृत्तियों से, दुश्कर्मों से दूर रखता है, उनसे बचाता है। यह वस्त्र उसे स्मरण कराता रहता है कि सांसारिक सुखोपभोग उसके लिए नहीं हैं। धीरे-धीरे उसका स्वभाव वाञ्छित साँचे में ढल जाता है। गेरू वस्त्र किसी के संन्यासी होने का बाह्य प्रतीक है।

एक संन्यासी अपना सिर पूरी तरह मुंडित रखता है। यह क्रिया शारीरिक सौन्दर्य की आकांक्षा को दूर करती है। वह बालों की सुन्दरता के लिए तेल तथा अन्य प्रसाधनों का प्रयोग नहीं करेगा। यह प्रदर्शित करता है कि उसने बाह्य सौन्दर्य का परित्याग कर दिया है और वह अपने अन्तर के सुन्दरतम सौन्दर्य में निवास करता है। सिर का मुण्डन इंगित करता है कि अब वह इस संसार से परे है। उसे विषयासक्त नहीं होना चाहिए। यह सांसारिक सुखों से विरक्त मानसिक अवस्था का बाह्य प्रतीक है।

मानसिक अवस्था

केवल वस्त्र को रंग लेना संन्यास नहीं है। संन्यास एक मानसिक अवस्था है। वही वास्तविक संन्यासी है जो आसक्ति और अहंकार से मुक्त है और जो संसार में परिवार के साथ रहते हुए भी सात्त्विक गुणों से परिपूर्ण है। चुड़ाला एक योगिनी-संन्यासिनी रानी थी जिसने एक राज्य पर शासन किया था। ऐसा संन्यासी जो जंगलों में तो रहता है, किन्तु उसका मन आसक्तियों में डूबा हुआ है, वह सांसारिक मानसिकता वाले मूर्ख गृहस्थ से भी निकृष्ट है। यद्यपि शिखिध्वज अनेक वर्षों तक जंगलों में निर्वस्त्र भटकता रहा, किन्तु वह पूर्णतः सांसारिक व्यक्ति था।

आसक्तियों, इच्छाओं, अहंकार और वासनाओं का त्याग ही सच्चा त्याग है। यदि तुम्हारा मन निष्कलंक है, आसक्ति, अहंकार और बन्धनों से मुक्त है, तो तुम एक संन्यासी हो, भले ही तुम जंगल में रहो या हलचल भरे आधुनिक नगर में, तुम्हारा वस्त्र उजला हो या नारंगी, तुमने अपना सिर मुण्डाया हो या लम्बी जटा रखी हो–इससे कोई फर्क नहीं पड़ता।

किसी ने गुरु नानक से पूछा, 'ओ संत! आपने सिर क्यों नहीं मुण्डाया? आप तो एक संन्यासी हैं।' गुरु नानक ने उसका उत्तर दिया, 'मेरे प्यारे दोस्त, मैंने अपने मन का मुण्डन करवाया है।' वस्तुत: मन का ही मुण्डन होना चाहिए। मन के मुण्डन का तात्पर्य है हर प्रकार के बन्धन, आसक्ति, अहंकार, प्रेमांधता, लालसा, लालच, क्रोध इत्यादि से छुटकारा पाना। वही वास्तविक मुण्डन है। बाहरी मुण्डन व्यर्थ है यदि अन्तर तृष्णा से जर्जर है तो।

अनेक लोगों ने यह नहीं समझा है कि वास्तविक त्याग क्या है। भौतिक वस्तुओं का परित्याग करना ही त्याग नहीं, मन के आत्मनिषेध से ही त्याग का जन्म होता है। सांसारिक अस्तित्व को अस्वीकार करने से नहीं, बल्कि इच्छाओं और अहंकार को मिटाने में त्याग है। अहंकार का त्याग सच्चा त्याग है, इसके साथ ही सांसारिकता का मोह भंग होता है। यदि वह सूक्ष्म अहंकार मिट जाता है तो देहाध्यास स्वत: समाप्त हो जाता है।

संन्यास एवं वेदान्त

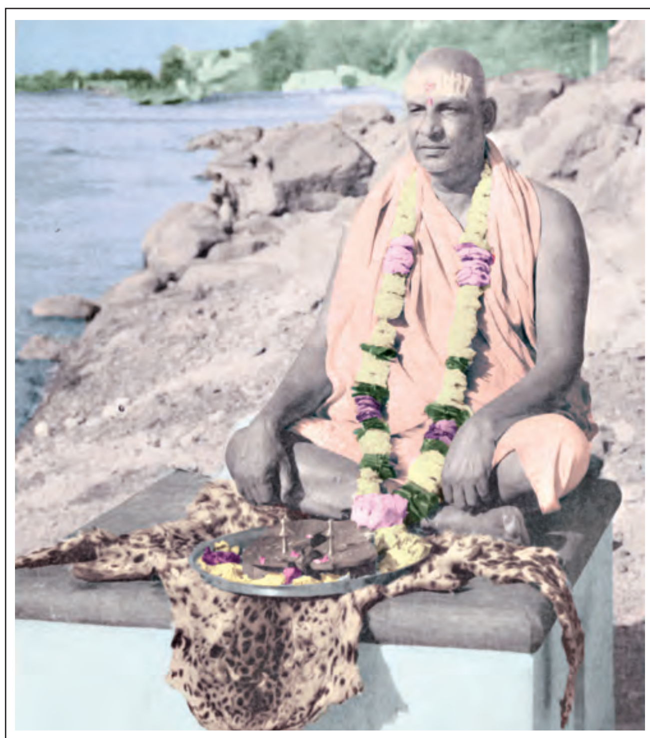
संन्यास और वेदान्त एक-दूसरे के पूरक हैं, दोनों एक-दूसरे के बिना अधूरे हैं। जहाँ वास्तविक संन्यास है, वहीं वेदान्त अपने व्यावहारिक रूप में विद्यमान है। जहाँ व्यावहारिक वेदान्त है, वहाँ अवश्य ही संन्यास का उच्चतम प्रकार विद्यमान है। वेदान्त के बिना संन्यास फलीभूत नहीं होता। संन्यास के बिना वेदान्त केवल बुद्धिवाद है। जब संन्यास और वेदान्त एक-दूसरे के अभिन्न अंग बन जाते हैं, तो फलस्वरूप परम प्रज्ञावान ज्ञानी उत्पन्न होता है।

संन्यास व्यक्ति के अहंकार और उसकी दुष्प्रवृत्तियों का उन्मूलन करता है और वेदान्त हृदय को सद्गुणों से भर देता है। वेदान्त के बिना संन्यास में रिक्तता रह जाती है और उसका उद्देश्य पूरा नहीं होता है। उसी प्रकार संन्यास के बिना वेदान्त की नैसर्गिकता समाप्त हो जाती है और वह अपना अर्थ खो बैठता है। संन्यास के द्वारा अहंकार से मुक्त हुए बिना वेदान्त को नहीं समझा जा सकता है और वेदान्त के सर्वोच्च आदर्शों को समझे बिना संन्यास निरर्थक है।

वेदान्त यह नहीं कहता कि आप संसार का त्याग कर दें। यह चाहता है कि आप अपनी मानसिक वृत्ति में परिवर्तन लायें और 'मैं' एवं 'मेरा' की भ्रामकता

से बाहर आयें। यदि आप अपने मन के इन दो विष दन्तों को बाहर निकाल दें तो आप अपने मन को जहाँ चाहे वहाँ ले जा सकते हैं। तब आप सदा समाधि की अवस्था में ही रहेंगे। आपको त्याग के अभिमान को भी त्यागना है। त्याग-अभिमान की जड़ें अतल गहराइयों में चली जाती हैं। आपको इस विचार का ही परित्याग करना है कि 'मैंने सब कुछ त्याग दिया है। मैं महान् त्यागी हूँ।' साधु का यह अभिमान गृहस्थ के उस अभिमान–'मैं धनवान हूँ। मैं ब्राह्मण हूँ, इत्यादि'–से भी कुत्सित है।

केवल दण्ड लेकर चलने से, सिर मुड़वाने से, गेरू पहनने से या अहंकार पूर्ण व्यवहार से मोक्ष प्राप्त नहीं होता। बुद्धि और विवेक एक संन्यासी के लक्षण हैं। एक काष्ठदण्ड से व्यक्ति संन्यासी नहीं बनता। वही बुद्धिमत्ता–पूर्ण संन्यासी है जो स्वप्न में भी उसी प्रकार अपने यथार्थ स्वभाव के प्रति चेतन रहा है जैसा कि वह जाग्रत अवस्था में रहता है। वह ब्रह्म ज्ञानियों में भी महान् है। वह महानतम संन्यासी है।



स्वामी सत्यानन्द

अनेक हृदयों को मुझे सजाने दो और हजारों में मुझे नव-स्फूर्ति तथा उच्च मूल्यों की मौन ध्वनि भरने दो। मुझे एक बालक की तरह सरल जीवन जीने दो, जिससे नंगे पैरों ही मैं हँसते तथा रोते हुए लोगों की भीड़ के भीतर दौड़-दौड़ कर उन्हें कल्पना के सुन्दर फूल बाँट सकूँ और आश्चर्य कर सकूँ कि प्रभु अपनी सम्पदा बेमूल्य ही बाँटते रहते हैं।

क्या मैं घुटने टेक कर इस बात की प्रतीक्षा करता रहूँ कि कोई मुझे सुख तथा सुनहले सपनों के संसार का वरदान देगा? नहीं, मैं जीवन की मरुभूमि में अपनी दोनों बाहें फैलाकर दौड़ूँगा। कभी गिरूँगा, कभी लड़खड़ाऊँगा, परन्तु हमेशा उठ चलूँगा। यह सिलसिला हजारों बार भी दुहराने को मैं तैयार हूँ। कभी मैं प्रसन्न होऊँगा, कभी जीवन की आग में झुलस जाऊँगा। कभी जीवन हथेलियों से मेरा शरीर सहलायेगा। कभी कठिनाइयों तथा बाधाओं से मेरे अनेक दिन घिर आयेंगे और कभी ऐसे अनेक क्षण इतने सुन्दर बन जायेंगे कि मेरी आत्मा आनन्दविभोर होकर नाचेगी।

मैं साक्षी बनूँगा, भागूँगा नहीं जीवन से और स्वयं से। मैं कभी अपने को छोड़ूँगा नहीं और न कभी उन अमर शिक्षाओं को ही छोड़ूँगा, जिन्हें मैंने सिखाया है अपने आपको और न ही खो जाने दूँगा दिव्य प्रेरणा के अमूल्य खजाने को। बुलबुलों से बना मेरा इन्द्रधनुष ले जायेगा मुझे क्षितिज के पार- जिससे मैं न केवल अभी, वरन् हमेशा-हमेशा के लिए सेवा, स्नेह और संन्यास का जीवन व्यतीत करूँगा।

–स्वामी सत्यानन्द सरस्वती

प्रयाण

सन् 1988 ई० का 8 अगस्त, गंगा दर्शन का एक सामान्य-सा दिन। सभी संन्यासी तथा अन्य आश्रमवासी अपने दैनिक कार्यों में लगे हुए थे, अपने विभागों को खोलना, पत्रों को छाँटना, प्रूफ पढ़ना, पांडुलिपियों का टंकण, पार्सल बनाना, कक्षाएँ लेना, अभ्यागतों की देखभाल करना इत्यादि-अर्थात् सब कुछ सामान्य, अन्य दिनों के समान, किन्तु नहीं! कोई भी इससे अवगत नहीं था कि गंगा दर्शन की सबसे ऊपरी मंजिल पर, जहाँ गुरुदेव का कक्ष, श्री निवास है, वहाँ सब की नियति में कितना बड़ा परिवर्तन आने वाला था।

गुरुदेव के कक्ष में कुछ सरगर्मी थी, वातावरण कुछ तनावपूर्ण था, जल्दी-जल्दी अपनी दो धोतियाँ एक छोटे-से झोले में डाल कर उन्होंने अपने दो-तीन युवा शिष्यों को बुलाया, जाते-जाते वे कुछ आदेश निर्गत करना चाहते थे। शायद किसी को भी यही लगा होगा कि जिस प्रकार वे किसी संगोष्ठी या किसी कार्यक्रम का उद्घाटन करने कहीं आस-पास में जाते हैं उसी प्रकार पूरे दिन के लिए जा रहे होंगे।

थोड़ी देर बाद शीघ्रता से चलते हुए गुरुदेव की खड़ाऊँ की खट्-खट् गंगा दर्शन के सामने के दरवाजे से निकलती हुई सुनाई पड़ी और फिर सीढ़ियों से नीचे ताड़ वृक्षों की कतारों के बीच की चौड़ी सड़क से होती हुई परिसर के विशालकाय मुख्य द्वार की ओर चली गई। आस-पास बगीचे में काम कर रहे कुछ संन्यासियों के अतिरिक्त वहाँ और कोई नहीं था। खड़ाऊँ की आवाज सुनकर वे गुरुदेव को प्रणाम करने भागे-भागे आये और अत्यन्त प्रसन्न हुए कि आश्रम की सैर करने को निकले गुरुदेव उन्हें मिल गये। उन सब को यह पता कहाँ था कि गुरुदेव के चरणों का स्पर्श करने का यह अन्तिम अवसर होगा, अन्यथा उन्होंने स्पर्श किया होता।

जब शिष्य हड़बड़ा कर प्रणाम करने के लिए झुके तो गुरुदेव के ओठों पर सदा की तरह प्रेरणात्मक मुस्कान थी, किन्तु उनकी दृष्टि कहीं दूर भविष्य पर टिकी हुई थी, मानो नियति का कोई नया पृष्ठ खुलने वाला हो। वे मुख्य द्वार की ओर बढ़ गये। उस समय, जब सारा आश्रम इस तथ्य से अनभिज्ञ था, मुख्य द्वार का छोटा दरवाजा खुला, और फिर कभी मुड़कर पीछे नहीं देखने के लिए गुरुदेव बाहर निकल गये। दिन निकलते गये, महीने भी निकल गये। यद्यपि संन्यासीगण अपने कार्यों में व्यस्त थे, फिर भी एक

विचार उनके मस्तिष्क को बार-बार झकझोर रहा था, 'गुरुदेव कहाँ हैं? वे अब तक आये क्यों नहीं?' उन लोगों को मालूम था कि इस महीने में या आगे आने वाले महीनों में भी उनका कोई निश्चित कार्यक्रम नहीं था। वे प्राय: सितम्बर के महीने में यात्रा नहीं करते थे। इसलिए वे कहाँ हो सकते हैं? उनकी अनुपस्थिति अधिक उलझन इसलिए भी पैदा कर रही थी कि गुरुदेव बिना किसी को बताये हुए कहीं बाहर नहीं जाते थे। किन्तु उनके मन में यह विचार बिल्कुल नहीं आया कि वे अपने जीवन की सारी उपलब्धियों को, यहाँ तक कि अपने शिष्यों को भी त्याग कर चले जायेंगे।

इस घटना के संकेत अनेक वर्षों से मिलते आ रहे थे। क्या गुरुदेव ने सन् 1983 ई० में स्वामी निरंजनानन्द को अमेरिका से वापस बुलाया नहीं था? क्या तभी उन्होंने घोषणा भी नहीं की थी कि स्वामी निरंजनानन्द ही सारे उत्तरदायित्वों को सम्भालेंगे? इसके बाद गुरुदेव ने कई वर्षों तक एक तेजस्वी भिक्षु के रूप में विदेशों की यात्रा की और बीच-बीच में मुंगेर आते-जाते रहे। फिर उन्होंने यह भी त्याग दिया और आश्रम में ही एकान्तपूर्ण जीवन अपना लिया। उन दिनों पहले तो उन्होंने लोगों से पन्द्रह दिनों में एक बार, फिर एक महीने में एक बार और फिर तीन महीने में एक बार मिलना प्रारम्भ किया। सत्संगों के क्रम में वे बार-बार यह कहा करते थे कि वे आश्रम इत्यादि त्याग कर अकेले रहना चाहते हैं, किन्तु संन्यासीगण इस विचार को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थे। कभी किसी के मन में यह आशंका भी नहीं उठी कि गुरुदेव एक दिन सचमुच सब कुछ छोड़ कर चले जायेंगे और कभी वापस नहीं आयेंगे। यह अकल्पनीय था।

अन्तत: स्वामी निरंजनानन्द ने दो महीनों के बाद अक्टूबर महीने में सभी शिष्यों को बताया कि श्री स्वामीजी ने एक परिव्राजक के रूप में मुंगेर आश्रम को त्याग दिया है और अब वे भारत के सभी सिद्ध तीर्थों के दर्शन करेंगे। वे अपने साथ केवल एक झोला और मात्र 108 रुपये लेकर गये हैं जो उन्हें उनके गुरु स्वामी शिवानन्द से मिले थे जब उन्होंने ऋषिकेश छोड़ा था। श्री स्वामीजी ने किसी भी प्रकार की सहायता लेने से इन्कार कर दिया था। स्वामी निरंजनानन्द ने यह भी बताया कि जब उन्होंने उनसे गंगा दर्शन लौटने के विषय में पूछा तो श्री स्वामीजी ने स्पष्ट कहा था, 'अब न तो मेरा कोई उत्तरदायित्व शेष है और न ही मुझे बिहार योग विद्यालय के गुरु के अधिकार या उसकी पदवी के प्रति कोई आसक्ति है। मेरे लक्ष्य का एक पक्ष

अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गया। मेरे लक्ष्य का अगला पक्ष मेरे परिव्राजकत्व से ही प्रारम्भ हो गया। अब यदि कभी मैं यहाँ आऊँगा तो एक साधक के रूप में, एक गुरु के रूप में नहीं।'

संन्यासियों को इस समाचार के आघात से उबरने में महीनों लग गये। बहुतों को लगा मानो उनके जीवन का सूर्य सदा के लिए अस्त हो गया है। जिसने उन सब के जीवन को अर्थ, उद्देश्य और प्रेरणाओं से भर दिया, अब वह उन लोगों के बीच नहीं था। प्रत्येक का मन विषाद और हताशा से भारी हो गया था। सारे चेहरों की मुस्कान गायब थी। संन्यासी एक ही विचार में खोये हुए थे, 'गुरुदेव ने हमें क्यों छोड़ दिया?'

तब स्वामी निरंजनानन्द ने उन लोगों के मन को हल्का करने के लिए शाम के समय बाहर उद्यान में बैठना प्रारम्भ कर दिया। वे उन लोगों से दिन में किये गये कार्यों की चर्चा करते, कहानियाँ सुनाते या उनके साथ कोई खेल खेलते। ऐसी ही एक शाम को कुछ संन्यासियों ने स्वामी निरंजनानन्द से कहा, 'यद्यपि हम लोग आश्रम में कई वर्षों तक उनके साथ रह चुके हैं, फिर भी हम लोग गुरुदेव के प्रारम्भिक जीवन के विषय में बहुत कम जानते हैं। कृपया हम लोगों को उनके बचपन के विषय में बतायें और यह भी बतायें कि उन्हें उनके गुरु कैसे मिले।' इस पर स्वामी निरंजनानन्द कुछ देर मौन रहे और फिर उन्होंने कहा, 'हाँ, स्वामी सत्यानन्द का जीवन हम सब के लिए प्रेरणास्पद है। उनका जीवन वृत्तान्त सुनाना मेरे लिए आनन्दप्रद होगा। लेकिन पहले हम लोग ज्योति मन्दिर में चलें।'

बाल्य काल

सभी संन्यासी तथा अन्य आश्रमवासी शीघ्रता से ज्योति मन्दिर के शीतल और शान्त वातावरण में जाकर बैठ गये, जहाँ सबसे आगे एक दीपक प्रज्वलित था। यह ज्योति गुरुदेव के मिशन के प्रारम्भ से ही उनकी दिव्य प्रेरणा की प्रतीक थी। स्वामी निरंजनानन्द ने ज्यों ही आसन ग्रहण कर बोलना आरम्भ किया सबकी नजरें उन पर टिक गयीं।

'गुरुदेव का जन्म हिमालय की तराई में अल्मोड़ा जिले के एक गाँव में हुआ था। आधुनिकताओं से अनछुआ, हरीतिमा ओढ़े सुरम्य पर्वत ने बालक को शाश्वत सत्संग का वातावरण दिया, मानो अतीत के ऋषि-मुनियों की

आत्मायें उनका निरन्तर अप्रत्यक्ष मार्ग-दर्शन कर रही थीं, इतना ही नहीं, वे सदा वर्तमान जीवन के महात्माओं और संन्यासियों के बीच रहते। तपस्या और त्याग से अर्जित संस्कारों ने बालक के पूर्व जन्मों को समृद्ध कर दिया था और शायद इसीलिए वर्तमान जीवन के प्रारम्भिक दिनों में ही आध्यात्मिक रुझान स्पष्ट होने लगा था।'

'उनके माता-पिता ने उनका उपयुक्त नाम रखा था–धर्मेन्द्र, जैसे कि उन्हें ज्ञात हो कि एक दिन उनका बालक चमक उठेगा, केवल अनुशासित और नियन्त्रित इन्द्रियों की दीप्ति नहीं, बल्कि धर्म की तेजस्विता से ओतप्रोत एक सार्वभौमिक व्यक्तित्व। वस्तुत: बालक स्वयं को समझ पाता इसके पूर्व ही उसका मन आध्यात्मिक प्रभावों के द्वारा एक विशेष साँचे में ढल चुका था। इसीलिए उसकी दृष्टि अन्य बालकों से भिन्न थी और जब उसने सजगता के साथ जीवन की रंगभूमि पर कदम रखा तो उसे बुरे संस्कारों की कोई समस्या ही नहीं थी।'

'स्वामीजी के माता-पिता, दोनों ही हिन्दू थे। पिता आर्य समाजी थे। आर्य समाज ने पारम्परिक मूर्ति पूजा का विरोध किया था। वे लोग प्रतिदिन हवन करते तथा गायत्री मन्त्र और अन्य संस्कृत मन्त्रों का उच्चारण करते। उनके पिता कृष्ण सिंह शिव के भक्त थे और एक गुरु के अनुयायी भी थे। स्वामीजी की माता गाँधीजी की सहयोगिनी थीं। वे केवल खादी वस्त्र पहना करती थीं और उन वस्त्रों के लिए वे स्वयं ही सूत काता करतीं थीं। अपने काते हुए सूत के वस्त्र पहनना सर्वोदय आन्दोलन की एक विशेषता थी जिससे वे सक्रिय रूप से जुड़ी हुई थीं।'

'स्वामीजी के परिवार वाले क्षत्रिय थे और वे जमीन्दार भी थे। उनकी जमीन्दारी में अनेक गाँव और ढेर सारे जानवर थे, जैसे–घोड़े, भेड़, बकरी, गायें इत्यादि। उनके पिता अंग्रेजी शासन के अन्तर्गत पुलिस इंस्पेक्टर थे, जबकि उनकी माता देशभक्त होने के कारण एक विनम्र स्वयंसेविका के रूप में सत्याग्रह आन्दोलन में भाग लिया करती थीं। इसलिए प्राय: ऐसा होता था कि पिता आन्दोलनकारिणी माता को गिरफ्तार करते, जेल भेजते और कुछ समय के बाद उन्हें रिहा कर घर भेज देते और इस प्रकार विपरीत राजनैतिक विचारों के बावजूद दोनों साथ थे।'

'एक छोटे बालक के रूप में भी स्वामीजी अत्यन्त उत्तरदायित्वपूर्ण तथा कर्मठ थे। उन्होंने आठ वर्ष की अल्पावस्था से ही पारिवारिक जमीन-जायदाद

की देखभाल करना प्रारम्भ कर दिया था, क्योंकि उनके पिता तो अपनी नौकरी में व्यस्त रहते थे और माता या तो जेल में होती या स्वतन्त्रता संग्राम से सम्बद्ध किसी अन्य गतिविधि में संलग्न रहतीं, उन्हें घर-बार देखने की फुर्सत ही न मिलती। इतने बड़े उत्तरदायित्वों का निर्वाह करते-करते उनमें व्यावहारिकता, प्रबन्धात्मक क्षमता तथा स्वतन्त्र रूप से कार्य और विचार करने की क्षमता आ गयी। आगे चलकर उन्होंने अपनी इन्हीं क्षमताओं का बखूबी उपयोग किया–एक आध्यात्मिक प्रणेता और अन्तर्राष्ट्रीय योग आन्दोलन के संस्थापक के रूप में।'

एक स्वामी ने कहा, 'मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि स्वामीजी ने अपने दृढ़ और अनुशासन-प्रिय पिता और देश-भक्त क्रान्तिकारी माता के सारे गुण वंशानुक्रम से प्राप्त किये थे। इन्हीं गुणों ने उन्हें आगे चलकर आध्यात्मिक प्रणेता और एक संन्यासी बना दिया।'

दूसरे स्वामी ने पूछा, 'उनमें आध्यात्मिक विकास किस प्रकार हुआ? क्या उनके बाल्यकाल में ऐसी कोई घटना घटी या उन्हें कोई अनुभव हुआ जिसने उन्हें त्यागमय जीवन की ओर प्रेरित कर दिया और उनके प्रतापी जीवन का संकेत दे गया?'

स्वामी निरंजनानन्द ने बताया, 'स्वयं गुरुदेव ने जो कथायें सुनायी थीं उनसे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि वे बचपन से ही आध्यात्मिक प्रवृत्ति के थे। अपने मिशन तथा गंगा दर्शन की स्थापना के विषय में चर्चा करते समय उन्होंने एक बार बताया था कि जब वे पाँच वर्ष के छोटे-से बच्चे थे तो वे एक सात मंजिले भवन का नक्शा बनाया करते थे और उसे अपना बताते थे। वे स्वप्न में सुदूर देशों की हवाई यात्राएँ भी किया करते थे।'

'जब वे छ: वर्ष के हुए तो उन्हें सहजानुभूतियाँ होने लगीं और उन क्षणों में वे शारीरिक चेतना खो बैठते। जब वे दस वर्ष के हुए तो उन्हें वैसी ही अनुभूतियाँ दुबारा हुईं। उनके पिता को इस प्रकार की विचित्र अनुभूतियों के विषय में कोई जानकारी नहीं थी। इस प्रकार की असामान्य अनुभूतियों को देहमुक्तता कहा जा सकता है जहाँ चेतना देह से मुक्त होकर, अलग होकर एक साक्षी की भाँति उसका अवलोकन करती है। उन लोगों के गाँव से होकर गुजरने वाले योगियों से इसके विषय में पूछा गया तो उन लोगों ने इस अवस्था को समाधि की अवस्था कहा। किन्तु कम उम्र का बालक होने के कारण इस अवस्था पर उनका नियन्त्रण नहीं था। उन्होंने स्वामीजी को

आध्यात्मिक प्रशिक्षण लेने की सलाह दी और इस प्रकार उनका आध्यात्मिक जीवन प्रारम्भ हो गया।'

'इसके बाद उनके पिता उन्हें उन संन्यासियों या संतों से मिलवाने ले जाते जो उनके गाँव से गुजर रहे होते थे। उन्होंने उन्हें आध्यात्मिक पुस्तकें, जैसे, भगवद्गीता, रामायण, महाभारत, बाईबिल, कुरान इत्यादि पढ़ने के लिए प्रेरित किया। इस अल्पायु में भी स्वामीजी में इन गूढ़ ज्ञानपूर्ण तथ्यों को समझने की अद्भुत क्षमता थी। साथ ही उन्हें छायाचित्रात्मक (फोटोग्राफिक) स्मृति सहज रूप से प्राप्त थी, जिसके द्वारा संस्कृत साहित्य के अनेक कठिन अंश उन्हें पूरी तरह याद हो गये थे।'

'इस समय आनन्दमयी माँ उस क्षेत्र की यात्रा पर थीं। उनके पिता ने उन्हें उनके पास ले जाकर रहस्यमयी देहमुक्तानुभूति के विषय में परामर्श लिया। आनन्दमयी माँ ने भी यही कहा कि बालक न तो भूताविष्ट है और न ही उसका मतिभ्रंश हुआ है, बल्कि अपने उत्तम संस्कारों के कारण उसकी आत्मा सहज रूप से जाग्रत हो उठी है। आनन्दमयी माँ ने स्वामीजी की पीठ पर हाथ रखकर आशीर्वाद देते हुए कहा, "कीर्तन करो, संत और संन्यासी बनो।"

एक स्वामी ने जिज्ञासा व्यक्त की, 'इस प्रकार की अनुभूतियों के बाद स्वामीजी को किस प्रकार की शिक्षा दी गयी? क्या विद्यार्थी जीवन में गुरुदेव की ईश्वर प्रदत्त विशेषताएँ परिलक्षित हुई थीं?'

स्वामी निरंजनानन्द ने बताया, 'उनकी औपचारिक शिक्षा के लिए उन्हें नैनीताल के एक कॉनवेन्ट स्कूल भेजा गया था और उसके बाद उनकी शिक्षा अल्मोड़ा के राजकीय इंटरमीडिएट कॉलेज में हुई थी। वे अत्यन्त प्रतिभाशाली छात्र थे, भाषा और साहित्य में वे विशेष रूप से प्रतिभासम्पन्न थे। उन्होंने शीघ्र ही हिन्दी, संस्कृत और अंग्रेजी भाषाओं में विद्वत्ता प्राप्त कर ली तथा वे इन भाषाओं में सहज रूप से सुन्दर और प्रेरणास्पद कविताओं की रचना करने लगे। इनकी कविताएँ मुख्यत: रहस्यवादी तथा अत्यधिक आध्यात्मिक होती थीं।'

'स्वामीजी की कविताएँ स्कूल की पत्रिकाओं में प्रकाशित होतीं और चारों ओर शोर मच जाता। लोगों को विश्वास ही नहीं होता कि इतनी सुन्दर और प्रेरणात्मक कविताएँ स्कूल का एक छात्र लिख सकता है। बाद में स्वामीजी ने स्वयं 'भारत' नाम की अपनी पत्रिका का सम्पादन प्रारम्भ किया। एक बार जब प्रसिद्ध कवि सुमित्रानन्दन पंत अल्मोड़ा आये हुए थे तो स्वामीजी ने उन्हें

अपनी पत्रिकाएँ दिखाईं। उन्होंने स्वामीजी की रचनाओं की प्रशंसा की और कहा, "साहित्य क्षेत्र में इस बालक का अवश्य महान् योगदान होगा।"

'स्वामीजी हिन्दी के साथ-साथ संस्कृत में भी लिखा करते थे। एक बार तो वे अँग्रेजी में भी पत्रिका प्रकाशित करने का विचार कर रहे थे। हालाँकि अन्य विषयों में उनका मन नहीं लगता था। ज्यामिति और अलजेब्रा की कक्षाओं में वे पिछली बेंच पर बैठकर या तो कविताएँ लिखते थे या अपनी पत्रिका के लिए कहानियों तथा अन्य रचनाओं का संशोधन करते थे। उन्होंने यह दिखा दिया था कि जो विषय उन्हें अच्छा लगता था उसमें कम समय में ही वे दक्षता प्रात कर लेते थे, किन्तु जो उन्हें अच्छा नहीं लगता था उसे कोई उन्हें सिखा नहीं सकता था।'

'यह तो उस युवा की अन्तर्जागृति के अनेक संकेतों में से एक संकेत था। आध्यात्मिकता से देदीप्यमान् उनकी आत्मा ने जीवन के उस रूप को अस्वीकार कर दिया जिसे अन्य लोग स्वीकार करते हैं। बालक ने जीवन के विभिन्न पक्षों पर प्रश्नचिन्ह लगाने प्रारम्भ किये और जीवन सम्बन्धी अनेक विलक्षणताओं को ढूँढ़ निकाला। इस प्रकार धीरे-धीरे विवेक उनके अन्दर गहराई में पैठता गया।'

इसी समय एक संन्यासी ने पूछा, 'स्वामी सत्यानन्द को सदा तन्त्र के क्षेत्र का एक प्रमुख प्रतिपादक माना जाता रहा है। क्या उनके बचपन में ऐसी कोई घटना घटित हुई जिसने उनमें तन्त्र के प्रति रुचि उत्पन्न कर दी?'

स्वामी निरंजनानन्द ने सिर हिलाते हुए कहा, 'हाँ, मुझे कई महत्त्वपूर्ण घटनायें याद हैं। उन्होंने स्वयं अपने एक प्रयोग का वर्णन किया था–उन्होंने श्मशान साधना की थी जब वे मात्र बारह वर्षों के थे। ऐसा प्रतीत होता है कि जब वे किसी तान्त्रिक से मिले तो उसने उन्हें श्मशान की राख लाकर उस पर किसी विशेष मन्त्र का जप करने को कहा और उन्होंने वैसा ही किया। रात में वे श्मशान जाकर तान्त्रिक योगी के निर्देशों के अनुसार तन्त्र साधना का अभ्यास करते।'

'एक दिन उनके पिता को उनकी गतिविधियों का पता चल गया। एक आर्यसमाजी होने के कारण उनका न तो इस सब में विश्वास था और न ही वे ऐसे अनुष्ठानों को पसन्द करते थे। उन्होंने स्वामीजी को चेतावनी दी कि वे यह सब बन्द कर दें अन्यथा उन्हें घर से निष्कासित कर दिया जायेगा। किन्तु स्वामीजी को साधना को अवश्य पूरा करने का निर्देश दिया गया था। वे 25

दिनों का अभ्यास पूरा कर चुके थे और 15 दिनों तक करना शेष था। इसलिए उन्होंने मिट्टी के एक बर्तन में चिता भूमि की राख लाकर उसे घर की छत पर छिपा कर रख दिया।'

'रात में जब सब सो जाते तो वे छत पर जाकर उन मन्त्रों के जप के साथ आवाहन करते। एक रात मन्त्रोच्चार और छत पर हो रही धम-धम की आवाज से उनके पिता की नींद खुल गयी। लगता था जैसे कोई नाच रहा हो। उनके पिता को लगा कि कोई चोर होगा, उन्होंने बन्दूक निकाली और छत पर तहकीकात करने चले गये। जब वहाँ उन्हें कोई भी नहीं मिला तो वे आपस नीचे आकर बिस्तर पर चले गये। लेकिन फिर छत पर से नाचने की आवाजें आने लगीं।'

'वे दुबारा छत पर देखने गये, किन्तु फिर उन्हें निराशा हुई। इस बार उन्हें महसूस हुआ कि अवश्य ही कुछ रहस्यात्मक गतिविधि चल रही है। इसलिए उन्होंने स्वामीजी को बुलाकर पूछा कि यह सब क्या हो रहा है। स्वामीजी ने नितान्त अबोध बालक के समान अभिनय करते हुए कहा कि उसके विषय में उन्हें कुछ भी मालूम नहीं। फिर भी सुबह होने पर उनके पिता छत का निरीक्षण करने गये। वहाँ उन्होंने भस्म वाला बर्तन देखा तो सारा मामला उन्हें समझ में आ गया। वे अत्यन्त क्रुद्ध हो गये और राख के बर्तन को जितनी दूर फेंक सकते थे, फेंक दिया, सारी राख हवा में बिखर गयी।'

एक स्वामी ने कहा, 'कैसे विलक्षण बालक थे! उन्हें अवश्य ही बहुत दुःख हुआ होगा।'

स्वामी निरंजनानन्द ने उत्तर दिया, 'हाँ, घटनाओं के ऐसे घुमाव ने स्वामीजी को दुःखी कर दिया, क्योंकि वे स्वयं उन विशेष अनुभवों को प्राप्त करना चाहते थे। इस घटना के बाद पिता-पुत्र के बीच एक नया सम्बन्ध खड़ा हो गया। ऐसे ही क्षणों में संन्यास का विचार उनके मन में आया। उन्होंने सामान्य प्रकार का जीवन व्यतीत नहीं करने का निश्चय किया और साथ ही उन्होंने उस अनुभूति को प्राप्त करने के लिए स्वयं को समर्पित कर विश्व को उस अनुभूति के अस्तित्व तथा प्रत्येक व्यक्ति के द्वारा उसे प्राप्त किये जा सकने की बात को उद्घाटित करने का निश्चय किया।'

'क्या स्वामीजी ने इसके बाद भी तन्त्र और योग की इन खोजों को जारी रखा?' एक स्वामी ने प्रश्न किया।

स्वामी निरंजनानन्द ने कहा, 'मैं समझता हूँ कि यह निरन्तर चलने वाली एक प्रक्रिया है। पंद्रह वर्ष की आयु में, स्वामीजी जब स्कूल में ही थे तो उन्होंने कुण्डलिनी योग का अभ्यास प्रारम्भ किया और उसके द्वारा उनके अन्दर गम्भीर प्रज्ञा का जन्म हुआ। लगभग इसी समय उन्हें एक अन्य अनुभव प्राप्त हुआ। एक बार वे चुपचाप बैठे हुए थे कि अचानक उनका मन बिना किसी प्रयास के स्वतः अन्तर्मुखी हो गया। उन्होंने तत्काल सम्पूर्ण पृथ्वी को, उसके सागरों, महादेशों, पर्वतों और नदियों को टूट कर छिन्न-भिन्न होते हुआ देखा। इस दृश्य का अर्थ उन्हें तब समझ में आया जब कुछ दिनों बाद द्वितीय विश्व युद्ध का समाचार मिला। इस अनुभव ने उन्हें सचमुच आश्चर्यचकित कर दिया था।'

एक स्वामी ने उत्सुकता व्यक्त की, 'स्वामीजी तो उस समय एक छोटे लड़के थे, क्या इस प्रकार की दृश्यानुभूतियाँ उन्हें उद्विग्न भी करती थीं?'

'वे इस विषय में अधिक-से-अधिक जानना चाहते थे। इसलिए उन्होंने सम्मोहन की क्रिया से लेकर विवेकानन्द के दर्शन तक को पढ़ डाला ताकि कहीं उन्हें कोई सन्तोषजनक उत्तर मिल सके। एक दिन वे कैलाश पर्वत पर जाने वाले एक स्वामी से मिले। उनका नाम नित्यानन्द था। उन्होंने उनसे अपने अचेतन हो जाने की अनियन्त्रित अवस्था का उल्लेख किया। स्वामी नित्यानन्द ने उन्हें यह बताया कि यह कोई रोग नहीं, बल्कि चेतना की एक रूपान्तरित अवस्था थी। उन्होंने स्वामीजी से ध्यान करने को कहा और ध्यान करने का तरीका भी बताया। ध्यान का जो रूप उन्होंने बताया वह लय योग था। यह विचारों के स्थगन की प्रक्रिया है। फिर उन्होंने स्वामीजी को परामर्श दिया कि इसके बाद की स्थिति को एक गुरु की सहायता के द्वारा प्राप्त करें।'

एक संन्यासी ने अपनी जिज्ञासा प्रकट की, 'क्या स्वामी नित्यानन्द स्वामीजी के गुरु बन गये?'

स्वामी निरंजनानन्द ने उसकी जिज्ञासा शान्त करते हुए कहा, 'नहीं, किन्तु उन्होंने मार्ग प्रदर्शित कर दिया था। स्वामीजी ने स्वामी नित्यानन्द से प्रेरित होकर घर पर ही अपनी साधना प्रारम्भ कर दी, यह लगभग 1938 ई० से 1940 ई० के बीच का समय रहा होगा।'

'क्या गृह-त्याग करने के पूर्व किसी अन्य योगी संन्यासी ने भी स्वामीजी को प्रभावित किया था?' यह एक अन्य स्वामी की जिज्ञासा थी।

'हाँ', स्वामी निरंजनानन्द ने बताया, 'जब स्वामीजी 18 या 19 वर्ष के थे तब नेपाल की एक संन्यासी सुखमन गिरि उन लोगों के क्षेत्र में रहने के लिए आईं। वे एक तान्त्रिक सम्प्रदाय की संन्यासी थीं। यद्यपि वे पूरी तरह निरक्षर थीं, किन्तु तन्त्र की गुह्य विद्या में उन्हें आध्यात्मिक गहराई के साथ पूर्ण पाण्डित्य प्राप्त था। उन्होंने स्वामीजी को तन्त्र के रहस्यात्मक पक्षों की शिक्षा दी और व्यापक अनुभवों के अवसर भी दिये। उनके मार्ग-दर्शन में उन्होंने चेतना के विभिन्न आयामों का अन्वेषण किया जिसके फलस्वरूप उनमें प्रबुद्धता का विस्तार होता गया। अपने प्रस्थान के समय सुखमन गिरि ने उन्हें अचेतन मन को अधिकाधिक नियन्त्रित करने के साथ-साथ गुरु की तलाश करने को कहा।'

एक संन्यासी जो शायद कथा की चरमसीमा के आने की प्रतीक्षा में था स्वयं को रोक नहीं पाया और अत्यन्त विस्मय के साथ उसने पूछ ही लिया, 'एक बालक और एक युवा के रूप में स्वामीजी को अनेक विलक्षण अनुभूतियाँ हुईं, किन्तु वह निर्णायक क्षण कब आया जब एक गुरु की खोज के लिए वस्तुत: उन्होंने अपना घर छोड़ दिया?'

'एक छोटे बालक के रूप में भी', स्वामी निरंजनानन्द ने कहा, 'स्वामीजी यह अच्छी तरह जानते थे कि पारिवारिक जीवन उनके लिए नहीं है। उन्हें सदा एकाकी रहना और एकाकी घूमना अच्छा लगता था। उन्हें कभी यह पसन्द नहीं था कि कोई उन्हें सुरक्षित रखे, उनकी सहायता करे या उनके प्रति सहानुभूति प्रदर्शित करे, उन्हें धन-सम्पत्ति या मित्रों की भी चाह नहीं थी। इसलिए उनके निमित्त केवल एक मार्ग शेष रह गया था–संन्यास का। सत्रह वर्ष के होते-होते स्वामीजी ने ऐसे प्रश्न पूछने प्रारम्भ कर दिये जिनका उत्तर कोई नहीं दे पाता। ज्ञान और अनुभूति जैसे तथ्यों के बीच का भेद उन्हें विस्मित कर देता। वे अपने मामू और बहन से इन विषयों पर बातें करते, किन्तु इससे भी उनकी ज्ञान-पिपासा शान्त नहीं होती। वे समझ गये कि उन्हें स्वयं उन प्रश्नों के उत्तर ढूँढ़ने होंगे।'

'अभी आपने स्वामीजी की बहन का उल्लेख किया', एक स्वामी ने बीच में टोका, 'क्या आप उनकी बहन के विषय में कुछ बता सकते हैं? ऐसा लगता है कि उनकी बहन उन थोड़े लोगों में थीं जिन पर स्वामीजी विश्वास करते थे।'

स्वामी निरंजनानन्द ने कथा को आगे बढ़ाते हुए कहा, 'हाँ, उनकी एक बहन थी और चार भाई थे। बहन से उन्हें बहुत लगाव था। भाइयों में

कोई साम्य नहीं था, किन्तु उनकी बहन का स्वभाव और उनकी प्रवृत्तियाँ स्वामीजी से बहुत मिलती-जुलती थीं। जब भी दोनों साथ होते किसी-न-किसी क्रान्तिकारी कार्य, समाज सेवा या आध्यात्मिक रूपान्तरण की बात सोचते। किन्तु एक बात उन्हें अत्यन्त चिन्तित कर देती थी। उनकी बहन संन्यास लेना चाहती थीं, किन्तु हिन्दू धर्म तो इसकी अनुमति नहीं देता। इसलिए वे ईसाई बन गयीं। तब एक ऐसी अनहोनी घट गयी जो स्वामीजी के जीवन का निर्णायक बिन्दु बन गयी। सन् 1942 ई॰ में अचानक उनकी बहन की मृत्यु हो गयी। बहन की मृत्यु के बाद स्वामीजी के मन में घर छोड़ने का विचार अधिक दृढ़ हो गया।'

इस पर एक महिला संन्यासी ने धीरे से कहा, 'शायद यही कारण है कि गुरुदेव ऐसे किंचित आध्यात्मिक प्रणेताओं में से एक हैं जिन्होंने स्त्रियों को संन्यास में दीक्षित किया और उन्हें पूर्ण समर्पण और त्यागमय जीवन की प्रेरणा दी।'

स्वामी निरंजनानन्द ने उस महिला संन्यासी की बात को स्वीकार करते हुए कहा, 'हाँ, बहन की मृत्यु के कुछ दिनों बाद ही स्वामीजी ने गुरु की तलाश के लिए घर छोड़ दिया। वे उस समय मात्र 19 वर्ष के थे। घर छोड़ने के पूर्व उन्होंने अपने पिता को अपने विचारों से अवगत कराया। उनके पिता ने कहा, "तुमने सही मार्ग चुना है। यदि मैं पारिवारिक बन्धनों में नहीं पड़ा होता तो शायद मैं भी उसी मार्ग पर होता। किन्तु तुम अपने प्रयाण के विषय में अपनी माता को नहीं बताना, क्योंकि वे तुम्हारे मार्ग में बाधा उत्पन्न कर सकती हैं।" उनके पिता ने उन्हें 90 रुपये दिये और बस अड्डे तक छोड़ने गये। पिता ने अपने पुत्र को जो अन्तिम सलाह दी वह यह थी, "कभी पत्र नहीं लिखना, पीछे मुड़ कर नहीं देखना और अपने पद-चिह्नों को ढूँढ़ने का प्रयास नहीं करना।"

'तो क्या स्वामीजी उसके बाद एक बार भी अपने घर वापस नहीं लौटे?' एक स्वामी ने उत्कण्ठित होकर पूछा।

स्वामी निरंजनानन्द ने बताया, 'नहीं, कभी नहीं और अब देर हो रही है। हमें सभा यहीं विसर्जित कर देनी चाहिए। किन्तु कल हम लोग फिर मिलेंगे और मैं आप सब को स्वामी शिवानन्द के साथ गुरुदेव के जीवन के विषय में बताऊँगा।'

गुरु सेवा

सांध्य भोजन के उपरान्त सभी संन्यासी तथा अन्य आश्रमवासी शीघ्रता से ज्योति मन्दिर में गये, क्योंकि गुरुदेव की जीवन गाथा का उत्तर भाग आरम्भ होने वाला था। जब सभी बैठ गये तब स्वामी निरंजनानन्द आये और उन्होंने भी अपना स्थान ग्रहण किया। पूर्ण नीरवता के बीच उन्होंने आँखें बन्द कीं और शान्ति पाठ आरम्भ किया। तत्पश्चात् कथा-धारा पुन: चल पड़ी और संन्यासीगण तन्मय होकर उसमें बह गये।

'सन् 1943 ई० में घर छोड़ने के बाद स्वामीजी ने जो ट्रेन पकड़ी वह उदयपुर जा रही थी। बिना किसी विशेष उद्देश्य या दिशा के वे अपनी अचेतन प्रेरणा का अनुसरण कर रहे थे। कुछ देर इधर-उधर भटकने के बाद वे एक आश्रम पहुँचे जहाँ उन्हें कौल तन्त्र में पारंगत साधु मिला। स्वामीजी छ: महीने तक वहाँ रहे और उन्होंने उससे तन्त्र के सैद्धान्तिक पक्ष के विषय में काफी जानकारी प्राप्त की। उसके बाद वे साधु-संतों के साथ राजस्थान और गुजरात में घूमते रहे। उनके ज्ञान और उनकी आध्यात्मिक ज्योति से प्रभावित होकर उन मठों के आचार्य उन्हें और अधिक रुकने का निवेदन करते जहाँ वे ठहरे हुए होते। उनमें से कुछ ने तो उन्हें अपना उत्तराधिकार भी सौंपने का प्रस्ताव रखा था। किन्तु उनका लक्ष्य कुछ और था, इसलिए वे एक आश्रम से दूसरे आश्रम की ओर बढ़ते गये जब तक कि वे ऋषिकेश नहीं पहुँच गये।'

'ऋषिकेश में स्वामीजी कुछ दिनों तक काली कमली वाले क्षेत्र में ठहरे। वहाँ उन्हें अल्मोड़ा का एक व्यक्ति मिला जिसने उन्हें कैलाश आश्रम भेजा, वहीं पर उन्हें महामण्डलेश्वर श्री विष्णुदेवानन्द मिले। उन्होंने स्वामीजी को दीक्षा नहीं दी, बल्कि उन्हें स्वामी शिवानन्द से मिलने की सलाह दी। अपने गुरु का नाम सुनते ही स्वामीजी का मन शान्त हो गया और उन्हें ऐसा लगा मानो उनको अपना घर मिल गया। वे तुरन्त शिवानन्दाश्रम के लिए निकल पड़े जो वहाँ से लगभग दो किलोमीटर की दूरी पर था। वे 19 मार्च, 1943 की सुबह में वहाँ पहुँचे, सीढ़ियाँ चढ़ कर वे भजन हॉल में गये जहाँ कीर्तन चल रहा था। उस हॉल के परम दिव्य वातावरण ने उन्हें स्पन्दित कर दिया, यह दिव्य अनुभूति उनके लिए नितान्त नयी थी।'

'वहाँ स्वामीजी को स्वामी नारायण से मिलवाया गया जो डिवाइन लाइफ सोसाइटी के उपाध्यक्ष थे और उसके बाद स्वामी शिवानन्द से। स्वामी

शिवानन्द द्वारा उनके आने का कारण पूछने पर स्वामीजी ने बताया कि वे एक आध्यात्मिक जिज्ञासु हैं और गुरु की खोज में आये हैं। उन्होंने यह भी बताया कि ध्यान करते समय वे मानसिक शून्यता की स्थिति तक पहुँच जाते थे, किन्तु उसके आगे नहीं जा पा रहे थे। उस समय स्वामी शिवानन्द ने उन्हें कहा 'आश्रम में रहो, कठिन परिश्रम करो और ईश्वर में विश्वास रखो।' और इस प्रकार उस दिन स्वामीजी की गुरु की तलाश पूरी हुई।'

'स्वामी शिवानन्द ने स्वामीजी को किस प्रकार प्रभावित किया और उसके बाद उनके जीवन में किस प्रकार का परिवर्तन आया?' यह एक युवा स्वामी का प्रश्न था जो कथा में तल्लीन था।

'स्वामीजी ने स्वामी शिवानन्द के पास आने के पूर्व ही योग और ध्यान का अभ्यास किया था,' स्वामी निरंजनानन्द ने बताया, 'उन्हें जो प्रारम्भिक अनुभूतियाँ हुई थीं वे अत्यन्त शक्तिशाली थीं और उनके द्वारा वे ध्यान की उस अवस्था तक पहुँच जाते थे जो मन और चेतना के स्तर पार कर जाती थी। एक नहीं, अनेक बार उन्होंने अपने अहं और चेतना की सीमा का अतिक्रमण किया। किन्तु वे जो ढूँढ़ रहे थे, वह उन्हें मिल नहीं रहा था। स्वामी शिवानन्द के पास आने के पूर्व तक वे अपनी अनुभूतियों का निष्कर्ष नहीं निकाल पा रहे थे।'

'स्वामी शिवानन्द का प्रभाव नैसर्गिक और पूर्णतायुक्त था। पहली झलक में ही स्वामीजी यह समझ गये कि स्वामी शिवानन्द ही उनके गुरु थे। उन्हें यह निर्णय लेने में क्षण मात्र का समय भी नहीं लगा कि उन्हें उनके साथ रहना है या नहीं। स्वामी शिवानन्द की उपस्थिति में उनका विश्लेषणात्मक मन स्थिर हो गया और उनका हृदय जाग उठा। उन्होंने जीवन में पहली बार समर्पण का अनुभव किया था, यह किसी के सम्मुख साष्टांग प्रणाम नहीं था, बल्कि यह तो अपने अहं और बुद्धि का अप्रतिबंधित समर्पण था। गुरु के मार्गदर्शन में उनकी चेतना का रूपान्तरण हुआ। उनकी अभिवृत्तियों में पूर्ण परिवर्तन आ गया।'

स्वामी निरंजनानन्द के करीब बैठे हुए एक स्वामी ने पूछा, 'उन दिनों ऋषिकेश आश्रम कैसा था? अवश्य ही आज के आश्रम से बहुत भिन्न रहा होगा।'

'हाँ अवश्य', स्वामी निरंजनानन्द ने उत्तर दिया, 'उस समय ऋषिकेश आश्रम विकास की प्रारम्भिक अवस्थाओं में था, इसलिए आज जो सुविधाएँ

वहाँ उपलब्ध हैं, उन दिनों नहीं थीं। पूरा आश्रम जंगल से घिरा हुआ था, जहाँ मच्छरों, बिच्छुओं, सर्पों और बन्दरों की बहुलता थी। गंगा का जल, जिसमें सभी स्वामी प्रात:काल स्नान करते थे, बहुत ठण्ढा होता था। कोई शौचालय नहीं था, इसलिए लोगों को शौच आदि के लिए काफी दूर जंगल में जाकर उपयुक्त स्थान ढूँढ़ना पड़ता था। आश्रम का जीवन इतना कठिन और भिन्न था कि स्वामीजी को सदा सचेत और सजग रहना पड़ता था। इसके द्वारा उनके शक्तिशाली शरीर और मन का तथा गुरु के प्रति पूर्ण समर्पण की भावना का विकास हुआ। कभी-कभी तो जीवन इतना दु:साध्य हो जाता कि केवल जीवित रहने के लिए उन्हें अपनी प्राणशक्ति को जाग्रत करना पड़ता था।'

एक तरुण संन्यासी ने पूछा, 'और कर्मयोग? स्वामीजी तो अवश्य ही बहुत कर्मयोग करते होंगे?'

'हाँ', स्वामी निरंजनानन्द ने उत्तर दिया, 'जब स्वामीजी शिवानन्दजी के पास थे तब उनके पास राजयोग, भक्तियोग, हठयोग, तन्त्र, उपनिषद्, वेदान्त, गीता या रामायण पढ़ने का समय नहीं था। सुबह से शाम तक, और कभी-कभी तो रात में भी वे काम ही करते रहते, बस काम, काम और काम। वे गधे की तरह खटते, क्योंकि उनके गुरु ने बस यही आदेश दिया था, 'परिश्रम करो, तभी तुम्हारा शुद्धिकरण होगा। तुम्हें प्रकाश को लाना नहीं है, प्रकाश तो तुम्हारे अन्दर है।'

'इस प्रकार बारह वर्षों तक वे भावातीत जीवन व्यतीत करते रहे जो देश-काल से परे था और मानो गुरु-कृपा से आविष्ट होकर निरन्तर श्रम में डूबा हुआ था। उन्होंने हर प्रकार का कार्य किया, शौचालयों की सफाई से लेकर आश्रम के प्रबन्धात्मक कार्य तक। उन्होंने इतना परिश्रम किया कि वे स्वयं को कर्मयोग में पूरी तरह भूल गये। उन्हें यह अनुभूति नहीं होती कि वे कार्य कर रहे हैं। कार्य करने में ही उन्हें आराम मिलता, और उन वर्षों में उन्हें कभी मानसिक तनाव नहीं हुआ। यदि कोई समस्या उत्पन्न भी होती तो वह उन्हें उद्विग्न नहीं कर पाती। उनका सिद्धान्त था–बिना किसी अपेक्षा और अभिप्राय के गुरु की सेवा करना। इसी में उन्हें आनन्द प्राप्त होता था।'

'उन दिनों संन्यास की प्रक्रिया क्या थी?' एक स्वामी ने जिज्ञासा प्रकट की, 'क्या संन्यास के पूर्व विशेष अवधि तक कोई प्रशिक्षण लेना पड़ता था या स्वामीजी ने आते ही संन्यास ग्रहण किया था?'

'सामान्यत: आश्रम में रहने वाले अविवाहित साधकों को संन्यास की पूर्व पीठिका के रूप में ब्रह्मचर्य की दीक्षा दी जाती थी,' स्वामी निरंजनानन्द ने उत्तर दिया, 'स्वामीजी में महती आध्यात्मिक जिज्ञासा देखकर स्वामी शिवानन्द ने उन्हें सन् 1945 ई० में सत्य-चैतन्य नाम के साथ ब्रह्मचर्य की दीक्षा दी, किन्तु वे सदा उन्हें सत्यम् कह कर ही बुलाते थे।'

'कई वर्षों तक कठिन परिश्रम तथा ब्रह्मचारी जीवन व्यतीत करने के पश्चात् अचानक सत्यम् के मन में यह विचार आया कि ज्ञान प्राप्त करने के लिए संन्यास अनिवार्य नहीं था। उन्हें ऐसा अनुभव हुआ कि कोई भी मोक्ष प्राप्त कर सकता है, वह विवाहित हो या अविवाहित, उसे बच्चे हों या नहीं, वह गृहस्थ हो या ब्राह्मण हो या मांसाहारी हो। फिर उन्होंने बिना किसी को बताये लाहौर के एक समाचार पत्र के उप-सम्पादक के पद के लिए आवेदन किया। जब उन्हें वहाँ से स्वीकृति-पत्र प्राप्त हो गया तो वे स्वामी शिवानन्द के पास गये और उन्हें अपना इरादा बताया।'

स्वामी शिवानन्द ने कहा, "अच्छा, तो तुम अब जा रहे हो। तुम इतने वर्षों तक आश्रम में रहे, यहाँ रहकर अनेक कार्य किये-अनेक भवन बनाये, पुस्तकें प्रकाशित कीं, अनेक विभागों का संचालन किया-रसोई, कार्यालय, लेखा तथा छापाखाना। इसलिए तुम्हारे जाने से पूर्व हम तुम्हारे लिए विदाई समारोह का आयोजन करेंगे, किन्तु उसमें एक सप्ताह का समय लग जायेगा।" सत्यम् ने उनके इस आग्रह को स्वीकार किया और जाने की तैयारी करने लगे।'

'एक सप्ताह बाद 12 सितम्बर 1947 ई० की सुबह, स्वामी शिवानन्द ने सत्यम् को बुलाया और कहा, 'संन्यास लेने के लिए तैयार हो जाओ। संन्यास ही तुम्हारी नियति है। तुम्हें ज्ञान प्राप्त करने की चिन्ता नहीं करनी है। तुम्हें एक मिशन को पूरा करना है।' नाई पहले से ही प्रतीक्षा कर रहा था। गेरू धोती तैयार थी। संन्यास दीक्षा के लिए मन्त्रोच्चार करने वाले आचार्य पास में ही खड़े थे। तैयारी पूरी हो चुकी थी। सत्यम् ने चारों ओर देखा और कहा, "किन्तु आप तो मुझे विदा देने वाले थे।" स्वामी शिवानन्द ने उनकी जिज्ञासा शान्त की, "हाँ, यह पुरातन की विदाई है और अभिनव का अभिनन्दन।"

'इस प्रकार स्वामी शिवानन्द के हीरक जन्मदिन के अवसर पर सत्यम् को परमहंस संन्यास में दीक्षित किया गया और उन्हें पुन: नये नाम, स्वामी

सत्यानन्द सरस्वती से विभूषित किया गया। यह नाम स्वयं उनकी सम्पूर्ण प्रकृति का द्योतक है, जो किसी भी चित्रांकन से कहीं अधिक सशक्त है। उनके स्नेह पूर्ण हृदय में मानो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का स्नेह समाया हुआ था। उनका प्रश्नकर्ता मन स्वयं अपने अस्तित्व पर ही प्रश्न चिह्न लगाता। स्वामी सत्यानन्द की खोजती हुई आँखों और उनके जिज्ञासु मन ने आखिर सत्य को पा ही लिया, सभी तत्त्वों के आधारभूत सत्य को। दीक्षा के समय स्वामी शिवानन्द ने उनके भविष्य की ओर संकेत करते हुए कहा था, 'तुम एक प्रशिक्षणार्थी के रूप में यहाँ सेवा कर रहे हो। जिस प्रकार एक छोटे पौधे को एक स्थान से निकालकर दूसरे स्थान पर रोप देते हैं, उसी प्रकार की नियति है तुम्हारी।'

'संन्यास दीक्षा के बाद स्वामीजी ऋषिकेश में अनेक वर्षों तक गुरु की सेवा में रत रहे। वे डिवाइन लाइफ सोसाइटी के एक दृढ़ स्तम्भ बन गये। एक संन्यासी के रूप में वे गुरु-सेवा की पराकाष्ठा पर पहुँच चुके थे। उन्होंने गुरु के वस्त्र धोये, उनके लिए भोजन बनाया, उनके अतिथियों का सत्कार किया, उनके सचिव के रूप में कार्य किया, उनकी पाण्डुलिपियों का टंकण किया, उनकी पुस्तकों का हिन्दी में अनुवाद किया, प्रकाशन संघ का संचालन किया, बाहर प्रकाशित होने वाली पुस्तकों का सर्वेक्षण किया, आश्रम में छापाखाना की स्थापना की और उसका संचालन किया, मन्दिर के पुजारी के रूप में काम किया और घन-गर्जन की तरह अपने दिव्य जीवन के सन्देश के द्वारा यात्राओं, गोष्ठियों एवं सम्मेलनों में एक स्पन्दन का संचरण किया।'

'इन सारे कार्यों को करते रहने के बावजूद स्वामी सत्यानन्द इन सब से पूर्णतः मुक्त रहे। विरक्त रहे, हर दृष्टि से वे कर्मयोग की चरम सीमा पर पहुँच चुके थे। वे प्रत्येक कार्य पूर्णता से करते और उसे गुरु को समर्पित कर देते। इसलिए वे सदा शान्त रहकर चिन्तन-मनन और आत्मविश्लेषण करते। उन्हें कार्य करवाने की कला आती थी। उनके विचारों, उनकी वाणी और कार्य करने की पद्धति में मौलिकता थी, किन्तु उन्हें इसका अहंकार या दम्भ नहीं था। वे किसी भी कार्य को एकाग्रता और एकनिष्ठा के साथ करते। उनकी आवश्यकताएँ अत्यन्त सीमित थीं और वे किसी भी क्षण उनका भी त्याग करने के लिए तत्पर रहते थे। उनमें विनम्रता और सरलता थी, किन्तु वे सदा भयमुक्त रहे। वे सबसे स्नेह करते और धैर्य के साथ अपनी आलोचना सुनते। वे सर्वगुण सम्पन्न और एक आदर्श संन्यासी थे।'

‘कृपया अपने गुरु के साथ स्वामी सत्यानन्द के जीवन की कुछ कथाएँ सुनायें।’ यह एक युवा संन्यासी का अनुरोध था।

स्वामी निरंजनानन्द ने कहा, ‘ऐसी अनेक सुन्दर कथाएँ हैं, लेकिन मुझे वह कथा याद आ रही है जो उनकी आज्ञाकारिता से जुड़ी है। स्वामी सत्यांनद को तीर्थ स्थानों की यात्रा करना बहुत अच्छा लगता था, जैसे, केदार, बद्री, गंगोत्री, यमुनोत्री एवं हरिद्वार और विशेषकर उस समय जब उन स्थानों में कुम्भ का मेला लगा होता था एवं वहाँ हजारों साधु तथा भक्त गंगा स्नान के लिए एकत्र होते थे। किन्तु स्वामी शिवानन्द को ऐसे अवसरों पर उनका वहाँ जाना पसन्द नहीं था। इसलिए उस समय उन्हें आश्रम में ही रोक रखने के लिए अधिक कार्यभार दे देते थे। मेले में जाने के अपने कार्यक्रम को निष्फल होने से बचाने के लिए स्वामी सत्यानन्द गुरु द्वारा दिये गये कार्य को रात भर जागकर पूरा करते थे और प्रात: खूब तड़के मेले के लिए निकल पड़ते थे।’

‘ऐसे ही एक अवसर पर जब वे हरिद्वार पहुँचे तो उमड़ती हुई भीड़ में फँस गये। जब वे भीड़ के साथ बढ़े जा रहे थे तो उनका उत्तरीय अचानक गिर पड़ा जिसे वे उठा नहीं पाये। जन प्रवाह के साथ वे नदी के किनारे पहुँच गये और उसी धमक-पेल में पानी के अन्दर भी पहुँच गये। जब डुबकी लगा रहे थे तभी उनकी धोती का एक छोर किसी के पैर के नीचे दब गया और देखते-देखते पूरी धोती जल प्रवाह में बह चली। इसके बाद जब वे स्वयं को सम्भालते हुए नदी के तट की ओर जाने की कोशिश कर रहे थे, इसी बीच उनके कौपीन का ऊपरी सिरा खुल गया और जब तक वे उसे पकड़ते, वह भी जा चुका था। एक ओर इतनी भयंकर भीड़ और दूसरी ओर कड़ाके की सर्दी की सुबह, अधिक देर पानी में ठहरना सम्भव नहीं था। उन्होंने सोचा, क्यों न नागा साधुओं के गुजरते हुए जत्थे में शामिल हो जाया जाये। किन्तु उनका मन अत्यन्त उद्विग्न हो उठा था।’

‘कष्टपूर्ण स्थिति में कुछ देर खड़े रहने के बाद भीड़ में एक परिचित चेहरा दिखाई पड़ा जो ऋषिकेश का ही था। इस आशा के साथ कि उनकी नग्नता पर किसी का ध्यान नहीं गया होगा, वे धीरे-धीरे उसकी ओर खिसकते गये। भाग्यवश उस मित्र के पास अतिरिक्त वस्त्र भी थे, इसलिए शरीर ढँकने के बाद उन्हें बहुत आराम मिला और तब वे शीघ्रता से ऋषिकेश जा पाये। जब वे आश्रम पहुँचे तो स्वामी शिवानन्द उन्हें मुख्य द्वार पर ही खड़े मिल गये। उन्होंने पूछा, ‘सत्यम्, क्या मैं तुम्हें कुछ वस्त्र दूँ?’

एक स्वामी ने पूछा, 'स्वामी शिवानन्द एक मेडिकल डॉक्टर थे, तो क्या वे अपने शिष्यों से भी रोगियों की सेवा की अपेक्षा करते थे?'

स्वामी निरंजनानन्द ने बताया, 'हाँ, उनके संन्यासियों को सदा रोगियों के कमरों की झाड़-पोंछ करने, कपड़ों की सफाई करने, खाना खिलाने और यहाँ तक कि पैरों की मालिश के लिए भी बुलाया जाता था। स्वामी शिवानन्द जी कहा करते थे कि अपने अहं के क्षय का इससे अच्छा तरीका नहीं।'

संन्यासियों ने पूछा, 'स्वामी सत्यानन्द को अपने गुरु से और क्या शिक्षा मिली?' 'अनेक', स्वामी निरंजनानन्द ने कहा, 'यदि उन सब की चर्चा की जाये तो एक पूरी किताब भर जायेगी। चूँकि हम सब संन्यासी हैं, इसलिए मैं आप लोगों को यह बताऊँगा कि स्वामी शिवानन्द ने उन्हें त्याग के विषय में क्या सिखाया। आप तो देख ही रहे हैं, स्वामी सत्यानन्द बचपन से ही त्यागी थे, किन्तु त्याग को अभ्यास में लाना इतना सरल नहीं। वे वैसे बाबू साधु नहीं थे जैसा कि आज कल हमलोग अनेक आश्रमों में देखा करते हैं, उत्तम वस्त्र और हर प्रकार की वस्तुओं से सुसज्जित उनका कक्ष। स्वामीजी अपने कमरे में केवल एक चौकी रखते थे, न गद्दा, न कम्बल, न मसहरी, न गिलास, न सुराही। वस्तुत: उनका कमरा बिल्कुल खाली था। वे उसमें ताला भी नहीं लगाते थे।'

'एक दिन स्वामी शिवानन्द सभी संन्यासियों के कमरों का निरीक्षण करने गये। जब वे स्वामी सत्यानन्द के कमरे में गये तो चारों ओर देखकर उन्होंने पूछा, 'क्या तुम्हारे पास केवल यही है?' स्वामी सत्यानन्द ने सोचा कि उनके गुरु उनके खाली कमरे को देख कर प्रसन्न होंगे, लेकिन स्वामी शिवानन्द ने कहा, "अब से तुम कुछ गिलास, एक मिट्टी-तेल का चुल्हा, थोड़ी चाय पत्ती और चीनी अपने कमरे में रखोगे ताकि रात में यदि कोई अतिथि आ जायें तो तुम उन्हें कुछ दे सको।"

'यह त्याग की एक अन्य परिभाषा थी जो स्वामी सत्यानन्द ने अपने गुरु से सीखी थी। यद्यपि उसके बाद से वे अपने कमरे में अनेक प्रकार की वस्तुएँ रखने लगे, किन्तु वे सदा उन सब से विरक्त ही रहे, उन वस्तुओं को उन्होंने गुरु के आदेश से दूसरों की सुविधा के लिए रखा था, वे उनके अपने आनन्द या सन्तोष के लिए नहीं थीं। कुछ ही दिनों में उनका कमरा ऐसा स्थान बन गया जो सबको आश्रय देता था। आश्रम के सभी बीमार लोग उनके कमरे में चाय पीने जाते। यदि किसी को मलेरिया होता तो वहाँ दवा लेने जाता। यदि किसी

को पैसों की आवश्यकता होती तो वह भी वहाँ जाता, क्योंकि निश्चित रूप से उसे वहाँ पैसे मिल जाते। यह संन्यास का एक अत्यन्त अद्भुत पक्ष है।'

एक स्वामी को जैसे अचानक याद आया, 'स्वामीजी को बचपन में जो सहज आध्यात्मिक अनुभूतियाँ होतीं थीं, क्या बाद में भी उन्हें उस प्रकार की अनुभूतियाँ होती थीं?'

स्वामी निरंजनानन्द ने उसकी उत्सुकता का शमन किया, 'हाँ, वे अधिक तीव्रता के साथ आती रहीं। मुझे याद है, उन्होंने ऐसे ही एक अनुभव के विषय में मुझे बताया था। एक बार काफी रात गये रात्रि प्रहरी की अपनी ड्यूटी के बाद वे गंगा तट पर बैठे हुए थे। वे कुछ सांसारिक बातों के विषय में सोच रहे थे कि उनका मन अन्तर्मुख होने लगा और होता ही गया। अचानक उन्हें अनुभव हुआ कि उनके नीचे से पृथ्वी खिसकती जा रही है और आकाश फैल रहा है, पीछे जा रहा है। एक क्षण के बाद उन्हें ऐसा लगा मानो आण्विक विस्फोट जैसी कोई शक्ति उनकी रीढ़ के आधार से निकल रही है। उन्हें अपना शरीर अत्यन्त तेजी से कंपित होता हुआ प्रतीत हुआ, प्रकाश-तरंगें भी अनोखी थीं। उन्हें उस परमानन्द की अनुभूति हुई जो मानव-इच्छा की पराकाष्ठा होती है और यह अनुभूति उन्हें बहुत देर तक होती रही। उनका सम्पूर्ण शरीर तब तक सिकुड़ता गया जब तक आनन्द की अनुभूति असहनीय नहीं हो गयी और अन्ततः वे पूरी तरह अचेत हो गये।'

'तीसरी बार ऐसा हुआ था। पहली बार वे समझ नहीं पाये थे कि यह क्या था, दूसरी बार उनकी छायाचित्रात्मक स्मृति जाग्रत हो उठी और तीसरी बार उनके अन्दर पूर्ण सजगता के साथ वैराग्य उत्पन्न हुआ। चैतन्य होने के बाद भी वे कई दिनों तक उदासीन रहे। न कुछ खा सके, न सो सके, न हिल सके, यहाँ तक कि शौच के लिए भी नहीं गये। वे सब कुछ देख रहे थे, किन्तु उनकी दृष्टि में रिक्तता थी। आनन्द उनके अन्दर जीवन्त हो उठा था और वे जानते थे कि यदि उनमें गति आयेगी तो वह अद्भुत अनुभूति लुप्त हो जायेगी, उसकी तीव्रता समाप्त हो जायेगी। जब उनके अन्दर घण्टियाँ ध्वनित हो रही थीं तो भला वे स्वयं उसमें क्यूँ कर बाधा उत्पन्न करते? यह उनकी कुण्डलिनी का जागरण था।'

'लगभग एक सप्ताह बाद वे सामान्य हो पाये और उसके बाद उन्होंने तन्त्र और योग के गुह्य पक्षों का अध्ययन प्रारम्भ किया। उन्होंने अपनी सम्पूर्ण शारीरिक प्रणाली का शुद्धिकरण करने के लिए हठ योग का अभ्यास किया

और इसके साथ ही कुण्डलिनी योग के अद्भुत विज्ञान का पुनः अन्वेषण प्रारम्भ हो गया। वह कौन-सी शक्ति है जो मूलाधार चक्र में जाग्रत होती है, इसमें उनकी रुचि जाग उठी थी, और उन्होंने इस अद्भुत शक्ति को समझने में अपना सारा प्रयास लगा दिया।'

'कितना अद्‌भुत है यह प्रसंग', एक स्वामी ने कहा, 'अब हम लोग यह समझ सकते हैं कि स्वामी सत्यानन्द किस प्रकार कुण्डलिनी योग और तन्त्र के इतने बड़े प्रतिपादक बने।' एक अन्य संन्यासी ने पूछा 'मैं जानना चाहता हूँ कि क्या स्वामी सत्यानन्द को कीर्तन इसलिए पसन्द है कि वे अच्छा गाते हैं?'

स्वामी निरंजनानन्द ने कहा, 'हाँ, शिवानन्दाश्रम में सन् 1943 ई॰ से अखण्ड कीर्तन प्रारम्भ हुआ। 'हरे राम हरे राम, राम राम हरे हरे, हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे'–महामन्त्र का उच्चारण भजन हॉल में दो प्रज्वलित दीपों के सम्मुख गुंजायमान होने लगा। प्रारम्भ में कीर्तन करने के लिए केवल चार-पाँच संन्यासी ही थे। स्वामी सत्यानन्द को कभी-कभी छः-आठ घण्टों तक लगातार कीर्तन करना पड़ता था। एक बार उन्होंने अपने सभी गुरुभाइयों को आराम के लिए भेज दिया और स्वयं भजन हॉल में बैठ कर सुबह से शाम तक कीर्तन करते रहे। इस बीच उन्हें अत्यन्त सुखद अनुभूति हुई, बाद में जब वे अपने कमरे में जाकर लेटे तो उन्हें नींद नहीं आई। वे चाहते थे कि अपने शरीर के प्रति सजग बने रहें, किन्तु अपने भौतिक शरीर की अनुभूति के बदले उन्हें ऐसे शरीर की अनुभूति हुई जो प्रकाश कणों से बना था। सारी रात उसी आनन्ददायक अनुभूति में बीत गयी।'

एक स्वामी ने जिज्ञासा प्रकट की, 'क्या कभी ऐसा विचार उठा था कि स्वामी सत्यानन्द को अपने गुरु का उत्तराधिकारी बनाया जाये, जिस प्रकार आप उनके स्थान पर आये हैं?'

'स्वामी सत्यानन्द का अपने गुरु से अत्यन्त गहरा सम्बन्ध था,' स्वामी निरंजनानन्द ने उसकी जिज्ञासा शान्त करते हुए बताया, 'ऋषिकेश आश्रम में वे नितान्त अबोध बालक के समान थे और स्वामी शिवानन्द उनकी देखभाल किया करते थे। स्वामी शिवानन्द कभी स्वामी सत्यानन्द से पृथक् नहीं होना चाहते थे, किन्तु अपने शिष्य के उज्ज्वल और महान् भविष्य को ध्यान में रखते हुए तथा मानवता के कल्याण के लिए उन्होंने ऐसा किया। स्वामी शिवानन्द कहा करते थे, "स्वामी सत्यानन्द को यहाँ रखने का प्रयास करना माचिस के डब्बे में एक हाथी को अंटाने के प्रयास के समान होगा।" अपने

प्रिय शिष्य की प्रशंसा में स्वामी शिवानन्द ने लिखा था, "ऐसे लोग विरले ही मिलेंगे जिनमें इतनी कम उम्र में ऐसा सहज वैराग्य उत्पन्न होता है। स्वामी सत्यानन्द नचिकेता तत्त्व से परिपूर्ण हैं। वे जो भी काम हाथ में लेते हैं, उसे पूर्णता के साथ सम्पन्न करते हैं। वे चार लोगों के बराबर कार्य करते हैं, फिर भी कभी कोई शिकायत नहीं की। वे विलक्षण प्रतिभा के धनी और एक भाषाविद् भी हैं। फिर भी वे विनम्र और सरल हैं, एक आदर्श साधक और निष्काम सेवक हैं।"

'कृपया हमें एक और बात बतायें', एक उत्कण्ठित संन्यासी ने पूछा, 'स्वामी सत्यानन्द ने अन्ततः अपने गुरु से कब विदा ली?'

'स्वामी सत्यानन्द ने परम्परा के अनुसार सन् 1944 से 1956 ई०, बारह वर्षों तक गुरु के आश्रम में रहकर उनकी सेवा की। इस अवधि के बाद स्वामी शिवानन्द के पास जाकर उन्होंने कहा कि मैं जाना चाहता हूँ। स्वामी शिवानन्द ने उन्हें 108 रुपये दिये और जाने की अनुमति दे दी। उसके बाद उन्होंने उन्हें अपने कमरे में बुलाकर अत्यन्त पुरानी तान्त्रिक विधि, क्रिया योग के विषय में कुछ सिखाया। स्वामी सत्यानन्द को वे क्रियाएँ सीखने में मात्र सात-आठ मिनट का समय लगा। उनके प्रस्थान के पूर्व स्वामी शिवानन्द कुछ देर उन्हें देखते रहे और जब वे अपने गुरु के चरणों का स्पर्श करने के लिए झुके तो उनके मन में एक अत्यन्त स्पष्ट विचार आया, "अपना मिशन स्वयं ढूँढ़ो।"

'और इस प्रकार स्वामी सत्यानन्द के आश्रम जीवन को एक विराम लग गया। अब हमें इस सभा को यहीं समाप्त कर देना चाहिए, कथा कल भी जारी रहेगी। कृपया आप सब शान्ति पाठ के लिए तैयार हो जायें।' वैदिक मन्त्रों के साथ संन्यासियों के मन में गुरुदेव का जीवन भी एक मन्त्र के समान गूँज रहा था।

परिव्राजक जीवन

अस्ताचल की ओर जाता हुआ सूर्य गंग-तरंगों पर अपनी सुनहरी किरणों को बिखेरता जा रहा था और संन्यासीगण स्वामीजी के जीवन की कथा के अगले मोड़ पर पहुँचने के लिए साधना हॉल में एकत्र हो रहे थे। इस शाम स्वामी निरंजनानन्द के साथ स्वामी धर्मशक्ति भी आईं, उनकी बगल में बैठीं।

आँखें मूँदकर उन्होंने 'ॐ' मन्त्र का उच्चारण आरम्भ किया। मन्त्रोच्चार समाप्त होने पर उन्होंने अपनी आँखें खोलीं और बोलना शुरू किया, 'अब तक मैं स्वामीजी के जीवन से सम्बन्धित कथाएँ सुनाता रहा हूँ। किन्तु अब हम कथा के ऐसे पड़ाव पर आ पहुँचे हैं, जिसका प्रत्यक्ष साक्षात्कार स्वामी धर्मशक्ति ने किया था। इस अवधि में अनेक वर्षों तक इन्हें स्वामीजी के साथ रहकर उनकी सेवा करने का अवसर मिला था। इसलिए ये ही उस अवधि में घटित घटनाओं का वर्णन करेंगी।'

इस संक्षिप्त भूमिका के साथ ही स्वामी धर्मशक्ति अपनी यादों के क्षितिज पर आ गईं, 'बारह वर्षों तक अपने गुरु के प्रति समर्पण भाव से सेवा करने के बाद स्वामीजी ने अपने गुरु का आश्रम छोड़ा और एक परिव्राजक के रूप में निकल पड़े। विदा करते समय उनके गुरु ने उनसे कहा था, "जाओ, सम्पूर्ण विश्व में घर-घर जाकर योग का सन्देश पहुँचाओ।" इस प्रकार अपने गुरु द्वारा दिये गये ज्ञान की कान्ति से दमकते हुए स्वामी सत्यानन्द सन् 1956 में चल पड़े। नौ वर्षों तक वे पूरे भारत का भ्रमण करते रहे, कभी पैदल, कभी बैलगाड़ी से, तो कभी ट्रेन से, अर्थात् जो भी साधन उपलब्ध होता उसी का उपयोग करते। इस परिव्रजन के क्रम में उन्होंने सामाजिक अवस्था को एक सामान्य व्यक्ति के रूप में नहीं, बल्कि भविष्य द्रष्टा की आँखों से देखा।'

'ऋषिकेश से वे सबसे पहले दिल्ली गये, जहाँ उन्होंने दो महीनों तक योग की कक्षाएँ लीं और सत्संग कराये। जब वे दिल्ली में ही थे तो कुछ भक्तों ने उन्हें राजनाँदगाँव आने का निमन्त्रण दिया। वे जून में वहाँ पहुँचे और कुछ ही दिनों में उन्होंने सारे लोगों का दिल जीत लिया। दो महीने बाद बनारस जाने से पूर्व स्वामीजी ने राजनाँदगाँव को ही अपना केन्द्र बनाने का निर्णय लिया। जब वे यात्रा पर होते तो उनके पत्र यहीं आते और भक्तगण उनके लिए कार्यक्रम निश्चित करते।'

'स्वामीजी नवम्बर में लौटकर राजनाँदगाँव आये, वहाँ उन्होंने कुछ सत्संग करवाये और फिर अमरावती चले गये। तत्पश्चात् दुर्ग, रामपुर, भिलाई, शक्ति एवं रीवा के लोगों ने अपने शहरों में उनके कार्यक्रम आयोजित किये। स्थानीय समाचार पत्रों ने स्वामीजी के व्याख्यानों को प्रकाशित किया, जिससे उनके सन्देश का अधिक प्रचार हुआ। रीवा से लौटकर वे पुन: राजनाँदगाँव आये और वहाँ से मार्च में भागलपुर तथा मई में गंगोत्री-यमुनोत्री की यात्राएँ करने का निश्चय किया। उसके बाद उनका परिव्रजन पुन: प्रारम्भ हो गया।'

'सन् 1957 के मार्च में वे जबलपुर गये और वहाँ से ऋषिकेश के कुछ परिचित भक्तों के अनुरोध पर भागलपुर गये। भागलपुर से वे आरा, छपरा, मुजफ्फरपुर और मुंगेर गये। मुंगेर में वे कर्णचौरा पर आये, जहाँ आज गंगा दर्शन है। उन्हें कर्ण चौरा पर ऐसा प्रतीत हुआ, जैसे कोई अदृश्य शक्ति उन्हें अपनी ओर खींच रही हो। मई महीने के मध्य में स्वामीजी बिहार से दिल्ली होते हुए गंगोत्री गये।'

'क्या स्वामीजी को परिव्राजकत्व में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा?' यह एक स्वामी की जिज्ञासा थी।

स्वामी धर्मशक्ति ने बताया, 'हाँ, समस्याएँ प्रायः उनके सम्मुख आतीं, किन्तु वे सदा प्रसन्न रहते। लगभग सभी कार्यक्रमों में केवल आयोजक ही उनका परिचित होता। शेष सभी अपरिचित, तर्क करने वाले और हँसी उड़ाने वाले होते। किन्तु एक बार ही स्वमीजी से मिलना उन लोगों के रूपान्तरण के लिए पर्याप्त होता।'

'स्वामीजी कभी कोई उपहार स्वीकार नहीं करते थे। यदि कोई उनके चरणों में पैसे अर्पित करता, वे उसे बच्चों में बाँट देते। वे एक साधारण से झोले में दो धोतियाँ, एक कुर्ता, एक चादर, दाँत साफ करने का ब्रश और पेस्ट रखते। यदि कोई उन्हें वस्त्र देता तो उसे गरीबों के बीच बाँट देते। वे पैदल ही एक गाँव से दूसरे गाँव जाते और पेड़ों के नीचे सो जाते। गरीब लोग उन्हें कभी सामान्य-से फल या एक कटोरा दूध भोजन के लिए दे देते। किन्तु अमीरों से उन्हें अधिकतर कठोर शब्द ही मिलते।'

'एक बार वे एक ऐसे शहर में घूम रहे थे जहाँ वे पहली बार गये थे। घूमते-घूमते जब वे थक गये और उन्हें भूख लग आई तो वे एक बड़ी दुकान में गये और दुकानदार से कहा, 'हरि ॐ'। इस पर दुकानदार का उत्तर था, "चले जाओ यहाँ से, किसी और को ढूँढ़ो तुम्हें खिलाने के लिए। जवान आदमी होकर तुम्हें शर्म नहीं आती भीख माँगने में? काम करना सीखो।" स्वामीजी के साथ हुए ऐसे दुर्व्यवहारों की चर्चा सुनकर उनके भक्त दुःखी हो जाते, किन्तु सम्मान और अपमान, दोनों ही परिस्थितियों में वे प्रकृतिस्थ रहते और केवल हँस देते।'

'कभी-कभी गाँव-दर-गाँव पैदल घूमते हुए वे जंगलों के अन्दर चले जाते और आदिवासियों के साथ ठहर जाते। वे आदिवासी उन्हें स्वर्ग से आया हुआ देवता मानते। सामान्यतः आदिवासी, चूहे, साँप और केंकड़ा खाते,

लेकिन स्वामीजी के लिए वे बाजार से आटा खरीद कर ले आते और उसकी लोई बनाकर आग में पकाते और स्वामीजी को खाने के लिए देते। शाम में सभी एकत्र होते और स्वामीजी उनसे बातें करते, उन्हें राम कृष्ण के विषय में बताते और सब मिल कर भजन-कीर्तन करते। इस प्रकार झोपड़ी और महल, स्वामीजी के लिए दोनों में कोई अन्तर नहीं था।'

एक स्वामी ने उत्सुकतावश पूछा, 'क्या स्वामीजी इस अवधि में निरन्तर भ्रमण करते रहे?'

स्वामी धर्मशक्ति ने कहा, 'वे एक स्थान पर केवल कार्यक्रम के आयोजन तक ही रुकते और फिर आगे बढ़ जाते। बिहार छोड़ने के बाद वे दिल्ली होते हुए ऋषिकेश गये जहाँ वे स्वामी शिवानन्द से मिले और उनका आशीर्वाद प्राप्त किया। स्वामीजी पैदल ही गंगोत्री गये। 45 दिनों में 270 मील की यात्रा के बाद उन्होंने ऋषिकेश लौटकर अपने गुरु को गंगोत्री से लाया हुआ जल भेंट किया। उसके बाद वे हरिद्वार, दिल्ली, मथुरा, वृंदावन और आगरा की यात्रा पर गये। वे जम्मू-कश्मीर और वैष्णव देवी होते हुए अमरनाथ भी गये। वहाँ से लौट कर वे रीवा गये।' 'रायपुर में भारत सेवक समाज के कार्यकर्ताओं ने उनसे उस क्षेत्र के अत्यन्त पिछड़े गाँवों के लोगों को शिक्षित करने में सहायता करने का अनुरोध किया। बरसात के मौसम में स्वामीजी कार्यकर्ताओं के साथ गीली मिट्टी में भी गाँव-गाँव घूमकर लोगों से मिलते। दो महीनों में साठ गाँवों की यात्रा की। वर्षा मे वे प्रायः भीग जाते, किन्तु मौसम और असुविधाओं की परवाह किये बिना उनकी यात्रा जारी रहती।'

'सन् 1958 के बसन्त में स्वामीजी ने नर्मदा के तट पर बसे अमरकंटक में योग शिविर का संचालन किया। वहाँ से वे रीवा होते हुए बनारस, ऋषिकेश, बद्रीनाथ और केदारनाथ गये। उसके बाद वे रामेश्वरम् और उसके आस-पास की जगहों पर गये। जुलाई में वे फरहाद नाम के गाँव गये और चातुर्मास वहीं व्यतीत किया। नवम्बर में एक योग सम्मेलन के लिए वे राजनाँदगाँव गये। सम्मेलन के बाद उन्होंने वहाँ महिला योग मित्र मण्डल की स्थापना की और 'दिव्य जीवन सन्देश' नाम से मासिक पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ किया। उसके बाद वहाँ से वे बम्बई गये। दिसम्बर में बुरहानपुर, इन्दौर, खामगाँव जाकर राजनाँदगाँव वापस लौट आये।'

'जब वे यात्राओं पर होते तो विभिन्न स्थानों पर दिये गये अपने प्रवचनों को लिखकर वे राजनाँदगाँव में अपने भक्तों के पास भेज देते ताकि उन्हें समाचार-

पत्रों में प्रकाशित कराया जा सके। उनके पास ऐसे अनेक पत्र आते जिनके उत्तर उन्हें देने होते या कार्यक्रमों के आयोजन करने होते। जब भी उन्हें समय मिलता वे फाइलें पढ़ते, पत्रों के उत्तर देते और अपने व्याख्यानों को पुस्तकों के रूप में प्रकाशित कराते। सन् 1959 तक उनके कार्य फैलने लगे थे।'

एक स्वामी ने पूछा, 'अपनी यात्राओं के क्रम में तो स्वामीजी को विभिन्न प्रकार के व्यक्ति मिलते होंगे?'

स्वामी धर्मशक्ति ने बताया, 'हाँ, एक बार रीवा गाँव के एक व्यक्ति ने स्वामीजी को अपने यहाँ आने का निमन्त्रण दिया। वह व्यक्ति एक ऐसे डाकू का छोटा भाई था जो गाँव के लोगों को आतंकित कर उनकी चीजें लूट लिया करता था। जब स्वामीजी गाँव पहुँचे तो वह डाकू अत्यन्त क्रुद्ध हुआ, लेकिन जब उसे मालूम हुआ कि उसके छोटे भाई ने उन्हें आमन्त्रित किया था तो उसने उन्हें एक दिन और रुक जाने का आग्रह किया।'

'अगले दिन जब स्वामीजी चलने के लिए तैयार थे तो डाकू ने उन्हें कुछ दिन और रुक जाने को कहा। तब स्वामीजी ने उससे कहा, "यदि मैं यहाँ रुकूँगा तो सत्संग करूँगा, लेकिन तुम्हारे घर में तो कोई आयेगा नहीं। इसलिए चौराहे पर सत्संग करना होगा।' डाकू ने गाँव के सभी लोगों को सत्संग में आमन्त्रित किया, किन्तु वे सब उससे इतना डरते थे कि उसके बुलावे पर कोई आने के लिए तैयार ही नहीं था। लड़कियाँ तो स्कूल ही नहीं जाती थीं, यहाँ तक कि औरतें दिन में उसके भय से अपने आँगन में भी नहीं निकलती थीं और हर आदमी अपने साथ पिस्तौल लेकर घूमता था।'

'डाकू का हृदय-परिवर्तन हो चुका था। उसने स्वामीजी को तीन सप्ताह तक अपने घर में रोके रखा। जल्द ही लोगों ने सत्संग में भाग लेना शुरू कर दिया, लड़कियाँ स्कूल जाने लगीं, औरतें अपने आँगनों में निकलने लगीं। जब स्वामीजी गाँव से जाने लगे तो डाकू ने उन्हें 500 रुपये देने चाहे, किन्तु स्वामीजी ने उसे लेने से इन्कार कर दिया। तब उसने उन्हें बन्दूक का भय दिखाकर पैसे लेने के लिए दबाव डाला, लेकिन स्वामीजी अपने निश्चय पर अडिग रहे। उन्होंने डाकू के बेटे को बुलाकर समझाया कि पैसों को किस प्रकार बैंक में जमा किया जाना चाहिए, और फिर वहाँ से निकल पड़े।'

एक स्वामी ने उत्सुकता व्यक्त करते हुए पूछा, 'क्या स्वामीजी प्राय: अनजान जगहों पर जाया करते थे?'

स्वामी धर्मशक्ति ने बताया, 'हाँ, सन् 1956 में शिवानन्द आश्रम छोड़ने के बाद स्वामीजी अपना पता-ठिकाना बताये बिना कई-कई महीनों के लिए अदृश्य हो जाते। उनके वापस लौटने के बाद ही पता चलता कि वे पाकिस्तान, अफगानिस्तान, नेपाल, बांग्लादेश, बर्मा इत्यादि के साधु-संतों से मिले, तीर्थ स्थानों, आश्रमों और मठों में गये।'

'सन् 1959 के मई में स्वामीजी ने मध्यप्रदेश के बंध बाजार में एक साधना शिविर का संचालन किया। उसके बाद वे माउण्टआबू गये और अनेक स्थानों की यात्रा की। जुलाई में चातुर्मास के लिए वे बंध बाजार गये। चातुर्मास की अवधि को उन्होंने मौन रहकर और फलाहार करते हुए साधना में व्यतीत किया। इसके बाद वे बम्बई, पूना, नासिक, त्र्यम्बकेश्वर और इलाहाबाद गये।'

'सन् 1960 की फरवरी में गुरु के आशीर्वाद के प्रतीकस्वरूप स्वामी निरंजनानन्द का जन्म हुआ और स्वामीजी उन्हें आशीर्वाद देने मार्च में राजनाँदगाँव गये। वहाँ से वे भिलाई, रायपुर, बिलासपुर और रायगढ़ गये। उनका कार्यक्षेत्र निरन्तर बढ़ता ही जा रहा था और उनके कार्यक्रमों की मांग भी बढ़ती जा रही थी। उसके बाद वे बम्बई से होते हुए जुलाई में नीम गाँव गये और चातुर्मास वहीं बिताया। अक्टूबर में वे पुनः राजनाँदगाँव गये, जहाँ उन्होंने अपने प्रथम योग सम्बन्धी प्रकाशनों – अंग्रेजी में 'लेसन्स ऑन योग' तथा हिन्दी में 'कुरुक्षेत्र की लड़ाई' और 'योगासन' को देखा।'

'नवम्बर में स्वामीजी योग कार्यक्रम के लिए गोंदिया गये, जहाँ से वे नागपुर और अमरावती गये। वहाँ से बम्बई जाकर उन्होंने कई जगहों पर व्याख्यान दिये। वहाँ के भक्तों ने उनके सत्संगों और व्याख्यानों को पुस्तक रूप में संकलित कर उसे प्रकाशित किया और उसका नाम 'डिस्कोर्सेज ऑन योग' रखा। दो महीने बम्बई में रहने के बाद वे राजनाँदगाँव लौट आये और उन्होंने कहा, "अब पुस्तकें लगातार छपेंगी, इसलिए छापाखाना बैठाना अनिवार्य हो गया है।"

'सन् 1961 की जनवरी में वे बिहार गये और वहाँ छपरा तथा उसके आस-पास के गाँवों की यात्रा की। एक महीने के बाद वे मुंगेर आये और वहाँ आनन्द भवन में ठहरे, जहाँ से गंगा के दर्शन होते हैं। वहाँ वे साधना करते और संध्या समय सत्संग करते। इस स्थान के प्राकृतिक सौन्दर्य से अभिभूत होकर उन्होंने यहीं पर भजन और कीर्तन की पुस्तिका 'सिद्ध प्रार्थना' का संकलन किया।'

‘इसके साथ-ही कर्णचौरा ने, जो एक छोटी-सी पहाड़ी पर था, उन्हें आकृष्ट किया। कर्ण चौरा से गंगा के रमणीय दर्शन होते थे। महाभारत की कथा के अनुसार राजा कर्ण उस चबूतरे पर बैठ कर स्वर्ण दान किया करते थे। स्वामीजी उस पहाड़ी पर या तो टहलते या उस ऐतिहासिक चबूतरे पर बैठ कर ध्यान करते। वहाँ उन्हें तरह-तरह की अनुभूतियाँ हुईं। एक बार उन्होंने चबूतरे की दरार से एक देदीप्यमान् आकृति को निकलते हुए देखा। उस आकृति ने उनसे कहा, “योग भविष्य की संस्कृति बनेगा और यह स्थल योग का केन्द्र।” इतना कहकर वह आकृति लुप्त हो गयी। ऐसी घटनाओं के बाद स्वामीजी कर्ण चौरा पर दुबारा नहीं आने का निश्चय करते, किन्तु उस स्थान में एक ऐसा आकर्षण था कि वे स्वयं को रोक नहीं पाते।’

‘उस समय उनके मेजबान ने उन्हें मुंगेर में रुकने का आग्रह किया, वहाँ एक आश्रम बनवा देने का प्रस्ताव रखा, किन्तु स्वामीजी इसके पक्ष में नहीं थे। बिहार में उनका केन्द्र मुंगेर में ही था। वहाँ से भागलपुर, छपरा, कतरासगढ़, सीतामढ़ी, पटना और अन्य जगहों पर गये और वहाँ से लौट कर मुंगेर आये। यहाँ उन्होंने ‘लेसन्स ऑन योग’ का हिन्दी में अनुवाद किया। हिन्दी में इसका नाम ‘योग साधना : भाग–1’ रखा गया। इसके दूसरे भाग में पत्रों का संकलन प्रकाशित किया गया।’

‘सन् 1961 में स्वामीजी कार्यक्रमों के लिए नियमित रूप से बम्बई, अमरावती, खामगाँव, नागपुर, राजनाँदगाँव, भिलाई, बिलासपुर, रायगढ़, कलकत्ता और इलाहाबाद जाते रहे। बम्बई में भक्तों ने उनके सत्संगों और व्याख्यानों को संकलित कर चार पुस्तकों के रूप में प्रकाशित किया। साथ-ही नयी जगहों पर जाने के लिए उन्हें निमन्त्रण भी प्राप्त होते रहे। उनका सम्पर्क क्षेत्र त्वरित गति से बढ़ रहा था।’

एक स्वामी ने पूछा, ‘अन्तर्राष्ट्रीय योग मित्र मण्डल की स्थापना कब हुई?’

‘सन् 1962 में,’ स्वामी धर्मशक्ति ने बताया, ‘उस समय स्वामीजी को एक संस्था प्रारम्भ करने की प्रेरणा मिली। उन्होंने उन सारे लोगों से विचार-विमर्श किया जो उनके कार्यों में सन्नद्ध थे। इसके बाद एक रूप-रेखा तैयार करने का निश्चय किया गया। तत्पश्चात् स्वामीजी एक योग शिविर के लिए नागपुर गये और वहाँ से बम्बई, जहाँ आठ पुस्तकों का प्रकाशन चल रहा था, बिहार में भी पाँच पुस्तकें प्रकाशित हो रही थीं। राजनाँदगाँव में एक प्रकाशन समिति का गठन किया गया।’

'उसी वर्ष राजनाँदगाँव में स्वामीजी ने कहा, "हमलोग अनेक पुस्तकें प्रकाशित कर रहे हैं, और कितनी पुस्तकें छपेंगी, कहा नहीं जा सकता। पुस्तकें हमारे मिशन का आधार हैं।" उसी समय उन्होंने योग सम्बन्धी एक नियमित पत्रिका प्रकाशित करने की अपनी योजना के विषय में भी बताया। अपने सभी कार्यों को समझा कर बम्बई होते हुए वे मुंगेर और सीतामढ़ी चले गये, जहाँ मार्च में उनका कार्यक्रम आयोजित किया गया था। जब मार्च के अन्त में वे राजनाँदगाँव वापस आये तब अन्तर्राष्ट्रीय योग मित्र मण्डल का औपचारिक रूप से गठन हो चुका था। उसी समय उन्होंने भविष्य के अपने कार्यों का विवरण दिया और वहाँ से नागपुर और बम्बई गये, जहाँ वे एक महीना रुके। मई महीने में उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय योग मित्र मण्डल की स्थापना के लिए अपने गुरु के आशीर्वाद प्राप्त हुए।'

'उस वर्ष स्वामीजी ने चातुर्मास का समय मुंगेर के आनन्द भवन में व्यतीत करने का निश्चय किया। इस समय उन्होंने 'काया-कल्प' की क्रिया की, जो शुद्धिकरण की गहन प्रक्रिया होती है। इस समय वे प्रतिदिन केवल एक बार फल ग्रहण करते थे। अक्टूबर में राजगीर में एक योग शिविर आयोजित किया गया, जिसमें भागलपुर, छपरा, बम्बई और खामगाँव के भक्तों ने भाग लिया। अन्तर्राष्ट्रीय योग मित्र मण्डल की एक बैठक हुई जिसमें उसके कार्यों की सूची तैयार की गयी। स्वामीजी ने राजनाँदगाँव में अविलम्ब एक छापाखाना बैठाने की अनिवार्यता पर बल दिया, क्योंकि अनेक पुस्तकें प्रकाशन के लिए तैयार थीं और अनेक लिखी जा रहीं थीं। अब तक स्वामीजी का मिशन गतिमान हो चुका था। पन्द्रह पुस्तकें प्रकाशित हुईं और वे उनका वितरण करते गये, साथ-ही मासिक पत्रिका के प्रकाशन की सारी तैयारी भी हो गयी।'

'सन् 1963 में हिन्दी में 'योग विद्या' और अंग्रेजी में 'योग' का जनवरी अंक बम्बई में प्रकाशित हुआ। बाद में जब 'योग विद्या प्रिन्टिंग प्रेस' राजनाँदगाँव में बैठाया गया तो पत्रिकाएँ वहीं छपने लगीं। योग में रुचि रखने वाले सभी भक्तों, शिष्यों और मित्रों को पत्रिकाओं की प्रतियाँ भेजी जाने लगीं। इस महत् कार्य की सफलता के लिए सबने मिलकर हर सम्भव सहायता दी।'

'उस वर्ष भी स्वामीजी चातुर्मास के लिए मुंगेर के आनन्द भवन में ही ठहरे। 14 जुलाई की आधी रात को जब वे साधना कर रहे थे तो उनका अन्तर्जागरण हुआ। था तो वह एक स्वप्न के रूप में, किन्तु भौतिक स्तर पर घटित होता हुआ प्रतीत हो रहा था। उन्होंने स्वप्न में स्वामी शिवानन्द को एक

स्टीमबोट में शिवानन्दाश्रम से स्वर्गाश्रम जाते हुए देखा, जो गंगा के उस पार है। स्टीमबोट से बिगुल, शंख और ढोल की आवाजें आ रही थीं। स्वामी शिवानन्द उस स्टीम बोट में अकेले यात्री थे।'

'स्वामीजी को ऐसा प्रतीत हुआ कि वे दर्शन महाविद्यालय के सामने से यह दृश्य देख रहे हों। दर्शन महाविद्यालय शिवानन्दाश्रम से कुछ ऊँचाई पर स्थित है। स्टीमबोट के चक्के से गंगा का जल छिटकता जा रहा था। इसी बीच थोड़ा गंगा-जल स्वामीजी के शरीर पर पड़ गया और इसके साथ ही उनका स्वप्न भी भंग हो गया। तुरन्त वे समझ गये कि उनके गुरु ने शरीर त्याग दिया है। जब स्वामीजी के शरीर पर गंगाजल पड़ा तो उस समय स्वामी शिवानन्द उनकी ओर देख रहे थे, उसके पूर्व वे दूसरी ओर देख रहे थे। जल का छिड़काव यह संकेत दे रहा था कि उन्हें अभिषिक्त किया गया, नियुक्त किया गया। उनके गुरु की कृपा उनके साथ थी और उन्हें योग के प्रचार के लिए निष्ठा और उत्साह के साथ कार्य करना चाहिए।'

'अगले दिन स्वामीजी मुंगेर से दिल्ली के लिए चल पड़े और वहाँ से ऋषिकेश गये। ज्यों ही वे अपने गुरु के आश्रम पहुँचे, उन्हें पता चल गया कि उन्हें उस तथ्य से अवगत कराने के लिए ही वह प्रतीकात्मक स्वप्न आया था। वे वापस मुंगेर आ गये और उन्होंने अपने मेजबान को बताया कि वे वहीं बसना चाहते हैं। संन्यासियों की यह परम्परा है कि जब संन्यासी के गुरु अपना भौतिक शरीर त्यागते हैं तो शिष्य विश्व के जिस कोने में रहे, उसे उसी स्थान पर बस जाना होता है। इसलिए स्वामीजी ने कहा, "मैं परम्परा का अनुसरण करूँगा। चूँकि मेरे गुरु ने मुझे अन्तिम बार मुंगेर में ही आशीर्वाद दिया, इसलिए मैं मुंगेर में ही रहूँगा।" स्वामीजी के मेजबान को इसी क्षण की प्रतीक्षा थी, उन्होंने तुरन्त स्वामीजी के प्रस्ताव को मान लिया। यह तो सदा उनकी आन्तरिक इच्छा रही थी कि स्वामीजी मुंगेर में ही रहें। इस प्रकार उनके अभिभावकत्व में आश्रम का निर्माण प्रारम्भ हो गया।'

'अक्टूबर में स्वामीजी राजनाँदगाँव गये और वहाँ अपने भक्तों को उन्होंने बताया कि दिसम्बर में उनका परिव्राजकत्व समाप्त हो जायेगा। जनवरी से वे मुंगेर में ही रहेंगे, जहाँ आश्रम बन रहा था। वहाँ से बम्बई, पूना, अमरावती, खामगाँव, नीमगाँव और अजंता-एलोरा की गुफाओं में गये। इसी बीच, उन्हें एक बार और अपने गुरु के दर्शन हुए तथा उन्होंने कुछ विशेष निर्देश दिये। उन्हें अनेक दैवी शक्तियों के दर्शन के साथ उनके आशीर्वाद भी प्राप्त हुए

तथा उन्हें परमहंस अवस्था से विभूषित किया गया। उसी समय से स्वामीजी ने कुर्ता, चप्पल और घड़ी पहनना छोड़ दिया। अनेक वर्षों तक एक धोती और एक उत्तरीय ही उनके वस्त्र थे।'

'उसके बाद वे नागपुर, गोंदिया, डूँगरपुर होते हुए राजनाँदगाँव गये, जहाँ एक विशाल जनसमूह उनके दर्शनों के लिए आया हुआ था। वहाँ से दुर्ग, भिलाई, रामपुर, बिलासपरु, रायगढ़, भुवनेश्वर, कलकत्ता, छपरा, भागलपुर होते हुए मुंगेर वापस आ गये। और इसके साथ ही उनके परिव्राजक जीवन में विराम लग गया। आश्रम का निर्माण लगभग पूरा हो चुका था। भक्तगण उद्‌घाटन समारोह और अतिथियों के स्वागत की तैयारियों में लगे हुए थे। 19 जनवरी 1964 को बसंत पंचमी के दिन स्वामीजी ने आश्रम का उद्‌घाटन किया। उन्होंने अपने गुरु की स्मृति में अखण्ड ज्योति प्रज्वलित की और हवन में प्रथम आहुति अर्पित की।'

'उसके बाद से स्वामीजी ने पाया कि उनकी आत्मा यदा-कदा मुक्त हो जाती और उस समय उन्हें अपने गुरु के प्रत्यक्ष दर्शन और निर्देश प्राप्त होते। गुरु के आशीर्वाद से उन्होंने बीस वर्षों में 'बिहार योग विद्यालय', 'शिवानन्दाश्रम' और 'गंगा-दर्शन' की स्थापना की, भारत और विश्व के विभिन्न कोनों में स्थापित होने वाले सैकड़ों आश्रमों और योग केन्द्रों के पथ-प्रदर्शक बने। वे सदा कहते रहे कि उन्होंने जो कार्य किये वे उनके अनुभवों या क्षमताओं के प्रतिफल नहीं, बल्कि उनके गुरु द्वारा समय-समय पर दिये गये निर्देशों और मार्गदर्शन के परिणाम हैं। अपने गुरु के साथ उनका ऐसा गहरा सम्बन्ध था।'

मिशन

सांझ ढलने पर सभी स्वामी पुन: साधना हॉल में एकत्र हुए। वे सब गुरुदेव के जीवन के अगले अध्याय में प्रवेश पाने की आतुर प्रतीक्षा में थे। तभी स्वामी निरंजनानन्द ने हॉल में प्रवेश किया और अपने स्थान पर बैठ गये। मन्त्रोच्चार के बाद उन्होंने गुरुदेव की जीवन-पुस्तक के पन्नों को एक के बाद एक पुन: पलटना प्रारम्भ किया।

'जिस प्रकार किसी भी संस्था का इतिहास किसी व्यक्ति विशेष से जुड़ा रहता है, उसी प्रकार इस आश्रम का इतिहास स्वामी सत्यानन्द सरस्वती से जुड़ा

हुआ है। सन् 1963 की 19 जनवरी को स्वामीजी ने मुंगेर में गंगा के किनारे लाल दरवाजा क्षेत्र में एक छोटे-से भवन में शिवानन्द आश्रम की स्थापना की। प्रारम्भिक वर्षों में आश्रम का विकास कुछ धीमा था। उसमें सुविधाएँ तो अल्प थीं ही, व्यक्तिगत कक्ष भी नहीं थे। सभी एक साथ साधना हॉल में रहते थे और जमीन पर ही कम्बल बिछा कर सोते थे। आश्रम के छोर पर मिट्टी की झोपड़ी थी जिसे स्वामीजी की कुटी कहा जाता था, क्योंकि वे उसी में रहते थे।'

'समय-समय पर कुछ भक्त आश्रम में आया करते थे ताकि योगासन सीख सकें। इसलिए धीरे-धीरे आश्रम में कमरों का निर्माण होने लगा। सन् 1965 के अन्त में मुख्य हॉल का ऐनेक्स बनकर तैयार हो गया। प्रथम दो कक्षों को पंचवटी और योगनिद्रा विहार कहा गया। सन् 1967 में ऐनेक्स का विस्तार किया गया, एक तीसरा कमरा बना जिसे गंगा सागर कहा गया और अन्त में एक छोटा-सा कमरा बना जिसके तल-घर में स्वामीजी की साधना के लिए एक और कमरा बना।'

'आकाश में बादल घने हो सकते हैं, किन्तु सूर्य के प्रकाश को अवरुद्ध करना उनके वश में नहीं। फूलों के खिलने पर भौंरों को न्योता देना आवश्यक नहीं। स्वामीजी का अद्भुत तेज भी ऐसा ही चमत्कारपूर्ण था। लोगों ने स्वामीजी के पास आना प्रारम्भ किया तो उन्होंने उनका शिक्षण प्रारम्भ किया। वे समाज के लिए ऐसे उपयोगी कार्य करना चाहते थे जिससे प्रत्येक व्यक्ति का विकास हो सके। वे केवल एक योग शिक्षक नहीं थे, बल्कि एक सिद्ध योगी भी थे। लोग उनके पास ऐसे चमत्कार की अपेक्षा के साथ आते जिससे उनकी सभी समस्याओं का समाधान हो जाये। ऐसी अपेक्षाओं पर उनका उत्तर होता, "मैं चमत्कार दिखाने वाला साधु नहीं हूँ। यदि आप चमत्कार होने की इच्छा से आये हैं तो कहीं और जायें।"

'स्वामीजी अत्यन्त व्यावहारिक व्यक्ति थे। वे कहा करते थे, "यदि कोई व्यक्ति व्यावहारिक नहीं होगा और उपयोगी कार्य करने का प्रयास नहीं करेगा तो वह साधक कैसे कहलायेगा?" हम लोगों के लिए यह पहला पाठ था जो हम लोगों ने उनसे ग्रहण किया था। जिस प्रकार की शिक्षा आज तुम लोग पा रहे हो, हम लोगों को नहीं दी जाती थी। तुम लोग उस समय के संन्यासियों से पूछ सकते हो, क्या उन्होंने स्वामीजी से ऐसा कुछ सीखा था?'

एक स्वामी ने आश्चर्य व्यक्त करते हुए पूछा, 'स्वामीजी ने इतने पिछड़े और एकान्त क्षेत्र में शिक्षण सम्बन्धी गतिविधियाँ प्रारम्भ कीं और कुछ ही दिनों

में इसका इतना विस्तार कर लिया कि उनकी संस्था को विश्वव्यापी ख्याति प्राप्त हो गयी। ऐसा कैसे सम्भव हुआ?'

स्वामी निरंजनानन्द ने उसकी जिज्ञासा शान्त करते हुए बताया, 'सन् 1964 से प्रत्येक वर्ष बिहार योग विद्यालय और अन्तर्राष्ट्रीय योग मित्र मण्डल की वार्षिक बैठक के साथ एक अन्तर्राष्ट्रीय योग सम्मेलन का आयोजन किया जाने लगा। इस प्रकार अधिक-से-अधिक लोग आश्रम आने लगे। यहाँ पर उनके सुखद अनुभवों के माध्यम से आश्रम-जीवन की जानकारी विश्व के कोने-कोने में फैल गयी।'

'सन् 1964 के नवम्बर में पहला अन्तर्राष्ट्रीय योग सम्मेलन मुंगेर में आयोजित किया गया। इस सम्मेलन का उद्घाटन बिहार के राज्यपाल ने किया था और इसके मुख्य अतिथि स्वामीजी के गुरुभाई, ऋषिकेश के स्वामी चिदानन्द थे। नवम्बर, 1965 में दूसरा अन्तर्राष्ट्रीय योग सम्मेलन हुआ। पुरी के शंकराचार्य ने इसका उद्घाटन और बिहार के राज्यपाल ने इसका समापन किया। राजस्थान के राज्यपाल इसके मुख्य अतिथि थे। सन् 1966 के नवम्बर में तीसरा अन्तर्राष्ट्रीय योग सम्मेलन हुआ, जिसमें पश्चिमी देशों के अनेक जिज्ञासुओं ने भाग लिया। चौथा अन्तर्राष्ट्रीय योग सम्मेलन नवम्बर, 1967 में गोंदिया में आयोजित किया गया।'

'नौ महीनों का एक गहन योग शिक्षक प्रशिक्षण सत्र पहली बार 1 जुलाई 1967 से 31 मार्च 1968 तक मुंगेर में आयोजित किया गया। इसमें भारतीय और विदेशी, अनेक जिज्ञासुओं ने हिस्सा लिया। इस सत्र में स्वामीजी को महान् सफलता प्राप्त हुई। उन्होंने जिन योग शिक्षकों को प्रशिक्षण दिया उन सब के माध्यम से स्वामीजी के मिशन और उनके योग शिक्षण का बीज सम्पूर्ण विश्व में विकीर्ण हो गया। इस सत्र के क्रम में शिष्यों ने योग की विभिन्न क्रियाओं को सीखने के साथ-साथ और भी बहुत कुछ ग्रहण किया। उन्हें योग को एक विज्ञान, दर्शन और जीवन-शैली के समन्वित रूप में गहराई से समझने का अवसर मिला। उस सत्र के क्रम में स्वामीजी ने जो व्याख्यान दिये, उनके आधार पर अनेक पुस्तकें तैयार हो गयीं, जैसे–'फोर चेप्टर्स ऑन फ्रीडम' एवं 'अर्ली टीचिंग्स ऑफ स्वामी सत्यानन्द।'

'सन् 1968 तक बिहार योग विद्यालय अच्छी तरह स्थापित हो गया था, इसलिए स्वामीजी ने सोचा कि योग के सन्देश को विश्व के कोने-कोने तक पहुँचाने का उचित समय आ गया है। उसी वर्ष मार्च में स्वामीजी अपने

70 शिष्यों के साथ अपनी आगामी विश्व-यात्रा के लिए ऋषिकेश में स्वामी शिवानन्द की समाधि पर गये, जहाँ उन्होंने आशीर्वाद और निर्देश प्राप्त किये। वहाँ स्वामीजी ने एक सप्ताह का उपवास रखा और स्वामी शिवानन्द की समाधि के अन्दर एकान्तवास किया। इस बीच वे न तो बाहर निकले और न ही किसी से मिले। एक सप्ताह बाद बाहर निकलने पर उन्होंने बताया, 'मुझे जाने की अनुमति मिल गयी है।' एक सप्ताह के अन्दर उनका पासपोर्ट और टिकट तैयार हो गया, उन्होंने यथायोग्य सम्पर्क स्थापित किया और अपनी यात्रा पर निकल पड़े। अप्रैल में उन्होंने मलेशिया और सिंगापुर के लिए बम्बई से प्रस्थान किया। वहाँ से उन्होंने ऑस्ट्रेलिया, जापान, अमेरिका, कनाडा, इंगलैण्ड, फ्रांस, हालैण्ड, स्वीडन और इटली की यात्राएँ कीं। पाँच महीनों की यह यात्रा अत्यन्त सफल रही। स्वामीजी की अनुपस्थिति में आश्रम के संन्यासियों ने तिमंजिली इमारत का निर्माण किया ताकि योग की शिक्षा के लिए आने वाले विद्यार्थियों को उसमें ठहराने का यथोचित प्रबन्ध हो सके। तीन महीनों के अन्दर वह भवन बन कर तैयार भी हो गया और स्वामीजी के आने तक विद्यार्थी उसमें रहने भी लगे।'

'स्वामीजी अक्तूबर में भारत वापस आये और नवम्बर में उन्होंने रायगढ़ में पाँचवें अन्तर्राष्ट्रीय योग सम्मेलन का आयोजन किया। इस सम्मेलन के मुख्य अतिथि उनके गुरुभाई स्वामी सच्चिदानन्द हुए जो 'इंटिग्रल योग फेलोशिप, अमेरिका' के अध्यक्ष थे। सम्मेलन के बाद मुंगेर में तीन महीनों का योग शिक्षक प्रशिक्षण सत्र चला, जिसमें विश्व के विभिन्न भागों से आये हुए प्रशिक्षुओं ने भाग लिया।'

'सन् 1969 में स्वामीजी अत्यधिक सक्रिय रहे। मई में उन्होंने जयपुर योग विद्या सम्मेलन का सभापतित्व किया। जून में उन्होंने भारत का गहन भ्रमण किया। इसी क्रम में उन्होंने भागलपुर, पटना, मुजफ्फरपुर, धनबाद, कलकत्ता, टाटानगर, रायगढ़, बिलासपुर, संबलपुर, रायपुर, गोंदिया, राजनाँदगाँव, भिलाई, नागपुर, अमरावती, बम्बई, पूना, अहमदाबाद, जयपुर, दिल्ली, भोपाल, सागर और जबलपुर में योग के कार्यक्रमों का संचालन किया।'

'अगस्त में वे पुनः विदेश-यात्रा पर गये। इंगलैण्ड, आयरलैण्ड, डेनमार्क, फ्रांस, बेल्जियम, जर्मनी और स्विट्ज़रलैण्ड में उन्होंने योग कार्यक्रमों का संचालन किया। सितम्बर में ऑस्ट्रेलिया के रिचमॉन्ड शहर में छठा अन्तर्राष्ट्रीय योग सम्मेलन रोमा ब्लेयर (स्वामी निर्मलानन्द) द्वारा

आयोजित किया गया, स्वामीजी ने इसका सभापतित्व किया। इस सम्मेलन में आने वाले अतिथियों में पाण्डिचेरी के स्वामी गीतानन्द, ऑस्ट्रेलिया के स्वामी करुणानन्द और मॉरिशस के स्वामी व्यंकटेशानन्द प्रमुख थे।'

'सन् 1970 की जनवरी में अपने शिष्यों के साथ स्वामीजी चार महीनों तक भारत की यात्रा करते रहे। इस यात्रा के क्रम में उन्होंने पटना, दिल्ली, जयपुर, कलकत्ता, भोपाल, सागर, गिरीडीह, सहरसा, फारबिसगंज, किसनगंज, टाटानगर, खड़गपुर, चाईबासा, गोआ, संबलपुर, धेंकानल, अंगुल, अठमल्लिक, नागपुर, अमरावती, बम्बई, पूना, अहमदाबाद, जबलपुर, इंदौर, बिलासपुर, भातपाड़ा, रायपुर, भिलाई, दुर्ग, गोंदिया और राजनाँदगाँव में होने वाले योग कार्यक्रमों का संचालन किया।'

'मई में वे अपनी तीसरी विदेश यात्रा पर गये। आयरलैण्ड में स्वामीजी अपने एक संन्यासी शिष्य के पास गये जिसने एक योग आश्रम की स्थापना की थी। उसके बाद उन्होंने पेरिस में होने वाले सातवें अन्तर्राष्ट्रीय योग सम्मेलन में सभापति के पद को सुशोभित किया। वहाँ से वे अमेरिका गये।'

'जून में स्वामीजी भारत वापस आ गये। चूँकि बिहार योग विद्यालय भारत के विभिन्न प्रान्तों और विभिन्न देशों से आये हुए लोगों से सदा भरा रहता था, इसलिए स्थानीय लोगों की सुविधा का ध्यान रखते हुए मुंगेर के किले के अन्दर उन्होंने शिवानन्द कुटीर योग आश्रम खोला। जुलाई में उन्होंने 'योग रिसर्च लाइब्रेरी' का उद्घाटन किया ताकि वहाँ पर योग-सम्बन्धी शोध के साथ उन पर पुस्तकें भी लिखी जा सकें।'

'अगस्त में उन्होंने छतरपुर, टीकमगढ़, पन्ना, शाहजहाँपुर, कटनी और शहडोल में योग के कार्यक्रम का संचालन किया। सितम्बर में वे पुन: इंगलैण्ड, आयरलैण्ड, डेनमार्क, फ्रांस, बेल्जियम, जर्मनी, स्विट्जरलैण्ड, और ऑस्ट्रेलिया गये।'

एक स्वामी ने पूछा, 'संन्यास प्रशिक्षण कब प्रारम्भ हुआ?'

'संन्यास प्रशिक्षण स्वामीजी के मिशन का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष था', स्वामी निरंजनानन्द ने बताया, 'सन् 1970 तक विश्व के विभिन्न भागों में ऐसे अनुभवी योग शिक्षकों और संन्यासियों की मांग हो रही थी जो अपने-अपने स्थानीय क्षेत्रों में लोगों का मार्गदर्शन कर सकें। इसलिए स्वामीजी ने तीन वर्षों का एक अन्तर्राष्ट्रीय संन्यास प्रशिक्षण सत्र आयोजित किया। यह सत्र ऐसे जिज्ञासुओं के लिए था जो संन्यास को जीवन-शैली के रूप में अपनाना

चाहते थे। यह संन्यास सत्र स्वामीजी के साक्षात् निर्देशन में सम्पूर्ण विश्व से आये हुए 108 प्रशिक्षणार्थियों को लेकर सितम्बर में प्रारम्भ हुआ।'

'तीन वर्षों के उस संन्यास-सत्र को स्वामीजी ने स्वयं संचालित किया। एक महीना आसन, एक महीना प्राणायाम, एक महीना भजन, एक महीना साधना और इसी प्रकार उन्होंने योग के उन सभी पक्षों का ज्ञान दिया जिसे उन्होंने उचित समझा। उनकी ये कक्षायें बिहार योग विद्यालय के अनेक प्रकाशनों की आधार बनीं, इनमें 'आसन प्राणायाम मुद्रा बन्ध', 'ध्यान : तन्त्र के आलोक में,' 'प्राण विद्या' एवं 'योग निद्रा' प्रमुख हैं।'

'क्या संन्यास-सत्र की पूरी अवधि में स्वामीजी आश्रम में ही रहे, या उन्होंने यात्रायें भी कीं?' एक स्वामी ने प्रश्न किया।

स्वामी निरंजनानन्द ने बताया, 'अधिकांश समय वे आश्रम में ही रहे, किन्तु बीच-बीच में योग कार्यक्रमों के लिए उन्होंने भारत के अन्दर और विभिन्न देशों की भी यात्रायें कीं। सन् 1971 के मार्च में वे इंगलैण्ड और आयरलैण्ड गये। उनके साथ उनका सबसे छोटा शिष्य भी था, यानि मैं। मैं आयरलैण्ड रुक गया और स्वामीजी अप्रैल में सम्बलपुर के योग सम्मेलन का उद्घाटन करने के लिए भारत लौट आये। उसके बाद वे रायगढ़ और बिलासपुर गये, जहाँ उन्होंने 40 दिनों के मधुमेह शिविर का उद्घाटन किया। वहाँ से एक महीने के लिए अपने 45 शिष्यों के साथ कोरबा होते हुए राजनाँदगाँव गये। मई में स्वामीजी राजनाँदगाँव से संबलपुर आश्रम में ज्योति प्रज्वलित करने गये। तत्पश्चात् वे बेलफास्ट के आश्रम का उद्घाटन करने गये और योग शिक्षक प्रशिक्षण सत्र के संचालन के लिए जून के महीने में वे वहीं रहे। जुलाई में भारत लौट कर उन्होंने राजनाँदगाँव के आश्रम का उद्घाटन किया। नवम्बर में उन्होंने अपने कुछ संन्यासियों को कोलम्बिया का आश्रम आरम्भ करने के लिए वहाँ भेजा।'

'सन् 1972 के मार्च और अप्रैल में स्वामीजी रायगढ़, राजनाँदगाँव, नागपुर, गोंदिया, बैतूल, सतना, रीवा, जबलपुर, मिर्जापुर और गया गये।'

'सन् 1973 की जनवरी में स्वामीजी ने रायपुर आश्रम के लिए भूमि पूजन किया। मार्च में वे ऑस्ट्रेलिया गये। अप्रैल और मई में उन्होंने दक्षिणी अमेरिका और यूरोप की यात्राएँ कीं। भारत लौटने पर उन्होंने बिहार योग विद्यालय में एक छापाखाना बैठाया ताकि स्वर्णजयंती समारोह के लिए सभी पुस्तिकायें और योग सम्बन्धी सभी रचनाएँ वहीं प्रकाशित हो सकें।'

'सन् 1973 के अक्टूबर में एक अन्तर्राष्ट्रीय योग सम्मेलन के रूप में ही स्वर्ण जयंती का समारोह मुंगेर में आयोजित किया गया। विभिन्न देशों के प्रतिनिधि विशेष उड़ानों के द्वारा इस सम्मेलन में भाग लेने आये। भारत के विभिन्न प्रान्तों के प्रतिनिधि भी बड़ी संख्या में सम्मेलन का लाभ उठाने आये।'

'स्वामी शिवानन्द के त्याग के पचासवें वर्ष के उपलक्ष्य में यह समारोह आयोजित किया गया था। यह ऐसा योग-समागम था जिसमें सम्पूर्ण विश्व के गुरु, संन्यासी और संत एकत्र हुए थे। सौभाग्य से यह श्री स्वामीजी के जीवन का भी पचासवाँ वर्ष था। इस समारोह के अवसर पर स्वामीजी को योग के श्रेष्ठतम ज्ञाता के रूप में सम्मानित किया गया। इस समारोह में सम्मिलित हुए प्रमुख अतिथियों में महामहिम जगत्गुरु स्वामी शान्तानन्द, ज्योतिर्मठ के शंकराचार्य, श्री बी. के. एस. अयंगार, ऋषिकेश के स्वामी चिदानन्द तथा स्वामीजी के असंख्य संन्यासी शिष्यगण जो योग शिक्षक के रूप में प्रतिष्ठित हो चुके थे।'

'सन् 1974 की फरवरी और मार्च में स्वामीजी ने संन्यासी शिष्यों के एक दल के साथ मध्य भारत के अंबिकापुर, कोरबा, जांजगीर, बिलासपुर, रायपुर, भिलाईनगर, महासमुंद, धमतरी, जगदलपुर, राजनाँदगाँव, गोंदिया, बालाघाट, पन्हमोरे, जबलपुर, सागर और सतना नगरों में योग के कार्यक्रमों का आयोजन किया। अप्रैल में स्वामीजी दक्षिणी अमेरिका गये और लौटकर उन्होंने संबलपुर में योग सम्मेलन का उद्घाटन किया। सितम्बर में स्वामीजी ने जर्मनी से होते हुए कोलम्बिया की यात्रा की। अक्तूबर में लौट कर वे धनबाद गये जहाँ उन्होंने विश्व योग सम्मेलन का संचालन किया। दिसम्बर में उन्होंने अपने एक संन्यासी शिष्य को आस्ट्रेलिया में एक आश्रम आरम्भ करने के लिए भेजा।'

'मार्च 1975 में स्वामीजी ने बिलासपुर के अखिल योग सम्मेलन की अध्यक्षता की। फिर उन्होंने भिलाई के इस्पात कारखाने में आयोजित एक गोष्ठी का उद्घाटन किया। अक्तूबर में हीरक जयंती समारोह के लिए स्वामीजी ने बोगोता (कोलम्बिया) की यात्रा की। उसके बाद वे इक्वाडोर, पेरु, ब्राजील, चिली, पनामा, अर्जेन्टीना, ग्वाटेमाला, उरुग्वे, एल सल्वाडोर, पारागुये, मेक्सिको की यात्रायें करते हुए त्रिनिदाद, बार्सीलोना, कोपेनहेगन और पेरिस गये। नवम्बर में भारत आने पर उन्होंने राजनाँदगाँव

योग सम्मेलन का उद्‌घाटन किया। दिसम्बर में उन्होंने बम्बई में एक योग गोष्ठी का संचालन किया।'

'सन् 1976 तक मुंगेर का वह छोटा-सा आश्रम, जिसे स्वामीजी ने बारह वर्ष पूर्व स्थापित किया था, और भी छोटा प्रतीत होने लगा। यह भक्तों, अतिथियों और संन्यासियों से सदा आप्लावित रहता था। प्रतिदिन आने वाले नये अभ्यर्थियों के लिए स्थान नहीं रह पाता था।'

'सन् 1976 की फरवरी और मार्च में स्वामीजी ने आसनसोल, कलकत्ता, इलाहाबाद, सुपौल, सम्बलपुर, रायगढ़, राजनाँदगाँव और बढ़हिया में योग कार्यक्रमों का संचालन किया। मई में उन्होंने हजारीबाग, कुमारडूबी और संबलपुर के कार्यक्रमों का उद्‌घाटन किया। जुलाई और अगस्त में स्वामीजी ने रायगढ़ में गुरु पूर्णिमा के अवसर पर आयोजित समारोह की अध्यक्षता की। उसके बाद उन्होंने राँची में एक कार्यक्रम संचालित किया। वहाँ से वे कलकत्ता, खड़गपुर, कटक, विशाखपट्टनम, मद्रास, महाबलिपुरम, हैदराबाद, नागपुर, जबलपुर और भोपाल गये। नवम्बर-दिसंबर में उन्होंने रायपुर में राष्ट्रीय योग सम्मेलन, भिलाई में स्टील योग सम्मेलन और भोपाल में एक योग गोष्ठी का संचालन किया।'

'सन् 1977 में स्वामीजी ने बिहार योग विद्यालय के छापाखाना को और अधिक प्रवर्द्धित किया और उसे आश्रम ग्राफिक्स का नाम दिया। इसका उद्‌देश्य यह था कि सन् 1963 में राजनाँदगाँव से 'योग' और 'योग विद्या' पत्रिकाओं का जो प्रकाशन हो रहा था, उन्हें अब मुंगेर में प्रकाशित किया जाये। पत्रिका के लिए रचनाओं का संकलन, सम्पादन और प्रकाशन का कार्य आश्रम के संन्यासियों के द्वारा कर्मयोग के रूप में किया जाता था। फरवरी में छापाखाने की इमारत के ऊपर और एक मंजिल बनाई गयी जिसमें बिहार योग विद्यालय की रिसर्च लाईब्रेरी और डिस्पैच विभाग को स्थानांतरित किया गया। धीरे-धीरे आश्रमवासियों की भीड़ बढ़ती ही गयी। जब नये अभ्यर्थियों की संख्या बढ़ने लगी तो स्वामीजी ने नवागंतुकों के आश्रम में प्रवेश-निषेध की घोषणा कर दी और उन्होंने उन लोगों को धनबाद, रायपुर, राजनाँदगाँव और सम्बलपुर भेजना प्रारम्भ किया। फिर भी लोगों का आगमन रुका नहीं।'

'फरवरी 1977 में स्वामीजी काठमाण्डू गये। जुलाई में गुरु पूर्णिमा के समारोह की अध्यक्षता करने के लिए वे ऑस्ट्रेलिया के मैन्ग्रोव माउण्टेन आश्रम गये। अगस्त में उन्होंने कलकत्ता आश्रम का उद्‌घाटन किया। सितम्बर

में स्वामीजी जीनाल (स्विट्ज़रलैण्ड) गये जहाँ उन्होंने यूरोपियन यूनियन ऑफ नेशनल फेडरेशन ऑफ योग द्वारा प्रायोजित द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय योग सप्ताह में उपस्थित हुए प्रतिनिधियों को सम्बोधित किया। अक्तूबर में उन्होंने सम्बलपुर के राष्ट्रीय योग सम्मेलन की अध्यक्षता की। दिसम्बर में वे कोलम्बिया की यात्रा पर गये।'

'सन् 1978 में गम्भीर विचार-विमर्श के बाद यह निर्णय लिया गया कि कर्ण चौरा के आस-पास की सम्पत्ति को अधिगृहीत किया जाये ताकि वहाँ पर पर्याप्त सुविधाओं से परिपूर्ण ऐसा बड़ा आश्रम बनाया जा सके जो योग जिज्ञासुओं की बढ़ती हुई संख्या को आश्रय दे सके। कर्ण चौरा मूल आश्रम के सामने वाली पहाड़ी पर स्थित था, जहाँ से गंगा के दर्शन भी होते थे। उसी वर्ष वह प्राचीन और ऐतिहासिक स्थान बिहार योग विद्यालय को हस्तान्तरित कर दिया गया। स्वामीजी ने उस स्थान को गंगा दर्शन का उपयुक्त नाम दिया। उन्होंने स्वयं पौराणिक कर्णचौरा पर बने साधना हॉल तथा अन्य विशाल आवासीय खण्डों की योजना तैयार की।'

'जनवरी, 1978 में स्वामीजी ने एथेन्स और बार्सिलोना में योग गोष्ठियों का संचालन किया। फरवरी और मार्च में उन्होंने सम्बलपुर के योग शिविर का उद्घाटन किया जिसका मुख्य उद्देश्य मधुमेह का उपचार था। वहाँ से वे रायगढ़ गये। उसके बाद उन्होंने कलकत्ता, पूना और बम्बई के कार्यक्रमों में भाग लिया। जुलाई में उन्होंने यूरोपियन योग शिक्षकों के लिए एक महीने की गोष्ठी का संचालन किया। गुरु पूर्णिमा के दिन स्वामीजी ने गंगा दर्शन का प्रतिष्ठा समारोह के साथ उद्घाटन किया'।

'अक्तूबर में स्वामीजी ने ऑस्ट्रेलिया के आश्रम द्वारा आयोजित विश्व योग सम्मेलन की अध्यक्षता की। नवम्बर में वे कोलम्बिया गये। दिसम्बर में उन्होंने थाने के अखिल भारतीय योग सम्मेलन का उद्घाटन किया। बाद में ऑस्ट्रेलिया, स्पेन और अमेरिका से आये हुए जिज्ञासुओं के एक बहुत बड़े समूह के लिए मुंगेर में क्रियायोग के एक विशेष सत्र का संचालन किया गया।'

'सन् 1979 के फरवरी, मार्च और अप्रैल में स्वामीजी सागर, भोपाल, जबलपुर, खामगाँव, बम्बई, पूना, बंगलोर, सिकन्दराबाद, राजनाँदगाँव, रायपुर, संबलपुर और रायगढ़ के योग कार्यक्रमों का संचालन करते हुए मुंगेर लौट आये। मई में वे बम्बई होते हुए सिंगापुर और ऑस्ट्रेलिया गये। लौटने

पर उन्होंने पटना योग सम्मेलन का सभापतित्व किया। जून में स्वामीजी ने कोलम्बिया के मेडेयिन में योग कार्यक्रम का संचालन किया। जुलाई में उन्होंने बिलासपुर में गुरु पूर्णिमा के अवसर पर आयोजित किये गये कार्यक्रम की अध्यक्षता की।'

'जुलाई, अगस्त और सितम्बर में स्वामीजी ने सिंगापुर, एथेन्स, बार्सिलोना, जिनाल, कोपेन हेगेन, पेरिस और लंदन में योग कार्यक्रमों का संचालन किया। उसके बाद उन्होंने बेलफास्ट योग केन्द्र द्वारा आयोजित अन्तर्राष्ट्रीय योग सम्मेलन की अध्यक्षता की। वहाँ से वे यूरोपियन यूनियन ऑफ नेशनल फेडरेशन ऑफ योग द्वारा जिनाल में प्रायोजित किये गये पाँचवें अन्तर्राष्ट्रीय सप्ताह में उपस्थित हुए प्रतिनिधियों को सम्बोधित करने गये।'

'सन् 1979 में गंगा दर्शन का निर्माण कार्य पूरे जोर-शोर से चल रहा था। निर्माण कार्य की देख-रेख के लिए अधिकतर संन्यासी वहीं रहने लगे थे।'

'सन् 1980 में स्वामीजी ने मुंगेर में एक महीने का योग शिक्षक प्रशिक्षण सत्र प्रारम्भ किया ताकि सामाजिक स्तर पर योग के मौलिक अभ्यासों का प्रचार हो सके। जनवरी में उन्होंने उड़ीसा में बालांगीर आश्रम का उद्घाटन किया और बालांगीर तथा कहलगाँव के योग सम्मेलनों का सभापतित्व किया। अप्रैल-मई में स्वामीजी ने यूरोप की यात्रा की, जहाँ वे एथेन्स, रोम, फ्रैंकफर्ट वियना, ज्युरिक, ब्रसेल्स, कोपेनहेगेन, स्टॉक होम, पेरिस, बार्सिलोना और लंदन गये। जुलाई में उन्होंने सतना में आयोजित गुरुपूर्णिमा के समारोह की अध्यक्षता की। अगस्त-सितम्बर में वे यूरोप लौट गये जहाँ उन्होंने फ्रांस के शमारंदे शहर में आयोजित अन्तर्राष्ट्रीय योग गोष्ठी का संचालन किया। उसके बाद उन्होंने यूरोपियन यूनियन ऑफ नैशनल फेडरेशन ऑफ योग द्वारा प्रायोजित छठे अन्र्तराष्ट्रीय योग सप्ताह के प्रतिनिधियों को सम्बोधित किया। फिर उन्होंने स्पेन के अनेक प्रमुख नगरों में योग कार्यक्रमों का संचालन किया। अक्तूबर में स्वामीजी ने कोलम्बिया के अन्तर्राष्ट्रीय योग सम्मेलन की अध्यक्षता की। नवम्बर में उन्होंने बिहार के बरियारपुर में आयोजित जिला योग सम्मेलन का उद्घाटन किया।'

'सन् 1981 की जनवरी, फरवरी और मार्च में स्वामीजी ने बम्बई के साथ-साथ दक्षिण भारत के मद्रास, मदुरई, नेवेली और हैदराबाद के कार्यक्रमों का संचालन किया। बाद में वे पटना, दिल्ली, गाजियाबाद और भोपाल होते हुए रायपुर गये जहाँ उन्होंने भिलाई स्टील प्लांट योग सम्मेलन का उद्घाटन

किया। अप्रैल में वे यूरोप गये और उन्होंने इटली में एक योग गोष्ठी का संचालन किया। उसके बाद उन्होंने ग्रीस के सत्यानन्द आश्रम द्वारा आयोजित 'योग और स्वास्थ्य' पर आधारित प्रथम पैनहैलेनिक सम्मेलन की अध्यक्षता की। भारत लौटने पर उन्होंने भागलपुर के इंजीनियरिंग कॉलेज में आयोजित योग के कार्यक्रम का संचालन किया।'

'सन् 1981 की जुलाई में स्विट्जरलैण्ड, कोलम्बिया, ब्राजील एवं इटली के योग के शिक्षार्थी एक साधना सत्र के लिए मुंगेर आये, जो जबलपुर में गुरु पूर्णिमा के समारोह के साथ सम्पन्न हुआ। समारोह की अध्यक्षता स्वामीजी ने की। तत्पश्चात् स्वामीजी यूरोप की यात्रा पर गये, जहाँ उन्होंने फिनलैण्ड, फ्रांस, बेल्जियम और इटली में योग के कार्यक्रमों का संचालन किया। नवम्बर में उन्होंने सिंगापुर आश्रम का उद्घाटन किया और दिसम्बर में दक्षिण अमेरिका की यात्रा पर गये।'

'मई, 1982 में स्वामीजी ने जापान, अमेरिका और दक्षिण अमेरिका की यात्रायें कीं। जापान में वे टोक्यो गये जहाँ उन्होंने योग और उससे सम्बन्धित शोध के विषय में डॉ. हिरोशी मोतोयामा से बातें कीं। उसके बाद उन्होंने क्योतो, नागासाकी और हिरोशिमा में योग पर व्याख्यान दिये। उन्होंने अमेरिका के लॉस ऐन्जिल्स और सेन फ्रांसिस्को में आयोजित कार्यक्रमों का संचालन किया। बाद में वे मेडेयिन गये जहाँ उन्होंने सान ऑग्स्टीन के प्राचीन सांस्कृतिक स्थलों को देखा। वहाँ की पुरातात्त्विक शिल्पकृतियाँ पूर्व-कोलम्बिया संस्कृति में तान्त्रिक मूल के होने का संकेत देती हैं। वहाँ से साँतो दोमिन्गो जाकर उन्होंने योग सम्मेलन का उद्घाटन किया। वहाँ टेलीविजन पर भी उनके योग के कार्यक्रम हुए।'

'जुलाई में गुरु पूर्णिमा का उत्सव गंगा दर्शन में मनाया गया और इस अवसर पर स्वामीजी ने सात मंजिले मुख्य भवन की आधारशिला उस पहाड़ी के शिखर पर रखी। यही भवन भविष्य में आने वाली पीढ़ियों के लिए एक प्रदीप स्तम्भ के समान रहेगा।'

'अगस्त-सितम्बर में स्वामीजी अमेरिका की यात्रा पर गये और वहाँ उन्होंने निम्नलिखित स्थानों पर योग पर व्याख्यान दिये–एलिजाबेथ, न्यू जर्सी; मौनरो, न्यूयॉर्क; शार्लेतेस्विले, वर्जीनिया; वाशिंगटन डी. सी.; एन आर्बर, मिशिगन; डेनवर, कोलोराडो; लॉस ऐन्जिल्स, ओजाइ, सेन होसे एवं सेन फ्रांसिस्को, कैलिफोर्निया और न्यूयॉर्क नगर। उसके बाद वे यूरोप गये

जहाँ उन्होंने इटली, स्पेन, इंग्लैण्ड, फ्रांस, स्विट्जरलैण्ड, यूगोस्लाविया एवं ग्रीस में विभिन्न कार्यक्रमों का संचालन किया।'

'अक्तूबर में स्वामीजी ने भारत वापस आकर दिल्ली, धनबाद, राजनाँदगाँव, आठनेर, आगरा, गोंदिया और सम्बलपुर में कार्यक्रम किये। नवम्बर-दिसम्बर में वे सैंटो डोमिंगो होते हुए अन्तर्राष्ट्रीय योग शिक्षक संगठन के सम्मेलन के लिए प्यूर्टोरिको गये। वहाँ से वे पहले प्वांतेअ-पित्रे और फिर मेडेयिन गये। दिसम्बर में भारत आकर उन्होंने थाने के राष्ट्रीय योग सम्मेलन का उद्घाटन किया।'

एक स्वामी ने उत्सुकतावश पूछा, 'स्वामीजी ने अपने मिशन-त्याग का निर्णय कब लिया और उन्होंने अपने उत्तराधिकारी का चुनाव किस प्रकार किया?'

स्वामी निरंजनानन्द ने बताया, 'जब स्वामीजी को यह अनुभव हुआ कि गुरु के प्रति उनका कर्तव्य पूरा हो चुका है तब उन्होंने अपने मिशन-त्याग का निर्णय लिया। स्वामीजी का जीवन 20-20 वर्ष के चक्रों में बँटा हुआ है। सन् 1923 में स्वामीजी का जन्म हुआ, 1943 में वे अपने गुरु के आश्रम गये, 1963 में उन्होंने इस आश्रम की स्थापना की और 1983 में उन्होंने सम्पूर्ण कार्यभार मुझे सौंप दिया। कार्यभार सौंपने के बाद भी पाँच वर्ष तक वे आश्रम में रहे, क्योंकि मुझे उनके मार्गदर्शन की आवश्यकता थी। हालाँकि इन पाँच वर्षों में वे अधिकतर एकान्त में ही रहे।'

'जब स्वामीजी नवम्बर 1982 में अन्तर्राष्ट्रीय योग शिक्षक सम्मेलन के लिए प्यूर्टोरिको गये थे तो मैं भी उनके साथ था। वहाँ उन्होंने मुझसे पूछा था, "क्या तुम भारत आना चाहोगे?" मैंने तुरन्त कहा था, "मैं वापस नहीं जाना चाहता हूँ, किन्तु यदि यह आपकी इच्छा है तो मुझे वापस जाने से कोई नहीं रोक सकता।" उन्होंने पूछा, "तुम वापस क्यों नहीं आना चाहते?" मैंने कहा, "मैं वहाँ क्या करूँगा? मैं विश्व के उस भाग में रहना चाहता हूँ जहाँ आप सशरीर उपस्थित नहीं हैं, और वहाँ रह कर मैं आपकी अनुपस्थिति में आपके कार्यों को आगे बढ़ाते हुए आपकी सेवा करना चाहता हूँ।" उन्होंने कहा, "ठीक है।" और इसके बाद इस विषय पर कोई बात नहीं हुई। कुछ दिनों बाद वे भारत लौट आये और मैं अमेरिका।'

'एक महीने की यात्रा के बाद जब मैं वापस अपने आश्रम पहुँचा तो एक तार मेरी प्रतीक्षा कर रहा था। तार में लिखा था, "16 जनवरी तक मुंगेर पहुँचो।" यह आदेश पाते ही मैंने आश्रम बन्द किया और 14 जनवरी को चल

पड़ा। 16 जनवरी को मैं गंगा दर्शन पहुँच गया। मैंने समझा था कि मैं यहाँ कुछ दिनों के लिए आया हूँ और जल्दी ही वापस चला जाऊँगा। 19 जनवरी को बिहार योग विद्यालय की कार्यकारिणी समिति की बैठक थी। स्वामीजी ने मुझे उस बैठक में बुलाया और कहा, "आज से बिहार योग विद्यालय का उत्तरदायित्व तुम्हारे ऊपर है और तुम इसके अध्यक्ष हो।" मुझे लगा कि मैं बेहोश हो जाऊँगा, किन्तु मुझे अपने गुरु का आदेश मानना था। तब मैंने स्वामीजी से निवेदन किया कि वे यहाँ तब तक रुके रहें जब तक मुझे अपने सभी उत्तरदायित्वों की जानकारी नहीं हो जाती। उन्होंने कहा, "ठीक है, चूँकि तुम आग्रह कर रहे हो, इसलिए मैं कुछ समय के लिए रुकूँगा, अन्यथा मैं आज ही आश्रम छोड़कर चला जाता।"

एक स्वामी ने आश्चर्य व्यक्त करते हुए कहा, 'एक गुरु द्वारा अपने जीवन-काल में ही अपने उत्तराधिकारी का चुनाव कर लेना बड़ा विचित्र मालूम पड़ता है। ऐसा उन्होंने क्यों किया? अपने जीवन में उन्होंने आमूल परिवर्तन कर लिया था। उस परिवर्तित स्थिति के साथ उन्होंने स्वयं को किस प्रकार समायोजित किया?'

स्वामी निरंजनानन्द ने समझाते हुए बताया, 'अधिकतर गुरु और आध्यात्मिक प्रणेता आजन्म अपने पदों पर बने रहते हैं, क्योंकि उन्हें अपने मिशन और कार्यों के प्रति आसक्ति हो जाती है, किन्तु स्वामीजी के साथ ऐसी बात नहीं थी। अपने जीवन के प्रति उनका दृष्टिकोण अत्यन्त स्पष्ट था और वे हमेशा हम लोगों से कहा करते थे, "एक गुरु बनना, शिष्य बनना, किसी विशेष लक्ष्य के लिए कार्य करते रहना, मैंने इन उद्देश्यों के लिए संन्यास नहीं लिया था। मेरा उद्देश्य था, दिव्यता का अन्वेषण करना। मैं अपने कर्मों का क्षय करने के लिए यह सब कर रहा हूँ। जब मैं तैयार हो जाऊँगा, तब मेरी नियति मेरा मार्गदर्शन करेगी।"

'स्वामीजी आश्रम में तो रहते थे, किन्तु उन्होंने स्वयं को आश्रम के प्रबन्ध कार्यों से अलग कर लिया था। फिर भी उनकी यात्राएँ चलती रही थीं। सन् 1983 के फरवरी-मार्च में वे इंगलैण्ड, फ्रांस, इटली, स्विट्जरलैण्ड और स्पेन गये। अप्रैल-मई में उन्होंने ऑस्ट्रेलिया की यात्रा की। जुलाई में रायपुर में होने वाले गुरु पूर्णिमा उत्सव को सुशोभित किया।'

'सन् 1983 में गंगा दर्शन में मुख्यत: निर्माण कार्य ही चलता रहा। छापाखाने की दूसरी मंजिल पर और रसोईघर के पास तीन मंजिलों का

आवासीय भवन तैयार हो गया। छापाखाने को उसके मूल स्थान, शिवानन्द आश्रम से उठाकर गंगा दर्शन में उसके लिए तैयार किये गये भवन में स्थापित किया गया। मुख्य भवन का आधार भी तब तक बन चुका था।'

'सन् 1984 में अप्रैल से अगस्त तक स्वामीजी यूरोप की यात्रा पर रहे। ग्रीस की यात्रा के क्रम में उन्होंने क्रीट द्वीप के हानिया, रेथिम्नो और इराक्लिया तथा मुख्य द्वीप के थेसालोनिकी, रोड्स, मिटिलिनी, ऐलेक्जेंड्रोपोलिस एवं एथेन्स में व्याख्यान दिये। वे सिओको में हुए इटैलियन योग फेडरेशन के वार्षिक सम्मेलन के मुख्य अतिथि थे। वहाँ से फ्रांस जाकर उन्होंने तूलौन के आश्रम का उद्घाटन किया। एथेन्स के ग्रीक आश्रम में आयोजित गुरु पूर्णिमा के कार्यक्रम में उन्होंने अध्यक्षता की। तत्पश्चात् पूरे फ्रांस में उन्होंने गोष्ठियों और स्विट्जरलैण्ड में एक गहन साधना सत्र का संचालन किया।'

'सन् 1984 के अक्तूबर में स्वामीजी की प्रेरणा से बिहार योग विद्यालय से सम्बद्ध दो संस्थाओं की स्थापना की गयी–शिवानन्द मठ, एक दातव्य संस्था तथा योग अनुसन्धान संस्थान। योग के केवल आध्यात्मिक पक्ष का विकास ही आवश्यक नहीं, बल्कि उसके सामाजिक और वैज्ञानिक पक्ष का विकास भी नितान्त आवश्यक है। इसी दृष्टिकोण के साथ सामाजिक विकास के लिए शिवानन्द मठ और नियन्त्रित प्रयोगशाला परीक्षणों द्वारा योग की वैज्ञानिक प्रभावोत्पादकता प्रमाणित करने के लिए योग अनुसन्धान संस्थान की स्थापना की गयी।'

'सन् 1985 में स्वामीजी अपने भक्तों और शिष्यों को दर्शन, दीक्षा और सत्संग देते रहे। सन् 1986 में वे कम ही बाहर निकले, अधिकतर एकान्त में ही रहे। प्रारम्भ में वे पन्द्रह दिनों पर लोगों से मिला करते थे। धीरे-धीरे एकान्तवास की अवधि बढ़ती गयी, बढ़ते-बढ़ते यह अवधि महीनों लम्बी हो जाती।'

'सन् 1987 की वसन्त पंचमी से स्वामीजी गंगा दर्शन की सबसे ऊपर की मंजिल पर रहने लगे। वहीं से पूरे आश्रम का अवलोकन करते और सब के प्रेरणा-स्रोत बने रहते। उनकी साधना के साथ उनका एकान्तवास चलता रहा। उन्होंने अतिथियों और संन्यासियों से मिलना कम कर दिया था। इस वर्ष उन्होंने न तो किसी बाहर के कार्यक्रम में भाग लिया और न ही कहीं यात्रा पर गये, पूरा वर्ष उन्होंने आश्रम में ही व्यतीत किया। इस वर्ष उन्होंने गंगा दर्शन में गुरु पूर्णिमा के समारोह की अध्यक्षता भी की। इस अवसर पर हजारों भक्त और शिष्य उनके दर्शन के लिए आये।'

'जुलाई 1988 में स्वामीजी ने अन्तिम बार गुरु पूर्णिमा के उत्सव की अध्यक्षता की। इस कार्यक्रम में उन्होंने स्वयं नृत्य एवं कीर्तन कर अपने भक्तों को आह्लादित कर दिया। अगस्त में उन्होंने भारत के सिद्ध तीर्थ स्थलों की लम्बी यात्रा के लिए आश्रम से प्रस्थान किया। उन्होंने किसी को भी अपने इस प्रयाण की जानकारी नहीं दी थी।'

एक स्वामी ने जिज्ञासा प्रकट की, 'क्या स्वामीजी ने आपको भी अपने इस संभावित प्रयाण के विषय में नहीं बताया था?'

स्वामी निरंजनानन्द ने उसे बताया, 'स्वामीजी ने 7 अगस्त को आश्रम छोड़ने का निर्णय लिया। हममें से कुछ लोगों को उन्होंने बुलाया और कहा कि अगली सुबह वे आश्रम छोड़ कर जा रहे हैं। मैं सारी रात अपने कमरे में चहलकदमी करता रहा और यह प्रार्थना करता रहा कि अब सूर्योदय हो ही नहीं। मैं यह सोच-सोच कर बेचैन था कि इन परिव्रजनशील योगी को जाने से कैसे रोकूँ, कैसे रोकूँ एक प्रवाहमान नदी के प्रवाह को।'

'सुबह में, जब मैं स्वामी जी से मिलने गया तो उन्होंने कहा "नमो नारायण, मैं जा रहा हूँ।" मैंने उनसे उनकी यात्रा के लिए कुछ प्रबन्ध करने के लिए पूछा तो उन्होंने मना कर दिया। मिशन के विषय में उन्होंने कहा, "यदि इन कार्यों की भली-भाँति देखभाल करने में सक्षम रहे तो मिशन आगे बढ़ता जायेगा। यदि तुम ऐसा नहीं कर सकते हो तो यह कार्य ऐसे व्यक्ति को सौंप दो जो सक्षम हो।" बस, इतना कह कर वे चले गये।'

एक स्वामी ने, जो पीछे बैठा था, पूछा 'स्वामीजी के साथ आपके अनेक अनुभव हैं। उनकी ऐसी कौन-सी विशेषता है जिसने आपको सर्वाधिक प्रेरित किया है?'

स्वामी निरंजनानन्द ने बताया, 'मुझे सबसे अधिक प्रेरित करने वाली उनकी विशेषता थी उनके अन्दर शाश्वत रूप से बसी शिष्यत्व की भावना। बाहर से तो वे एक गुरु थे, किन्तु अपने मन में और हृदय में वे कभी गुरु नहीं थे। उन्होंने गुरु की भूमिका का निर्वाह हम लोगों के लिए किया था, अपने लिए नहीं। उन्होंने कभी अपनी महत्ता का प्रदर्शन नहीं किया। उन्हें कभी ऐसा नहीं लगा कि वे कितने महान् या कितने विद्वान् हैं, वे तो सदा जिज्ञासु ही बने रहे। उन्होंने स्वयं को ऐसी स्थिति में नहीं पहुँचने दिया जहाँ पहुँच कर उन्हें लगे कि वे सब कुछ जानते हैं। उन्होंने हमेशा हम लोगों की जिज्ञासाओं की पूर्ति की, किन्तु उनका अन्तर सदा अन्वेषण में लगा रहा, कुछ-न-कुछ

खोजता रहा। उनमें सदा एक महत्तर यथार्थ के साथ समस्वरता बनी रहती, यह उनकी अद्भुत विशेषता है। अपने हृदय की सरलता के कारण ही वे अपने गुरु, अपने इष्ट देव, अपने ईश्वर के साथ सीधा सम्पर्क बना लेते थे और इसके द्वारा उन्हें सदा निश्चित दिशायें प्राप्त हो जाती थीं।'

'स्वामीजी को अपनी उपलब्धियों के विषय में इतना दृढ़ विश्वास था, मानो जन्म के समय से ही उनका मार्ग निश्चित था। और उन्हें यह ज्ञात था कि उन्हें कहाँ जाना है। हम कह सकते हैं, "चलो देखते हैं भाग्य में क्या लिखा है", लेकिन उन्होंने ऐसा कभी नहीं कहा। न तो उनके विचारों की कोई सीमा थी और न ही उनके जीवन की। अधिकतर लोगों के मन में उनके लिए अगाध श्रद्धा और स्नेह रहा है, भले ही कुछ लोगों ने उन्हें नापसन्द या अस्वीकार भी किया हो। उनका स्वभाव ऐसा था कि हर मिलने वाले में वे केवल उसकी अच्छाइयों को ही देखते थे। वे कहा करते थे कि जब उन्हें बुराइयों और अवगुणों से भरे हुए व्यक्ति के अन्दर एक भी गुण दिखाई पड़ जाता है तो वे उसके उस गुण को ही विकसित करने की कोशिश करते हैं और उसके अवगुणों को भूल जाते हैं।'

'स्वामीजी हर प्रकार से व्यावहारिक थे। वे जीवन में मिलने वाले सम्मान और अपमान से प्रभावित हुए बिना ही उन्हें स्वीकार करते। उन्हें इस बात की चिन्ता नहीं रहती कि उनकी छवि, उनका मिशन या उनका जीवन कलंकित होगा। वे कभी अतीत में नहीं जीते थे, बल्कि सदा वर्तमान के प्रति सजग रहते थे। जो घटित है, जो घट रहा है और जो संभावित है–इन सब के प्रति उनका दृष्टिकोण अत्यन्त स्पष्ट था। उन्होंने अपना जीवन तो देखा ही था, प्रत्येक व्यक्ति का जीवन उनके सम्मुख एक बिसात की तरह बिछा हुआ रहता था।'

'ये उनकी कुछ विशेषताएँ हैं, जो मैंने देखी हैं। किन्तु यदि मैं उनकी एक-एक बात को स्मरण करने का प्रयास करूँ तो वह एक अन्तहीन कथा बन जायेगी। अब इस सभा को यहीं विसर्जित करने का समय आ गया है, किन्तु हम पुन: मिलेंगे–गुरुदेव के भावी मिशन की जानकारी को एक मोती की तरह उनकी कथा-माला में पिरोने के लिए।'

उड़ रहा है हंस मेरा उड़ रहा,
युगों-युगों से पंख खोले
खोजता अपना बसेरा।
उड़ रहा।

उड़ रहा है हंस मेरा उड़ रहा।
विश्व के सब ज्ञानियों से सीखकर विज्ञान भी,
देवताओं का हृदय में धारकर वरदान भी,
उड़ रहा बेचैन होकर तीन लोकों का चितेरा,
उड़ रहा।
उड़ रहा है हंस मेरा उड़ रहा।
उड़ रहा और उड़ता जा रहा अविराम है,
देखता लीला जगत् की भोग से उपराम है,
जा रहा है प्रिय-मिलन को नील नभ में वह अकेला।
उड़ रहा है हंस मेरा उड़ रहा।

–स्वामी सत्यानन्द सरस्वती

संक्रमण

स्वामीजी के जीवन का अगला अध्याय धीरे-धीरे प्रकाश में आ रहा था। उनकी यात्राओं और उनके नये मिशन के समाचार आश्रम पहुँचने लगे थे। एक शाम सत्संग के समय एक प्रशिक्षु संन्यासी ने स्वामी निरंजनानन्द से अनुरोध किया, 'कृपया हमें स्वामीजी के जीवन के उस पक्ष के विषय में बतायें जब वे गुरु की भूमिका और अपने मिशन का त्याग कर चुके थे। वे परमहंस कैसे बने?'

कुछ क्षण शान्त बैठे रहने के पश्चात् स्वामी निरंजनानन्द ने बोलना प्रारम्भ किया। 'संन्यास का उद्‌देश्य केवल दीक्षा लेना और गेरू वस्त्र पहनना नहीं है। यह ऐसी अन्तहीन प्रक्रिया है जिसमें समस्वरता, पूर्णता और सार्वभौमिक एकता की उपलब्धि निहित है। यदि एक परमहंस अपने अन्वेषण के प्रति निष्ठावान् है तो उसे अपने गुरु के निर्देश के अनुसार विभिन्न प्रकार की अनेक गहन साधनाएँ करनी पड़ती हैं। परमहंस के द्वारा की जाने वाली साधना कभी लिखित निर्देशों के रूप में प्राप्त नहीं होती। यह परम्परा के माध्यम से मानसिक स्तर पर संचारित होती जाती है। इसमें यौगिक साधना की तरह यम-नियम से लेकर समाधि तक की प्रक्रियाओं और अवस्थाओं की व्याख्या नहीं की जाती है। इन यौगिक साधनाओं को हम जैसे सामान्य व्यक्तियों के लिए

परिभाषित किया जाता है, लेकिन जैसे-जैसे मन और चेतना का विकास होता है, कर्मों का क्षय होता है तथा हम स्वयं को प्रकृति की महत्तर विशेषताओं एवं पदार्थों के प्रति उन्मुख करते हैं तो साधना और जीवन-शैली में एक विशेष परिवर्तन आता है।'

एक शिक्षार्थी ने पूछा, 'क्या कारण है कि आज के अधिकतर संन्यासी परमहंस की अवस्था को प्राप्त नहीं कर सकते हैं?'

स्वामी निरंजनानन्द ने उसका उत्तर दिया, 'अनेक विलक्षण संन्यासी हुए हैं, जैसे स्वामी विवेकानन्द, स्वामी शिवानन्द तथा अन्य जो आज भी इस संसार में हैं। उनकी अनेक उपलब्धियों और ज्ञान के बावजूद अपने कर्मों के कारण वे स्वयं को वैराग्य संन्यास की अवस्था से परमहंस संन्यास की अवस्था में संक्रमित नहीं कर पाये। स्वामी विवेकानन्द इसके उदाहरण हैं। रामकृष्ण के स्पर्श मात्र से उन्हें ईश्वर के दर्शन प्राप्त हुए, किन्तु एक सामान्य मनुष्य की तरह उन्हें अपने मिशन के लिए अत्यधिक संघर्ष करना पड़ा।'

'यद्यपि स्वामीजी के जीवन में अवस्थाओं का जो संक्रमण हुआ वह अप्रत्याशित था, फिर भी वह एक प्राकृतिक सहजता के साथ हुआ। आश्रम की स्थापना के प्रारम्भिक दिनों में, सन् 1963–65 के बीच वे कहा करते थे, "आश्रम मेरा जीवन नहीं, योग मेरा लक्ष्य नहीं, ये सब अगली अवस्था में प्रवेश करने के साधन हैं।" इसलिए अन्ततः अपने अन्तर की पुकार और अपने इष्ट देवता के निर्देशों पर स्वामीजी ने सब कुछ त्याग दिया।'

'एक वर्ष तक प्रमुख तीर्थ स्थानों का भ्रमण करने के पश्चात् वे ऋषिकेश पहुँचे, जहाँ कुछ सप्ताह तक रहे। वहाँ वे एक गुरु नहीं, बल्कि शिष्य के रूप में रहे। प्रारम्भ में उनके गुरु भाइयों–स्वामी चिदानन्द, स्वामी कृष्णानन्द एवं स्वामी माधवानन्द ने उन्हें नहीं पहचाना। स्वामीजी के कुछ शिष्य भी वहाँ रह रहे थे, किन्तु उन लोगों ने भी उन्हें नहीं पहचाना। उन्होंने जीवन में अपनी भूमिका और अपने दृष्टिकोण को परिवर्तित कर स्वयं को एक गुरु से साधक और शिष्य बना लिया तथा एक अज्ञात व्यक्ति की तरह इधर-उधर घूमते रहे।'

एक स्वामी ने पूछा, 'स्वामीजी किन-किन तीर्थ स्थानों पर गये? क्या उन सब का कोई विशेष महत्त्व था?'

स्वामी निरंजनानन्द ने बताया, 'हाँ था। जब स्वामीजी ने अपने गुरु का मिशन छोड़ने के बाद नौ वर्षों तक सम्पूर्ण भारत का भ्रमण किया और सभी तीर्थ स्थानों के दर्शन किये तो उसी समय उन्होंने एक संकल्प किया

था कि जब उनके जीवन का उद्देश्य पूरा हो जायेगा तो वे स्वयं को उनके प्रति पूर्णतया समर्पित करने पुन: उन तीर्थों के दर्शन करेंगे। इसलिए मुंगेर छोड़ने के बाद स्वामीजी ने अपनी तीर्थ यात्रा प्रारम्भ की। कभी-कभी वे अपनी यात्रा का संक्षिप्त वृत्तान्त हम लोगों को लिख भेजते, जिसे हम अपनी पत्रिकाओं में प्रकाशित करते ताकि स्वामीजी के परिचितों को उनकी यात्रा से अवगत कराया जा सके।'

'सितम्बर, 1988 में वे काशी विश्वनाथ, विन्ध्यवासिनी तथा संकटमोचन के दर्शनों के लिए गये। तत्पश्चात् उन्होंने संगम-स्नान किया। काठमाण्डू में पशुपतिनाथ को अपना नमन अर्पित कर वे वैष्णव देवी गये। उसके बाद उन्होंने हरिद्वार के ब्रह्म कुण्ड में स्नान किया। वहाँ से वे यमुनोत्री, गंगोत्री, केदारनाथ और बद्रीविशाल के दर्शनों के लिए गये। अन्त में वे ऋषिकेश के शिवानन्द आश्रम आये।'

'अक्तूबर में वे देवघर के पास वासुकीनाथ गये जहाँ उन्हें स्वप्न में फन फैलाए हुए एक सर्प का दर्शन हुआ जो उनके गले में लिपटा हुआ था। स्वप्न में ही उन्होंने स्पष्ट आदेश सुना, "चक्रवर्ती बनो।" वहाँ से वे कामाख्या गये जहाँ उन्होंने नवरात्रि का अनुष्ठान किया और दशमी के दिन देवी-स्वरूपा कन्या के चरणों का अनुष्ठानपूर्वक प्रक्षालन कर उनकी पूजा की। बाद में कुछ दिनों के लिए वे कलकत्ता गये। यहाँ काली घाट पर उन्हें माँ काली के दर्शन हुए जो काल और नियति की निहंत्री हैं।'

'नवम्बर में वे जगन्नाथपुरी गये। वहाँ मन्दिर-परिसर में पेड़ों की झुरमुट में घण्टों बैठे रहे, जहाँ उन्हें अतीन्द्रिय अनुभव हुए। वहाँ से वे खजुराहो गये और चंदेल राजाओं द्वारा प्रतिष्ठापित शिव से प्रार्थना की। यहाँ उन्हें अनुभव हुआ कि मन्दिर की दीवारों पर उत्कीर्ण मूर्तियाँ सृजन की प्रक्रिया की उदात्त और भव्य प्रतीक हैं जो जीवन के प्रत्येक पक्ष को ईश्वर तक पहुँचने का साधन मान कर उन पर प्रकाश डालती हैं।

उनका अगला पड़ाव चित्रकूट में था, जहाँ श्री राम ने सीता और लक्ष्मण के साथ जीवन-लीलायें कीं। यहीं, चित्रकूट के घाट पर संत तुलसीदास ने चंदन घिस कर अपने इष्ट देव श्रीराम को तिलक लगाया था, जब वे मानव रूप में प्रकट हुए थे और इसी स्वर्गिक दृश्य का सुख उठाने के लिए वहाँ संतों की भीड़ लगी थी। बाद में उन्होंने मैहर जाकर शारदा देवी के दर्शन किये, जो विद्या, संगीत और कला की अधिष्ठात्री देवी हैं।'

‘दिसम्बर में उन्होंने अमरकंटक की यात्रा की जो अमर्त्यों का वन कहा जाता है और जहाँ तपस्वी-ऋषि-मुनि अनंतकाल से साधना करते आये हैं। यहाँ उन्होंने नर्मदा-उद्गम पर और फिर कपिलधारा में स्नान किया जहाँ नर्मदा का बर्फ जैसा सर्द पानी पूरी उन्मुक्तता के साथ गिरता है। वहाँ से वे उज्जैन गये जिसे आदिकाल से एक धार्मिक नगर माना गया है। उज्जैन में उन्होंने महाकालेश्वर शिव के स्वयंभू ज्योतिर्लिंग का भस्म अभिषेक किया। फिर वे काल भैरव के मन्दिर गये, वहाँ उन्होंने अपने आध्यात्मिक मद को यह कह कर अर्पित कर दिया कि इसके अतिरिक्त देने को उनके पास कुछ और शेष नहीं था।’

‘मध्य दिसम्बर में उज्जैन से वे ओंकारेश्वर गये, जो नर्मदा के तट पर ‘ॐ’ के आकार का एक छोटा-सा द्वीप है। यहीं की एक गुफा में आदि शंकराचार्य ने गुरु गोविन्दपाद से दीक्षा ग्रहण की थी और बाद में उफनती हुई नर्मदा को अपने कमण्डल में समेट कर श्रद्धा और विश्वास को एक जीवन्त अनुभव में परिणत कर दिया था। जब स्वामीजी करबद्ध होकर गुफा में खड़े थे तो अपने अन्दर से उन्हें एक आवाज सुनाई पड़ी, “तुम क्या चाहते हो? जो माँगो, वही मिलेगा।” भावुक होकर उन्होंने संस्कृत में उत्तर दिया, “दिग्विजय–नहीं, अमरत्व–असम्भव, उन्नति–पर्याप्त हो चुकी, मोक्ष–वह तो मेरे अन्दर है। मैं तो यहाँ केवल अपना वचन पूरा करने आया हूँ जो वर्षों पहले मैंने दिया था कि जब मेरा कार्य पूरा होगा तो मैं पुन: आऊँगा।” फिर एक गुफा के गर्भ में जाकर उन्होंने ओंकारेश्वर के ज्योतिर्लिंग के दर्शन किये, उसे देखकर उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ मानो सहस्रार अद्भुत प्रदीप्ति से जगमगा उठा हो। उसके बाद वे दतिया के पीतांबरी शक्तिपीठ गये जहाँ वे अपने परिव्राजक जीवन के तीसरे तान्त्रिक गुरु के साथ चार दिनों तक रहे थे।’

‘जनवरी 1989 के प्रारम्भ में वे ब्रज और मथुरा गये जहाँ उन्होंने राधा-कृष्ण की लीलायें अनुभव कीं। वे वृंदावन, गोकुल और बरसाना भी गये। यहाँ महान् संत देवराहा बाबा के दर्शन हुए। इसके बाद वे इलाहाबाद में कुम्भ के मेले में गये, जहाँ उन्होंने 14 जनवरी, मकर संक्राति और 6 फरवरी, सोमवती अमावस्या के दिन स्नान पर्व में भाग लिया। संगम के पवित्र जल ने उन्हें रोमान्चित कर दिया और तब उन्हें उस उक्ति की सत्यता का आभास हुआ कि संगम पर स्नान करने से मनुष्य का इसी जीवन में पुनर्जन्म होता है। यह वर्ष

विशेष रूप से मंगलकारी था, क्योंकि 172 वर्षों के बाद सोमवती अमावस्या और कुम्भ का योग हुआ था।'

'इस महत्त्वपूर्ण अवसर पर मैं भी स्वामीजी के साथ था, मुझे भी गंगा, यमुना और सरस्वती का दर्शन-लाभ हुआ। प्रत्येक संस्कृति, जाति और मत के लाखों भक्त लगातार वहाँ की धकमपेल में चले आ रहे थे, सब के मन में बस एक ही विचार था, प्रयाग का संगम-स्नान। श्रद्धा से ओतप्रोत इस मानव-समुद्र को देख कर एक अद्भुत विचार से साक्षात्कार हुआ – मानो श्रद्धा और आस्था जीवन्त हो उठी हों और तब हमें वह प्रेरणात्मक सिद्धान्त भी सत्यापित होता प्रतीत हुआ कि श्रद्धा और विश्वास में ऐसी शक्ति है जो पर्वत को भी हिला देती है।'

'जनवरी के मध्य में स्वामीजी तीन सप्ताह के लिए दतिया गये जहाँ उन्होंने पीताम्बरी पीठ में प्रतिष्ठित त्रिपुर सुन्दरी का अनुष्ठान किया। फरवरी में वे द्वितीय स्नान के लिए पुन: कुम्भ लौट आये। यहाँ से वे कटनी गये और वहाँ उन्होंने गुरु का चोला उतार कर परिव्राजक जीवन व्यतीत करने का संकल्प लिया। कटनी से वे द्वारका गये जहाँ श्री कृष्ण ने अपने सम्पूर्ण वृषणी वंश को मथुरा से लाकर बसाया था। उसके बाद वे सोमनाथ गये जो द्वादश ज्योतिर्लिंगों में से एक है। इसके विषय में कुछ किंवदंतियाँ हैं। कहा जाता है कि इस मन्दिर का निर्माण स्वयं सोमराज, अर्थात् चंद्रदेव द्वारा करवाया गया था।'

'मार्च में वे शिरडी गये जो महान् संत साईं बाबा की आध्यात्मिक शक्ति से स्पन्दित रहता है। वहाँ उन्होंने बाबा की समाधि के दर्शन किये और उनकी निरन्तर प्रज्वलित धुनि के पास बैठे। अप्रैल में उन्होंने महाबलेश्वर के ज्योतिर्लिंग के दर्शन किये। इस स्थल को पाँच नदियों-सावित्री, कृष्णा, वेण्या, कोयन और गायत्री – का उद्गम स्रोत माना जाता है। वे महाबलेश्वर के जंगलों में घण्टों घूमते रहे जो सुन्दर होने के साथ-साथ डरावने भी थे और इसीलिए बहुत कम लोग वहाँ जाने का प्रयास करते हैं।'

'मध्य अप्रैल में वे नासिक और त्र्यंबकेश्वर गये जहाँ गोदावरी नदी का उद्गम स्थल है। पंचवटी भी वहीं पर है, जहाँ श्री राम ने वनवास के ग्यारह वर्ष व्यतीत किये थे। स्वामीजी ने त्र्यंबकेश्वर में ज्योतिर्लिंग के दर्शन किये। यह ज्योतिर्लिंग अपने आप में अत्यन्त अनूठा है, एक पत्थर से तीन लिंग उद्भूत हुए हैं। यहाँ उन्होंने रुद्राष्टकम् मन्त्र के उच्चारण के साथ एक विशेष

पूजा की। बाद में मन्दिर की परिक्रमा कर वहाँ रह रहे अनेक महात्माओं के दर्शन किये।'

'मई के प्रारम्भ में उन्होंने भीमाशंकर की यात्रा की, यह प्रकृति में वापस लौटने जैसा अनुभव था। यहाँ का मन्दिर हरे-भरे वनों में छुपा हुआ, आधुनिक सभ्यता से अनछुआ-सा था। यह अत्यन्त प्राचीन मन्दिर है। अन्य तीर्थों के विपरीत यहाँ सीढ़ियों से नीचे उतरने के बाद ही भक्तों को ज्योतिर्लिंग के दर्शन होते हैं। यही वह स्थान है जहाँ भगवान् शिव ने त्रिपुरासुर का वध करने के बाद आराम किया था।'

'भीमाशंकर से वे घुश्मेश्वर गये। इस तीर्थ का नामकरण एक भक्त घुश्मा के नाम पर हुआ है। कहा जाता है कि अपनी अटूट भक्ति के लिए घुश्मा को वह ज्योतिर्लिंग एक वरदान के रूप में प्राप्त हुआ था। इसे शिवालय भी कहा जाता है, क्योंकि शिव ने उसे वचन दिया था कि वे सदा वहाँ निवास करेंगे। यह मन्दिर एलोरा की गुफाओं के पास स्थित है। अनेक वर्षों के बाद स्वामीजी वहाँ गये थे।'

'मध्य मई में वे नाथद्वारा गये, जो वल्लभ सम्प्रदाय का केन्द्र है और पुष्टिमार्गियों द्वारा अपनाये गये संस्कारों और अनुष्ठानों के लिए प्रसिद्ध है। नाथद्वारा में उन्हें भगवान् श्रीकृष्ण की उपस्थिति का आभास हुआ। नाथद्वारा से कुछ आगे कंक्रोली है जो पुष्टिमार्गियों का एक महत्त्वपूर्ण केन्द्र है। यहाँ उन्होंने द्वारिकाधीश की मूर्ति के दर्शन किये और मन्दिर-परिसर में घण्टों बैठकर स्थानीय बोली में कृष्ण के अनेक भजन सुने। यहाँ से स्वामीजी एकलिंगी के मन्दिर गये जहाँ लगभग सभी देवी-देवता स्थापित हैं। यहाँ के इष्टदेव हैं चतुरानन शिव, जो एक काले संगमरमर से उद्भूत हुए हैं। मन्दिर के गर्भ गृह में जाने के लिए पुजारी ने उन्हें विशेष वस्त्र दिये जिसे पहनकर उन्होंने एकलिंगी महाराज के दर्शन किये।'

'एकलिंगी से वे पुष्कर गये जिसे तीर्थों का गुरु माना जाता है। बिना इसके दर्शन के तीर्थयात्रा पूर्ण नहीं मानी जाती है। भारत में ब्रह्मा का एकमात्र मन्दिर यहीं स्थित है। पुष्कर झील और अगस्त्य कुण्ड में स्नान करने के बाद उन्होंने यहाँ के सुन्दर मन्दिर में जाकर ब्रह्मा जी के दर्शन किये और विशेष पूजा की। स्वामीजी पुष्कर से अजमेर गये और वहाँ उन्होंने ख्वाजा मोइनुद्दीन चिश्ती की दरगाह पर चादर चढ़ाई। इस दरगाह पर सभी धर्मों और जातियों के लोग बेझिझक आते हैं। यहाँ श्रद्धा और भक्ति से ओत-प्रोत होकर उन्होंने जप और ध्यान किया।'

'बाद में वे माउण्ट आबू गये। यहाँ उन्होंने दिलवारा के भव्य जैन मन्दिर में भगवान् महावीर की विशाल प्रतिमा के सम्मुख बैठ कर ध्यान किया। यहीं पर उन्हें त्यागभाव से आत्मानुसन्धान के पथ पर और आगे बढ़ते जाने की प्रेरणा मिली। वहाँ उन्होंने उस गुफा के दर्शन भी किये जहाँ दत्तात्रेय ने अनुष्ठान किये थे। अनेक वर्ष पूर्व जब स्वामीजी परिव्राजक के रूप में परिव्रजन करते हुए यहाँ आकर ठहरे थे तो उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ था कि भगवान् दत्तात्रेय स्वयं भविष्य के लिए दिशा निर्देश कर रहे हैं।'

'जून में उन्होंने ऋषिकेश, गंगोत्री और बद्रीनाथ की यात्रा के बाद अपना तीर्थाटन सम्पन्न किया। इस यात्रा में मैं भी उनके साथ था। अनेक संत और महात्मा स्वामीजी से मिले। उन्होंने गंगोत्री के बर्फीले पानी में और बद्रीनाथ के तप्त कुण्ड में स्नान किया।'

'उन्होंने मानस में सरस्वती उद्गम का दर्शन किया। वहाँ पर सरस्वती अपनी पूरी शक्ति के साथ पर्वत से प्रस्फुटित होती हैं, यह अत्यन्त मनोहारी और दर्शनीय दृश्य था।'

एक संन्यासी ने प्रश्न किया, 'इस आध्यात्मिक यात्रा के क्रम में ऐसा कौन-सा क्षण था जब स्वामीजी का भविष्य स्पष्ट हुआ?'

स्वामी निरंजनानन्द ने बताया, 'इन तीर्थस्थानों की यात्रा के बाद स्वामीजी चातुर्मास के लिए त्र्यंबकेश्वर गये। उन्होंने अपने इष्ट देव भगवान् मृत्युंजय की शरण में चातुर्मास व्यतीत करने का निश्चय किया था। जूना अखाड़ा के महन्त ने उन्हें नील पर्वत पर, जो स्वयं एक जाग्रत और सिद्ध स्थल है, ठहरने का निमन्त्रण दिया था। किन्तु उन्होंने पर्वत की तलहटी में एक गौशाला के 8×10 के कमरे में दो महीने रह कर साधना करना पसन्द किया।'

'अनेक वर्ष पूर्व त्र्यंबकेश्वर में ही उनका मिशन उनके सम्मुख उद्घाटित हुआ था। उसी समय उन्होंने योग के प्रचार-प्रसार के परिणामस्वरूप प्राप्त होने वाली उपलब्धियों का परित्याग कर भविष्य के लिए यहीं से निर्देश प्राप्त करने का संकल्प लिया था। त्र्यंबकेश्वर पहुँचकर वे तुरन्त मन्दिर गये। वहाँ उन्होंने अपने गेरु वस्त्र के साथ अपनी घड़ी भी उतार दी और उन्हें एक पोटली में बाँध कर उसे शिवलिंग के पास रख दिया और कहा, "ये मेरे वस्त्र और मेरी सम्पत्ति हैं। आपने एक विशेष उद्देश्य से मुझे यह सब दिया था, मैं उन उद्देश्यों को पूरा कर चुका हूँ, इसलिए यह सब आपको लौटा रहा हूँ।"

'इसके बाद वे नील पर्वत पर अकेले ही रहे। वहाँ वे अगले आदेश की प्रतीक्षा में साधनारत रहे। गुरु पूर्णिमा की आधी रात को भयंकर तूफान के साथ स्पष्ट आदेश मिला–"अपनी प्रत्येक श्वास और हृदय के प्रत्येक स्पन्दन के साथ अपने गुरु मन्त्र की अविच्छिन्न जागृति में पूर्णता लाओ। अब यही तुम्हारा मिशन है।"

'उनका मिशन तो स्पष्ट था, किन्तु स्थान का प्रश्न था, "इसे कहाँ पूरा किया जाये?" यह प्रश्न निरन्तर मन को उद्विग्न कर रहा था। अनेक स्थानों के नाम सामने आये, गंगा के तट पर गंगोत्री की एक सुन्दर गुफा, केदारनाथ की एक कुटिया, किन्तु उन्होंने अपने अन्तर से मिलने वाले अगले निश्चित निर्देश के मिलने तक अपने निर्णय को स्थगित रखा। 8 सितम्बर की मध्य रात्रि को उनकी नींद खुल गयी। चारों ओर नीरवता छाई हुई थी। आकाश निश्चल था, अष्टमी की चमकती किरणें कुटिया की छोटी-सी खिड़की से उद्भासित हो रही थीं। उन्होंने स्वयं को एक विचित्र प्रकाश में घिरा हुआ पाया और पुनः स्पष्ट आदेश प्राप्त हुआ–"मेरी श्मशान भूमि पर जाओ।"

'उस सुबह एक स्वामी मुंगेर से वहाँ पहुँची और स्वामीजी ने उसे पहला निर्देश यह दिया कि उनके लिए स्थान खोजा जाये। उन्हें उस स्थान की झलक दिखाई पड़ी थी, उन्होंने उसका वर्णन किया और उसकी स्थलाकृति बताई। वह संन्यासी वहाँ पहुँचने के तीन घण्टे के बाद ही स्वामीजी द्वारा वर्णित स्थान की खोज में चल पड़ी।

12 सितम्बर को, जो स्वामीजी का संन्यास-दीक्षा दिवस है, उन्हें समाचार मिला कि भगवान् शिव की श्मशान भूमि पर उनके द्वारा वर्णित वह स्थल मिल गया है। उस शाम उन्होंने अपनी प्रार्थनाओं के पूरा होने, दिव्य स्थान के उद्घाटित होने तथा दिशा-निर्देश के लिए पूर्णाहुति दी। यह उद्घाटन ठीक उसी प्रकार हुआ था जिस प्रकार उसी स्थान पर भगवान् मृत्युंजय ने 25 वर्ष पूर्व बिहार योग विद्यालय और गंगा दर्शन को उद्घाटित किया था।'

ॐ नमो नारायण।
भगवान् मृत्युंजय!

मैंने तुम्हारी आराधना की है
कालभैरव के रूप में एक तत्त्व से

कामाख्या में पाँचों तत्त्वों से
विष्णु के रूप में पत्र, पुष्प, फल और दूध के साथ।
अनेक रूपों में, अनेक विधियों से
और अनेक स्थानों पर।
तुमन जिस रूप में दर्शन दिया, उसी रूप में
मैंने तुम्हारा पूजन किया।

और अब, मैं तुम्हारी आराधना करूँगा,
श्मशान भूमि में
हर साँस।

यह मेरा प्रॉमिस है।

–स्वामी सत्यानन्द सरस्वती

परमहंस संन्यास

कुछ दिनों बाद स्वामी निरंजनानन्द विद्यार्थियों के एक समूह को परमहंसजी के प्रथम दर्शन और उनके आशीर्वादों के लिए तैयार कर रहे थे। इस अवसर पर स्वामी सत्यसंगानन्द भी उनके साथ थीं। चूँकि शिक्षार्थियों को अगली सुबह देवघर की चिर प्रतीक्षित यात्रा पर जाना था, इसलिए देवघर के विषय में उनकी उत्सुकता प्रश्नों का रूप ले रही थी।

एक विद्यार्थी ने निवेदन किया, 'कृपया देवघर के विषय में हमें कुछ बतायें।' स्वामी निरंजनानन्द ने कहा, 'इस प्रश्न का उत्तर यदि स्वामी सत्संगी दें तो बेहतर होगा, क्योंकि इस क्षेत्र के इतिहास पर उन्होंने गहराई से अनुसन्धान किये हैं।' इस पर स्वामी सत्संगी ने हामी भरी और कुछ क्षण सोचने के बाद उन्होंने बोलना प्रारम्भ किया।

'पुराणों में देवघर को भगवान् शिव की श्मशान भूमि कहा गया है। प्रारम्भ में हम लोगों को अत्यन्त आश्चर्य हुआ था कि आध्यात्मिक महत्त्व वाले इतने स्थानों के होते हुए बिहार के इस ग्रामीण क्षेत्र को परमहंसजी की साधना के लिए क्यों चुना गया। किन्तु कुछ समय बाद जब लोगों ने एक परमहंस के व्यक्तित्व का प्रस्फुटन देखा तो समझ पाये कि इसी स्थान के लिए निर्देश क्यों दिया गया। परमहंस जी के लिए देवघर अनेक प्रकार से एक आदर्श स्थान है।

यह मुंगेर से 100 मील की दूरी पर दक्षिण बिहार के एक ऊँचे पठार पर स्थित है। चूँकि यहाँ की हवा शुष्क है और अत्यधिक गर्म दिनों में भी हवा ठण्ढी रहती है, इसलिए साधना के लिए यहाँ की जलवायु उपयुक्त है।'

'परमहंस अलखबाड़ा रिखिया में स्थित है जो देवघर से छः किलोमीटर दूर है। रिखिया नाम ऋषि शब्द का अपभ्रंश है। प्राचीन काल में यहाँ घने जंगल थे और कोई यहाँ आने का साहस नहीं करता था। इस स्थान ने अनेक ऋषियों को आकृष्ट किया, क्योंकि वे एकान्त में रहकर साधना करना पसन्द करते थे। इसलिए रिखिया वह स्थान है जिसने अनेक ऋषियों को आश्रय दिया। आधुनिक युग में भी यह स्थान महान् विभूतियों से रिक्त नहीं रहा। श्री अरविन्द अपने मिशन पर पाण्डिचेरी जाने से पूर्व कुछ दिनों तक यहाँ रहे थे। श्री रविन्द्रनाथ ठाकुर ने पहले इसी स्थान को अपना विश्वविद्यालय बनाने के लिए चुना था, जो बाद में शान्तिनिकेतन के नाम से बोलपुर में स्थापित हुआ। महात्मा गाँधी का भी एक छोटा-सा आश्रम यहाँ पर था, जहाँ स्वतन्त्रता संग्राम के सभी महान् नेता उनसे मिलने आया करते थे। रामकृष्ण मठ के एक संन्यासी सत्यानन्द, जिनके गुरु शिवानन्द थे, उन्होंने इस एकान्त स्थान पर रह कर साधना की थी।'

'आज रिखिया एक छोटा-सा गाँव है जिसके अनेक उप-ग्राम हैं, पनिया पगार उनमें से एक है और यहीं स्वामीजी का साधना-स्थल स्थित है। स्वामीजी ने एक बार कहा था कि साधना के लिए स्थान का चुनाव करते समय साधु को एक विशेष बात का ध्यान रखना चाहिए कि वहाँ पानी की प्रचुरता हो। सिर पर छत होना उतना आवश्यक नहीं जितना पानी का प्रचुर मात्रा में होना। इस सन्दर्भ में इस स्थान का नाम भी उपयुक्त है, पनिया पगार, अर्थात् 'प्रचुर जल।'

एक शिक्षार्थी ने उत्सुकतावश पूछा, 'क्या उस अधिगृहीत स्थान पर अलखबाड़ा स्थापित करने में स्वामीजी को किसी समस्या का सामना करना पड़ा था?'

स्वामी निरंजनानन्द ने बताया, 'उस भूमि पर किसी प्रकार की समस्या नहीं उठी। जो भी वहाँ लगाया गया, अच्छी तरह पुष्पित-पल्लवित हुआ। परमहंसजी का कहना है कि वहाँ लगाये गये प्रत्येक वृक्ष में एक देवता का निवास है। उस भूमि पर एक कुआँ है जो पूरे साल स्वच्छ जल से भरा रहता है। यह आश्चर्य की बात है कि एक पठार पर स्थित कुआँ केवल पंद्रह फीट गहरा है। एक बार बाग-बगीचे की अधिक सिंचाई के लिए हम लोगों ने एक

बोर-वेल लगाने का निश्चय किया, इसके लिए 300 फीट की गहराई तक खुदाई करनी पड़ी, जबकि उस प्राकृतिक कुएँ में कुछ ही फीट की गहराई में पानी मिल गया। ऐसी घटनाएँ सचमुच विस्मयकारी होती हैं।'

'एक अन्य घटना तब घटित हुई जब परमहंसजी पहली बार उस जमीन पर गये। उन्होंने बड़े-से चमकते हुए गेरू रंग के साँप को देखा जो जमीन के बीच खड़े रुद्राक्ष के वृक्ष के नीचे के एक छिद्र से निकला, उसने पूरी जमीन की तीन बार परिक्रमा की, फिर उसी छिद्र में वापस चला गया, दोबारा कभी नहीं निकला। परमहंसजी ने बताया कि नागनाथ स्वयं प्रकट होकर उस भूमि को उनके आध्यात्मिक प्रयासों की सफलता के लिए आशीर्वाद देने आये थे।'

एक अन्य शिक्षार्थी ने पूछा, 'अलखबाड़ा में दर्शनार्थियों का प्रवेश निषिद्ध क्यों है?'

स्वामी सत्संगी ने बताया, 'साधना की अवधि में कोई भी अलखबाड़ा में प्रवेश नहीं कर सकता है। स्वामीजी के लिए साधना जीवन की एक शैली है जो कुछ मिनटों या घण्टों में सीमित नहीं, बल्कि पूरा समय इसमें व्यतीत होता है। स्वामीजी हमेशा कहा करते हैं कि अपनी साधना में उन्हें केवल एक ही कठिनाई का सामना करना पड़ता है, वह है, दर्शनार्थियों का निरन्तर आगमन। उनके अपने शरीर, मन, भावना या आत्मा से कोई समस्या उत्पन्न नहीं होती, क्योंकि ये सब आत्मज्ञान के मार्ग पर दृढ़ता से स्थित हैं। किन्तु दर्शनार्थियों का निरन्तर आगमन उनकी साधना को बाधित कर देता है।'

'स्वामीजी ने कहा है, "अब न तो मुझे कुछ कहना है और न ही किसी का मार्गदर्शन करना है। 26 वर्षों तक मैं लोगों के प्रश्नों के उत्तर देता रहा और आध्यात्मिक पथ पर उनकी सहायता करता रहा। जिनमें ग्रहणशीलता है वे मेरे शिक्षण से अवश्य लाभ उठायेंगे। किन्तु जो ग्रहणशील नहीं हैं उन्हें अब अपना रास्ता स्वयं ढूँढ़ना होगा। अब मैं दर्शन नहीं देना चाहता हूँ, यदि ऐसा ही करना था तो मैं मुंगेर में ही रहता। मैं एकान्त में रहना चाहता हूँ। यदि परेशान किया गया तो मैं ऐसी जगह चला जाऊँगा जहाँ मुझे कोई ढूँढ़ नहीं पायेगा।"

'परमहंसजी पूरे वर्ष अलखबाड़ा में अकेले ही रहते हैं। उनका एक मात्र साथी एक भयंकर कुत्ता है। कुत्तों को भैरवनाथ का वाहन माना जाता है। सभी शिव मन्दिरों के उपांत में आप भैरवनाथ को पायेंगे। पहले आपको सुरक्षा अधिकारी के प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट करनी है, और तब भगवान् शिव के

प्रति। परमहंसजी का सुरक्षा अधिकारी भोलानाथ है। वह पूरे दिन उनके आस-पास रहता है, उनकी धुनी और उनके मण्डप की रक्षा करता है। यदि कोई वहाँ पर अनामन्त्रित जाने का दुस्साहस करता है तो वह उस पर भीषण गर्जन के साथ भूँकता हुआ आक्रमण कर देता है। डमरु और शंख की ध्वनि सुन कर वह समझ जाता है कि परमहंसजी की साधना प्रारम्भ हो चुकी है और वह वेदी के पास जाकर सुरक्षात्मक मुद्रा में बैठ जाता है।'

स्वामीजी के विषय में अधिकाधिक जानने की अकुलाहट के साथ एक शिक्षार्थी ने आग्रह किया, 'कृपया हमें परमहंसजी के अलखबाड़ा के जीवन के विषय में कुछ और बतायें। वहाँ वे किस प्रकार की साधना करते हैं और उसका उनके स्वास्थ्य पर क्या प्रभाव पड़ता है?'

स्वामी निरंजनानन्द ने उसकी उत्सुकता शान्त की, 'परमहंसजी अलखबाड़ा में अत्यन्त सरल जीवन व्यतीत कर रहे हैं। वे गर्मी और सर्दी के मौसम में बाहर खुले में ही रहते हैं। केवल चातुर्मास की अवधि में जब वे पुरश्चरण करते हैं तब अपनी मिट्टी से बनी कुटिया में रहते हैं। शेष समय में वे या तो महाकाल चिता धूनि के पास रहते हैं या वेदी के पास, जहाँ वे पंचाग्नि विद्या का अनुष्ठान करते हैं। परमहंसजी अब धोती नहीं, बल्कि केवल एक कौपीन पहनते हैं। यह भी वे सामाजिक कारणों से ही पहनते हैं, अन्यथा वे एक अवधूत के समान निर्वस्त्र रहना पसन्द करते हैं।'

'परमहंस संन्यासियों के लिए जो साधनाएँ विहित हैं, वे सामान्य से भिन्न होती हैं और ऋतुओं के अनुसार उनमें परिवर्तन किये जाते हैं। गर्मी के मौसम में परमहंसजी पंचाग्नि तप करते हैं। इसके अन्तर्गत वे तपते हुए सूर्य के नीचे, दिन की गर्मी में अपने चारों ओर प्रज्वलित चार अग्नियों के बीच साधना करते हैं। उस क्रम में वातावरण का तापक्रम 80–90 डिग्री तक भी चला जाता है। हम लोग यह देखकर अचम्भित होते हैं कि परमहंसजी किस प्रकार घण्टों, दिनों, हफ्तों और महीनों तक लगातार उस गर्मी से प्रभावित हुए बिना बैठे रह सकते हैं। मैंने बृहदारण्यक उपनिषद् में पढ़ा था कि जिन्होंने अपने अन्दर की पाँच अग्नियों–क्रोध, लोभ, काम, मद और मोह का शमन कर दिया है, उन्हें जीत लिया है, वे ही बाहर प्रज्वलित पंचाग्नि की साधना में सफल हो सकते हैं।'

'हम लोगों को उनकी साधना के विषय में अत्यधिक कौतुहल होता था। अपने विश्लेषण के आधार पर हम लोगों ने यह अनुमान लगाया कि वह व्यक्ति जिसने प्राकृतिक तत्त्वों पर और अपने मन पर नियन्त्रण प्राप्त कर लिया

है, वही इस प्रकार की कठिन साधना में सफल हो सकता है। परमहंसजी युवा नहीं हैं, उनकी अवस्था लगभग सत्तर वर्ष की है। सामान्यतया इस उम्र में शरीर की अनेक सीमाएँ हो जाती हैं, किन्तु उनके शरीर के साथ ऐसा नहीं है। स्वयं को हर प्रकार से अरक्षित छोड़ने के बावजूद वे कभी बीमार नहीं हुए हैं। मौसम की परवाह किये बिना वे खुले में बोरों के गद्दे पर सोते हैं।'

'शीतकाल में पंचाग्नि तप के स्थान पर वे पानी को मिट्टी के बर्तनों में रखते हैं और आधी रात में उस ठण्ढे पानी से तारों भरे आसमान के नीचे स्नान करते हैं। उसके बाद वे सर्द हवा में बैठ कर अपनी साधना प्रारम्भ करते हैं। शीतकाल में की जाने वाली साधना में प्राणायाम के अभ्यास पर अधिक बल दिया जाता है। वे एक दिन में भस्त्रिका के 2000 चक्र पूरे करते हैं तथा इसके साथ ऐसे उच्च स्तर के प्राणायाम करते हैं जो पुस्तकों में उल्लिखित नहीं, बल्कि परम्परागत ढंग से शिष्य उन्हें अपने गुरु से सीखता है। वे सूर्य नमस्कार के 108 चक्र भी एक साथ कर लेते हैं।'

'हम लोगों को साधना का यह मार्ग कुछ विचित्र प्रतीत होता है, ग्रीष्म काल में अत्यधिक गर्मी और शीत काल में अत्यधिक ठण्ढक, किन्तु यह उस संन्यासी या योगी के लिए आश्चर्य का विषय नहीं है जो आध्यात्मिक प्रदीप्ति की प्रक्रिया से परिचित है। परमहंसों को इस प्रक्रिया से गुजरना होता है। दिव्य सजगता में पूर्णता प्राप्त करने के लिए उन्हें इस अवस्था तक आना पड़ता है। उस विशेष क्षण में उनके अस्तित्व का प्रत्येक अणु ब्रह्माण्डीय ऊर्जा और शक्ति से आवेशित हो जाता है। अनेक बार जब परमहंसजी अपनी साधना समाप्त करते हैं तो उनका शरीर एक विशेष आभा से दमकता रहता है। उस समय उनकी आँखों में देख पाना कठिन होता है, ऐसा लगता है जैसे वे तुम्हारे अन्दर झाँक रहे हैं।'

एक भक्त ने अपनी श्रद्धा व्यक्त करते हुए कहा, 'हम लोगों ने तो परमहंसजी को यह साधना प्रारम्भ करने के पूर्व से ही एक महान् ज्ञानी और सिद्ध माना है, फिर उन्हें तप करने की क्या आवश्यकता है?'

स्वामी निरंजनानन्द ने उस भक्त की जिज्ञासा का उत्तर देते हुए कहा, 'अनेक व्यक्ति प्रश्न करते हैं कि जब परमहंसजी अपनी आध्यात्मिक दक्षता प्रमाणित कर चुके हैं तो फिर इस साधना और तप की क्या आवश्यकता है। ऐसे ही प्रश्नों पर परमहंसजी कहते हैं, "मैं ऊपर से स्पष्ट आदेश प्राप्त करता हूँ, और उस आदेश का पालन करने के अतिरिक्त मैं कुछ नहीं कर सकता।

मुझसे अपने शिष्यों और मिशन का त्याग करने के लिए कहा गया, क्योंकि मैं गुरु और शिष्य, दोनों एक साथ नहीं हो सकता। इसके बाद मुझे प्रत्येक श्वास के साथ ईश्वर का नाम लेने का निर्देश दिया गया। तीसरा निर्देश था कि मैं एकान्त में रहूँ। मैं केवल एक दास हूँ और दास के लिए आराम नहीं होता।"

'साधना और तपस्या का मार्ग दैवी निर्देशानुसार होने के अलावा एक ऐसी जीवन शैली है जो परमहंसजी की प्रकृति को सर्वाधिक रुचति है। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि उनकी साधना और उनकी जीवन शैली ने अन्य साधकों और संन्यासियों के लिए एक ज्वलंत उदाहरण प्रस्तुत किया है जिसके आधार पर वे बाद में परमहंस की अवस्था प्राप्त करने के लिए स्वयं को यथोचित ढंग से अनुशासित कर सकेंगे। यह उनकी असीम करुणा और कृपा है कि उन्होंने निष्ठावान् संन्यासियों के भविष्य के लिए मार्ग प्रशस्त कर दिया है।'

'अलखबाड़ा में आने के बाद से स्वामीजी कभी बाहर नहीं निकले हैं। उनका कहना है, "एक परमहंस का संसार से कोई सम्बन्ध नहीं होता है।" वह कम-से-कम सुविधाओं के साथ जीता है। घास उसका बिछौना है और उसका शरीर-चर्म ही उसका आवरण है। वह मिताहार पर ही शरीर को जीवित रखता है और पूर्ण साक्षात्कार के लिए स्वयं को तैयार करता है। वह उपदेश, दर्शन या दीक्षा नहीं देता और न ही वह अपनी महत्ता का प्रदर्शन करता है। वह तो स्वयं को सार्वजनिक जीवन की चकाचौंध से दूर रखता है। साधना के द्वारा वह दिव्य गुणों को प्राप्त कर उच्चतम आध्यात्मिक लक्ष्य तक पहुँचने के लिए उनका उपयोग करता है। वह व्यक्ति जो परमहंस की अवस्था तक पहुँच गया है, मुक्त हो चुका है।'

तपस्वी का त्योहार

(युग बीते। तपस्वी आग में जलता, शीत में ठिठुरता और वर्षा में भीगता था, उसने शताब्दियाँ तपस्या करते-करते व्यतीत कर दीं। जल पर रहा, पत्तों पर रहा, वायु पर रहा, तप करते हुए एक दिन उसकी तपस्या साकार हो उठी, उसके जीवन में नवीन आलोक छिटक पड़ा, उसके जीवन में तपस्या का प्रकाश चमक उठा, तपस्वी तपस्या के साकार होने पर आनन्द विभोर हो उठा, उसके अन्तर से गीतों की गंगा छलक पड़ी, जीवन का अभिषेक हुआ, भस्मीभूत देवताओं का उद्धार हुआ आनन्द का सागर लहरा उठा)



आज कहाँ से आई हो तुम,
मुझको अपना गीत सुनाने।
जीर्ण-शीर्ण इस संन्यासी की
कुटिया में त्योहार मनाने ॥

स्वर्ण-दीप, नवरत्न थाल ले,
मुक्ता-मुकुलित माला सजाकर
किस अतीत का शोक मनाने
आई हो तुम वापस उस के घर ।
शीत सहा और ग्रीष्म सहा,
कितने शिशिर-हेमन्त गये ।
कितनी रातें ठिठुर कर
बीत गईं और माघ गये ॥

इस कुटिया के आगे की
कितनी धूनी जली बुझी।
कितने आँधी तूफानों में,
इसकी ज्वाला गिरी उठी ॥

यज्ञ हुए कितने इस पर,
कितने काक कुरंग पले।
कितने दु:खियों के जीवन के,
दु:ख जले, दुर्भाग्य टले ॥

क्षत-विक्षत इस भगवे ने,
देखा कितने रत्नों को,
कितने मानव आते जाते,
शीष झुकाते इन वस्त्रों को ॥

मैं नग्न रहा, जल मग्न रहा,
अग्नि जला, तप संलग्न रहा।
तपती बालू की ढेरी पर,
मैं पंच-तपस्वी मग्न रहा॥

पर्ण लिए, जल-पर्ण लिये,
वायु मिली, जल वायु मिली।
वायु नहीं तो वायु नहीं,
अब तो ध्यान निमग्न सही ॥

वेद पढ़े, सब शास्त्र पढ़े,
न्याय पढ़ा वेदान्त पढ़ा।
तर्क-सुमज्जित बुद्धि बनी,
जगा ज्ञान और ध्यान लगा ॥

भूत-प्रेत को निज वश में कर,
मन्त्र-सिद्धि से पूरित था मैं।
भोग मुक्ति को दूर हटा कर,
मुक्त शुद्ध आज बना मैं ॥
यह है अम्बर यह सागर,
इतने पर्वत और शिवालय।
पर सब का मैं शहंशाह,
मेरे भू पर सृष्टि-प्रलय ॥

यह भोग-रोग, यह यज्ञ-याग,
सब को तज कर निर्विवाद।
आज चला हूँ पावन पथ पर,
इसको तज कर, उसको तज कर ॥

दीप्त अग्नि, वर्चस्व-समुज्ज्वल
बन कर भू पर अम्बर पथ पर।
पर आई हो तुम दीपक लेकर,
कुटिया में नव ज्योति जगाने ॥

तापस के कट्टर जीवन में,
करुणा के रस धार बहाने।
त्योहार सजेगा जीवन में अब,
तापस-उर में ज्ञान जगेगा ॥

कितने कल्पों की सीमा पर,
आज तपस्वी का साज सजेगा।
आज तपस्या आई हो तुम,
मुझे जगाने, मुझे हँसाने ॥

आज तपस्वी तृप्त हुआ,
चलो चलें त्योहार मनाने।
जीर्ण-शीर्ण इस संन्यासी की,
कुटिया में त्योहार मनाने ॥

–स्वामी सत्यानन्द सरस्वती, 1956

संन्यास उपनिषद्

निर्वाणोपनिषद्

निर्वाणोपनिषद् ऋग्वेद का एक अंग है। एक सौ आठ प्रमुख उपनिषदों में इसका स्थान सैंतालीसवाँ है। इसमें सूत्रों के माध्यम से परमहंस परिव्राजक की प्रगति की प्रक्रिया को निरूपित किया गया है। परमहंस चेतना की उच्चतम अवस्था में स्थित होते हैं। वे सत् एवं असत् के भेद को जानते तथा परम सत्ता से उनका एकत्व होता है। परिव्राजक की अपनी कोई सम्पत्ति नहीं होती; वे पूर्णत: अनासक्त होते हैं एवं किसी स्थान से भी बन्धे नहीं होते। वस्त्र खण्डों से निर्मित कन्था, प्रतीकात्मक दण्ड तथा यज्ञोपवीत जैसे बाह्य साज-सज्जा के प्रतीकों का आत्म-साक्षात्कार की अवस्था में लय हो जाता है। वे जीवनमुक्त होते हैं, अर्थात् शरीर में रहते हुए भी मुक्त। वे कोई धार्मिक अनुष्ठान नहीं करते और न देवी-देवताओं की पूजा ही। उन्होंने आत्मा और परमात्मा की अद्वैत अवस्था प्राप्त कर ली है तथा सदैव परमानन्द में स्थित रहते हैं।

निर्वाणोपनिषद् पर परमहंस निरंजनानन्द जी की यह टीका अपने संन्यासी शिष्यों के साथ उनके अनौपचारिक सत्संग का परिणाम है। स्वामीजी का उद्देश्य इस उपनिषद् के द्रष्टा द्वारा परमहंस संन्यास से सम्बन्धित अभिव्यक्त विचारों की व्याख्या करना है। यद्यपि इस उपनिषद् पर अनेक टीकाएँ उपलब्ध हैं, किन्तु इस टीका का स्वरूप सर्वथा भिन्न है। यहाँ स्वयं एक परमहंस द्वारा निर्वाण के मार्ग पर प्राप्त अनुभव की वास्तविक अवस्थाओं का वर्णन किया जा रहा है। अत: यह टीका एक व्यक्तिगत वर्णनात्मक अनुभव बन गई है, न कि एक दर्शन। गम्भीर आध्यात्मिक साधकों एवं जिज्ञासुओं को भी इससे सार्थक मार्गदर्शन प्राप्त होगा।

निर्वाणोपनिषद्वेद्यं निर्वाणानन्दतुन्दिलम् ।
त्रैपदानन्दसाम्राज्यं स्वमात्रमिति चिन्तयेत् ॥

निर्वाणोपनिषद् जानने योग्य है। यह निर्वाण के परमानन्द से आपूरित है (जैसा कि एक सन्तुष्ट व्यक्ति का विशाल उदर)। यह त्रिपद (ॐ) के परमानन्द का साम्राज्य है। इसे आत्मा समझकर इस पर चिन्तन-मनन होना चाहिये।

शान्तिपाठ

ॐ वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता-मनो मे वाचि प्रतिष्ठितम्-अविरावीर्मएधि। वेदस्य म आणीस्थः श्रुतं मे मा प्रहासीः। अनेनाधीतेनाहोरात्रान्संदधाम्यृतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि। तन्मामवतु। तद्वक्तारमवतु। अवतु मामऽवतु-वक्तारमवतु वक्तारम्।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

ॐ। मेरी वाणी मेरे मन पर एवं मेरा मन वाणी पर स्थिर हो, हे स्वप्रकाशित ब्रह्म, आप मेरे अन्दर प्रकट हों। मेरा मन और वाणी, दोनों ही मुझे वेदों के सत्य को समझने में सक्षम बनावें। वेदों के सत्य सदैव मेरे अन्दर विद्यमान रहें। इस हेतु मैं दिन-रात प्रयत्नशील रहूँगा। मैं सत्य ही सोचूँगा और सत्य ही बोलूँगा। वे ब्रह्म मेरी रक्षा करें। वे मेरे गुरु की रक्षा करें।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

अथ निर्वाणोपनिषदं व्याख्यास्यामः ॥ 1 ॥

अर्थ

अब हम निर्वाणोपनिषद् की व्याख्या करेंगे।

व्याख्या

निर्वाण का अर्थ होता है बोध, सिद्धि और मुक्ति, जन्म-मृत्यु के बन्धन से छुटकारा। जिन महापुरुष ने चेतना की वह उच्चतर अवस्था प्राप्त कर ली है, वे उन नियमों से बन्धे नहीं होते जिनसे कि हम बन्धे होते हैं, बल्कि उन्होंने तो उस उच्च अवस्था को प्राप्त कर लिया होता है जहाँ वे स्वयं नियम निर्माता बन जाते हैं। उनका दिव्य सत्ता में लय हो जाता तथा वे स्वयं दिव्य सत्ता बन जाते हैं।

परमहंस: सोऽहम् ॥ 2॥

अर्थ

परमहंस ने कहा– 'मैं वही हूँ।'

व्याख्या

प्रबोधन की उस अवस्था को प्राप्त व्यक्ति कैसा अनुभव करते हैं, उनके व्यवहार एवं कार्य किस प्रकार के होते हैं? वैदिक शब्दावली में वही का तात्पर्य सर्वोच्च सत्ता से है। सामान्यत: सर्वोच्च सत्ता की कल्पना ब्रह्म के रूप में की जाती है, जिसका अभिप्राय सतत् विस्तृत होती हुई चेतना से है। वह सर्वज्ञता, सर्वव्यापकता एवं सर्वशक्तिसम्पन्नता के गुणों से युक्त होती है। यह निराकार ब्रह्म की अवधारणा है। इसका तात्पर्य यह है कि किसी नाम, रूप या विचार द्वारा इसे पारिभाषित नहीं किया जा सकता। यह एक ऐसी चीज है जिसकी कोई परिभाषा नहीं होती। किसी नाम, रूप या विचार के माध्यम से इसका वर्णन नहीं हो सकता। ब्रह्म सर्वोच्च दिव्य सत्ता की सर्वज्ञ, सर्वव्यापी एवं सर्वशक्तिमान् प्रकृति के बोध की एक अवस्था है। अत: परमहंस के 'मैं वही हूँ' कथन का अभिप्राय निराकार प्रबोधन की प्रक्रिया से है। यह निराकार, निर्गुण और सर्वव्यापी ईश्वर की प्राप्ति की अवस्था है।

परिव्राजका: पश्चिमलिङ्गा: ॥ 3॥

अर्थ

संन्यास के बाद परिव्राजक की अवस्था आती है।

व्याख्या

'मैं वही हूँ' की घोषणा के बाद परमहंस कहते हैं कि संन्यास के बाद परिव्राजक की अवस्था आती है। परिव्राजक कहने से एक ऐसे व्यक्ति का विचार मन में आता है जो विभिन्न स्थानों में घूमता रहता है। किन्तु इस सन्दर्भ में परिव्राजक का अर्थ इससे भिन्न है। यहाँ कहा गया है कि संन्यास के बाद परिव्राजक की अवस्था आती है। संन्यास के लक्षण क्या हैं? संन्यास का अभिप्राय त्याग से है– सांसारिक आसक्ति का त्याग, शारीरिक

एवं ऐन्द्रिय लालसाओं का त्याग, सुख की लालसा तथा दु:ख के प्रति विकर्षण के भाव का त्याग।

इन सभी चीजों के त्याग तथा सांसारिक वस्तुओं एवं इन्द्रियों से अनासक्त होने के बाद परिव्राजक की अवस्था आती है। परिव्राजक का अभिप्राय ऐसे व्यक्ति से होता है जिसका कहीं कोई आधार नहीं होता। आध्यात्मिक दृष्टि से कोई इच्छा आधार हो सकती है, अथवा कोई आकर्षण, आसक्ति या बन्धन भी आधार बन सकता है। परिव्राजक वह है जो इच्छा या लालसा से मुक्त हो और मानसिक क्षेत्र के किसी ऐसे स्थान, प्रकृति या चेतना से बँधा न हो जहाँ निरन्तर एक ही प्रकार के अनुभव होते रहें। इस अर्थ में परिव्राजक का अभिप्राय पूर्णत: मुक्त ऐसे व्यक्ति से है जो काल, स्थान एवं पदार्थ से किसी प्रकार भी बँधा हुआ न हो। परिव्राजक की यही अवस्था है।

इस दृष्टि से एक परिव्राजक या मुक्त व्यक्ति की वही अवस्था होती है जो कि एक परमहंस की। एक परमहंस अपनी विवेक-शक्ति से सत्य और असत्य की भिन्नता को देख-समझ सकता तथा परिव्राजक समस्त प्रकार के पार्थिव, पदार्थीय, ऐन्द्रिय एवं मानसिक बन्धनों से मुक्त होता है।

मन्मथक्षेत्रपाला: ॥ 4 ॥

अर्थ

मैं उस क्षेत्र का रक्षक हूँ जहाँ अहंकार का अस्तित्व नष्ट हो जाता है।

व्याख्या

यह स्मरण रखें कि इस ग्रन्थ में परमहंस परिव्राजक संन्यासी द्वारा प्रदत्त शिक्षा की चर्चा हो रही है। यह सूत्र इस कथन के बाद आता है कि मैं वही हूँ, जिसका तात्पर्य सर्वोच्च दिव्य सत्ता से है। अत: परम दिव्य चेतना या ब्रह्माण्डीय अवस्था के स्तर से परमहंस कहते हैं, "मैं उस क्षेत्र, अनुभव के आयाम अथवा आध्यात्मिक चेतना का रक्षक हूँ जहाँ शरीर और मन के अस्तित्व का अहंकार नष्ट हो जाता है।"

आध्यात्मिक क्षेत्र में दिव्य चेतना की अनुभूति के उपरान्त अहंकार की अभिव्यक्ति की कोई गुंजाइश नहीं रहती। वह अवस्था उस शुद्ध क्षेत्र के समान है जिसमें कोई पार्थिव खर-पतवार नहीं उग सकते। वे तभी उगेंगे जब अहंकार

या 'मैं' की चेतना का अस्तित्व होगा। मैं की चेतना रहने पर ही इच्छाओं के बीज से कर्मों के घास-फूस, झाड़-झंखाड़ एवं वृक्ष उत्पन्न होंगे और बढ़ेंगे। किन्तु जब इनका मूलभूत तत्त्व, अहंकार, नष्ट हो जाता है तब केवल शुद्ध चेतना रह जाती है। इस कथन का तात्पर्य यह है कि मैं चेतना के उस क्षेत्र अथवा स्तर का रक्षक हूँ जहाँ पूर्णतः शुद्ध चेतना विराजती है एवं व्यक्तित्व सम्बन्धी अहंकार का कोई अस्तित्व नहीं होता।

गगनसिद्धान्तः ॥ 5 ॥

अर्थ

मेरा प्रमाणित सत्य आकाश के समान सर्वव्यापी है।

व्याख्या

परमहंस आगे कहते हैं, "वह शाश्वत सत्य जिसका मैंने प्रत्यक्ष अनुभव किया है, आकाश के समान सर्वव्यापी है।" सामान्यतः हमारी सत्य से सम्बन्धित अवधारणा हमारे ज्ञान एवं बोध के अनुसार सीमित होती है। सत्य अनेक संकेतों, रंगों, विचारों एवं दृश्यों के रूप में प्रकट हो सकता है। निम्नलिखित कहानी से यह बात स्पष्ट होती है–

एक दिन किसी व्यक्ति ने एक जन्तु को एक चट्टान पर बैठे देखा। उसने अपने नगर के लोगों से कहा, "मैंने पीले रंग के एक प्राणी को देखा।" संयोगवश एक दूसरे व्यक्ति ने भी उस जन्तु को देखा था। उसने कहा, "हाँ, तुम जो कह रहे हो वह सत्य है। मैंने भी एक जन्तु को उसी स्थान पर देखा, किन्तु उसका रंग भूरा था।" वहाँ उपस्थित एक तीसरे व्यक्ति ने कहा, "तुम दोनों जो कह रहे हो वह सही है, किन्तु वह जीव न तो पीला है न भूरा, वह हरे रंग का है।" वे वस्तुतः एक रंग बदलने वाले गिरगिट की चर्चा कर रहे थे।

ये तीनों व्यक्ति सत्य बोल रहे थे। एक ने कहा कि गिरगिट का रंग पीला था; दूसरे के अनुसार उसका रंग भूरा और तीसरे के अनुसार वह हरे रंग का था। तीनों के कथन बिल्कुल सही थे। अपनी दृष्टि, बोध एवं समझ के अनुसार प्रत्येक का ज्ञान अन्तिम सत्य था। किन्तु एक मुक्त व्यक्ति का सत्य उसके अपने बोध, दृष्टि या समझ से सीमित नहीं होता, बल्कि सर्वव्यापी होता है। एक सामान्य आदमी के लिये जो सत्य होता है वह सत्य हो भी

सकता है और नहीं भी हो सकता। इसीलिये तो परमहंस कहते हैं कि मुझे जिस प्रमाणित सत्य या शाश्वत सत्य की प्राप्ति हुई है, वह आकाश के समान सर्वव्यापी है।

अमृतकल्लोलनदी ॥ 6॥

अर्थ

(मेरा हृदय) एक ऐसी नदी है जिसमें अमर, शाश्वत लहरें उठ रही हैं।

व्याख्या

यहाँ नदी शब्द सामान्य अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। कल्लोल शब्द का तात्पर्य नदी या जल की सतह पर उठती हुई छोटी-बड़ी लहरों या तरंगों से है। अमृत का अभिप्राय अमरत्व से है। परमहंस कहते हैं, "मेरा हृदय अमर तरंगों की नदी है।" उनका यह कथन उन विचारों एवं दृष्टिकोण का प्रतीक है जिनके अनुसार वे सब के प्रति अमरत्व का भाव रखते हैं। वे किसी व्यक्ति में क्षयकारी सिद्धान्त या क्षयकारी प्रकृति नहीं देखते।

यदि कोई व्यक्ति गुलाबी रंग का चश्मा लगाता है तो संसार उसे गुलाबी दिखायी पड़ता है। यदि कोई हरे रंग का चश्मा लगाता है तो संसार उसे हरा दिखायी पड़ता है। एक ज्ञानी व्यक्ति का चश्मा 'अमरत्व-रंग' का होता है, अत: उसे प्रत्येक प्राणी में अमरत्व दिखायी पड़ता है। वह शरीर नहीं देखता, न यह देखता है कि कोई आदमी कैसे रहता, सोचता, खड़ा होता, चलता अथवा व्यवहार एवं कार्य करता है। एक आत्मज्ञानी व्यक्ति आत्मिक गुणों को ही देखता है। आत्मिक प्रकृति से तो प्रसन्नता, प्रकाश, आनन्द और अमरत्व के भाव ही प्रकट होंगे।

"मेरा हृदय अमर तरंगों की नदी है"–इस कथन का तात्पर्य यह है कि उनके अन्दर से जो भाव प्रकट हो रहे हैं, वे सब के लिये समान हैं। उनके अन्दर किसी के प्रति करुणा, किसी के प्रति विकर्षण, किसी से प्रेम और किसी से घृणा जैसे भाव नहीं हैं। सब के प्रति एक जैसे भाव उत्पन्न होते हैं, जो अन्तत: अमरत्व की ओर ले जाते हैं। वह अव्यय, अक्षर तत्त्व, अर्थात् ईश्वर-प्राप्ति की अवस्था है।

अक्षयं निरञ्जनम् ॥ 7॥

अर्थ

(मेरा हृदय) अविनाशी और दोषरहित है।

व्याख्या

यहाँ परमहंस कह रहे हैं कि संसार के प्रत्येक व्यक्ति के प्रति मेरे जो भाव या दृष्टिकोण हैं, वे परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तित नहीं होते। वे अविनाशी और दोषरहित हैं। वे सदैव एक समान रहते हैं।

निःसंशय ऋषिः ॥ 8॥

अर्थ

(मैं अथवा मेरे आचार्य, शिक्षक, गुरु) ऋषि हैं जो समस्त प्रकार के सन्देहों से मुक्त होते हैं।

व्याख्या

इस सूत्र की व्याख्या दो प्रकार से हो सकती है। प्रथमत: "मैं वह ऋषि हूँ जो समस्त प्रकार के सन्देहों से मुक्त है।" ऋषि का तात्पर्य द्रष्टा से है जो देख सकता है, उसे किसी प्रकार का सन्देह नहीं होता। दृष्टि के अभाव में ही सन्देह होता है। यदि कोई सृष्टि की सनातन प्रक्रिया का द्रष्टा है तो उसके अन्दर सन्देह नहीं हो सकते। जब उन्होंने आत्मज्ञान की वह अवस्था प्राप्त कर ली है जहाँ उनका ईश्वर से तादात्म्य हो गया है, तब वे द्रष्टा भी हैं। उनके सभी सन्देह समाप्त हो गये, क्योंकि वे ईश्वर से एकाकार हो गये हैं।

इस सूत्र को समझने का दूसरा तरीका यह है – 'मेरे शिक्षक निःसन्देह ऋषि हैं।' इसका तात्पर्य यह है कि एक बार जब उन्होंने ईश्वर को अपना शिक्षक स्वीकार कर लिया है तब वे मानते हैं कि ईश्वर सर्वज्ञ हैं और ईश्वर अथवा ब्रह्म के प्रति उनके मन में कोई सन्देह नहीं है। इसीलिये उन्होंने ईश्वर को अपना शिक्षक मान लिया है, जो स्वयं एक ऋषि हैं।

निर्वाणो देवता ॥ 9॥

अर्थ

मेरे देवता निर्वाण (वाणी के परे) हैं।

व्याख्या

यहाँ परमहंस कहते हैं कि मेरे परम ईश्वर, दिव्य देवता या इष्ट, जिनकी मैं पूजा करता हूँ, उनका नाम निर्वाण है। निर्वाण का तात्पर्य उस सत्ता से है जो वाणी के परे है; मन या इन्द्रियों द्वारा उसका वर्णन नहीं हो सकता।

वर्णन पहचान की प्रक्रिया का एक पहलू है। यदि आप किसी वस्तु को पहचानेंगे तो उसका वर्णन भी कर सकेंगे। पहचान और वर्णन एक दूसरे पर आश्रित हैं। किन्तु यहाँ केवल पहचान की चर्चा हो रही है। किसी प्रकार का वर्णन नहीं हो रहा है, क्योंकि कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों का पूर्णतः लय हो चुका है। निर्वाण या मुक्ति एक ऐसी अवस्था है जिसे वाणी, शब्द या ध्वनि द्वारा पारिभाषित नहीं किया जा सकता। वह अपारिभाषित सत्ता या अवस्था ही ईश्वर है। परमहंस उन्हीं की पूजा करते हैं।

निष्कुलप्रवृत्तिः ॥ 10॥

अर्थ

मैं स्वभाव से ही परिवार तथा सभी बन्धनों से मुक्त हूँ।

व्याख्या

यह त्याग की पुष्टि है। यह तो परमहंस का स्वभाव ही है। परिवार से उनकी कोई आसक्ति या सम्बन्ध नहीं होते। यहाँ परिवार का तात्पर्य भाई-बहन अथवा माता-पिता से नहीं, बल्कि पाँच कर्मेन्द्रियों, पाँच ज्ञानेन्द्रियों एवं मनः चतुष्टय (मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार) से है, जिन्हें साथ लेकर प्रत्येक व्यक्ति संसार में आता है। ये हमारे परिवार के चौदह सदस्य हैं, जो सदैव हमारे साथ रहते हैं। हम सांसारिक परिवार के सदस्यों – पति, पत्नी, बच्चे और सम्बन्धी को तो छोड़ सकते हैं, किन्तु ये चौदह पारिवारिक सदस्य अन्त तक हमारे पीछे लगे रहते हैं।

अत: 'वे समस्त पारिवारिक सदस्यों से मुक्त हैं', ऐसा कहने का तात्पर्य यह है कि उनके अन्दर स्थित ये सभी चौदह सदस्य शक्तिहीन हैं। ये किसी प्रकार भी परमहंस को नहीं बाँध सकते। वे इनके प्रभाव से परे, इनसे पूर्णत: छूटे हुए, पूर्णतया मुक्त हैं।

निष्केवलज्ञानम् ॥ 11 ॥

अर्थ

मेरा ज्ञान पूर्ण है।

व्याख्या

यह कथन द्वितीय सूत्र, 'सोऽहं' या 'मैं वही हूँ' की पुष्टि है। यदि वह 'वही' है तो उसमें किसी प्रकार की अपूर्णता कैसे हो सकती है? यदि वह 'वही' है तो उसका ज्ञान पूर्ण है। उसे न तो कोई शिक्षा लेनी है और न कुछ सीखना है। उसका ज्ञान पूर्ण है, क्योंकि वह 'ज्ञान' ही है। उसके जानने के लिये कुछ भी बचा हुआ नहीं है। वह सब कुछ है। 'मेरा ज्ञान पूर्ण है', इस कथन का तात्पर्य स्पष्ट है; अत: उसके जानने, समझने, सीखने या प्राप्त करने के लिये कुछ भी बचा हुआ नहीं है। चूँकि जानने के लिये कुछ भी बचा हुआ नहीं है, अत: वह पूर्ण ज्ञान ही है।

ऊर्ध्वाम्नाय: ॥ 12 ॥

अर्थ

उच्च स्थिति के लिए उनका अभ्यास होता है।

व्याख्या

परमहंस कहते हैं कि यदि मेरे अध्ययन एवं संचारण के लिये कुछ बचा हुआ है, तो वह आत्मा और परमात्मा का ज्ञान ही है।

निरालम्बपीठः ॥ 13 ॥

अर्थ

मैं (किसी संस्था के) आधार के बिना स्वयं में शिक्षा का अधिष्ठान हूँ।

व्याख्या

परमहंस कहते हैं कि मैं ज्ञान-स्वरूप हूँ। वे परम आत्मा के ज्ञान का अध्ययन एवं संचरण करते हैं। वे शिक्षा का स्रोत अथवा केन्द्र हैं, जिसका कोई ढाँचा, आधार, संस्था या आश्रम नहीं है। वे स्वयं में पूर्ण हैं।

संयोगदीक्षा ॥ 14 ॥

अर्थ

संयोग होते ही दीक्षा हो जाती है। (यदि एक सुयोग्य शिष्य गुरु के सम्पर्क में आता है तो अनायास ही उसकी दीक्षा हो जाती है।)

व्याख्या

जब एक योग्य शिष्य गुरु के निकट आता है तब स्वतः उसकी दीक्षा हो जाती है। शिष्य के लिये दीक्षा माँगने अथवा गुरु के लिये दीक्षा प्रदान करने की आवश्यकता नहीं होती। स्वामी विवेकानन्द इसके उदाहरण हैं। उनके गुरु रामकृष्ण ने जब पहली बार उन्हें देखा तब केवल इतना कहा, "मैं तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा था। अब तक तुम कहाँ थे?" या तो एक सुयोग्य गुरु को योग्य शिष्य मिल जाते हैं अथवा एक योग्य शिष्य को एक सुयोग्य गुरु। जब दोनों मिलते हैं तो दीक्षा की प्रक्रिया स्वतः एवं स्वाभाविक रूप से सम्पादित हो जाती है, क्योंकि एक भिन्न स्तर पर शिष्य की योग्यता की पहचान हो जाती है। एक आत्म-ज्ञानी व्यक्ति से शिक्षा प्राप्त करने की प्रक्रिया में शिष्य की मानसिकता एक भिन्न प्रकार की होनी चाहिये। सामान्यतः शिष्य गुरु को नीचे, अपने स्तर तक खींचने का प्रयास करता है। वह सोचता है कि अमुक गुरु आत्म-ज्ञानी हैं तथा उनके पास आशीर्वाद प्राप्त करने हेतु जाता है। तथापि, अन्ततः वह ऐसे ही प्रश्न करता है जिनसे मात्र उसकी इच्छाओं की ही पूर्ति होती है। ऐसे किसी भी शिष्य को योग्य नहीं कहा जा सकता जो गुरु को अपने स्तर तक नीचे

खींचने का प्रयास करता है। यदि वह समझ सकता है कि गुरु उच्चतर स्तर पर हैं तथा उसके अन्दर सीखने की तीव्र इच्छा है तो उसे उनसे आ रहे आदेश-निर्देश एवं सन्देश के प्रति ग्रहणशील होना चाहिये। जब वह अपने विचारों, इच्छाओं एवं भय को अध्यारोपित नहीं करता तब स्वत: एवं स्वाभाविक रूप से ग्रहणशील हो जाता है।

वियोगोपदेश: ॥ 15 ॥

अर्थ

वियोग (सांसारिक जीवन के प्रति अनासक्ति) का उपदेश दिया जाता है।

व्याख्या

अपने योग्य शिष्य को गुरु किस प्रकार की शिक्षा देते हैं? वे वियोग, विच्छेद या अनासक्ति की शिक्षा देते हैं। संसार में रहो, किन्तु संसार के होकर नहीं। अनासक्ति अथवा वैराग्य की शिक्षा में इस बात पर बल दिया जाता है कि व्यक्त आयाम में जो सत्य मालूम पड़ता है, वह वस्तुत: सत्य नहीं है। यह तो आभास मात्र है, जिसने सत्य को ढक रखा है। जिस प्रकार आपके वस्त्रों से आपका शरीर ढका हुआ है, ठीक उसी प्रकार इस सम्पूर्ण संसार से सत्य आच्छादित है। वह आत्मा की, दिव्य सत्ता का सत्य है। उस सत्य को जानने के लिये आपको अनासक्त होना पड़ेगा। आपको यह जानना होगा कि हम सामान्य अनुभवों, आदतों, आसक्तियों तथा स्थिति-परिस्थितियों से स्वयं को कैसे अलग करें।

दीक्षासंतोषपावनं च ॥ 16 ॥

अर्थ

सन्तों की शिक्षा को पीना (प्राप्त करना) भी दीक्षा है।

व्याख्या

यहाँ पीने का तात्पर्य आन्तरिक रूप से ग्रहण करने, आत्मसात् एवं क्रियान्वित करने से है। यह कार्य मन या बुद्धि से सम्पादित नहीं होता। यह केवल मन से

नहीं, बल्कि मन और हृदय के सामंजस्य से सम्भव होता है, जिसका तात्पर्य सम्पूर्ण व्यक्तित्व से है। शिक्षा को ग्रहण करने का तात्पर्य केवल सुनने से नहीं, बल्कि आत्मसात् करने से है। अतः यदि कोई व्यक्ति सन्त की शिक्षाओं को समझने, आत्मसात् और क्रियान्वित करने में सक्षम है तो इस स्तर की समझदारी स्वयं में दीक्षा का एक रूप हो जाती है।

द्वादशादित्यावलोकनम् ॥ 17॥

अर्थ

(दीक्षित व्यक्ति सम्पूर्ण सृष्टि को) सूर्य के (बदलते हुए) बारह (पहलुओं के) रूप में देखता है।

व्याख्या

दीक्षित व्यक्ति सम्पूर्ण सृष्टि को सूर्य के बारह परिवर्तनशील पहलुओं के रूप में देखता है। सूर्य एक राशि से दूसरी राशि में गतिमान रहते हैं, जिससे कि एक पूर्ण वृत्त बनता है। वे कभी स्थिर नहीं रहते। इसी प्रकार सम्पूर्ण सृष्टि भी स्थैतिक नहीं है। यदि कोई सोचता है कि सृष्टि स्थायी है, तो यह उसकी सीमित समझ है। किन्तु प्रकृति, पुरुष, ब्रह्म या ईश्वरीय बोध की दृष्टि से सम्पूर्ण सृष्टि में समय-समय पर परिवर्तन होता रहता है। जिस दीक्षित व्यक्ति ने सम्पूर्ण सृष्टि के अस्थायित्व या परिवर्तनशील प्रकृति को समझ लिया है, उसने वस्तुतः गुरु की शिक्षा को आत्मसात् कर लिया है तथा परमात्मा को एक अपरिवर्तनशील, शाश्वत सत्ता के रूप में प्राप्त कर लिया है, जान लिया है।

विवेकरक्षा ॥ 18॥

अर्थ

(सत्य और असत्य का) विवेक मेरा कवच है।

व्याख्या

विवेक ही संसार या परिवर्तनशील जगत् के मकड़जाल में पुनः फँसने से साधक की रक्षा करता है। विवेक का अभिप्राय सत्य और असत्य के भेद को

समझने की क्षमता से है। एक विवेकी व्यक्ति सदैव सत्य को जानने का प्रयास करेगा तथा असत्य के जाल में नहीं फँसेगा। सत्य और असत्य के विवेक की क्षमता ही वास्तविक कवच या रक्षक है। ऐसे सक्षम व्यक्ति की सजगता सदैव बनी रहती है।

करुणैव केलिः ॥ 19॥

अर्थ

करुणा ही मेरा आनन्द है।

व्याख्या

हम अपनी प्रसन्नता या आनन्द के लिये अनेक खेल खेलते हैं। किन्तु एक आत्म-ज्ञानी व्यक्ति करुणा-भाव में आनन्द का अनुभव करते हैं। उनकी करुणा सब के लिये होती है।

उनके लिये पसन्द या पक्षपात की कोई बात नहीं होती। वे प्रत्येक व्यक्ति को समान भाव से देखते हैं। वास्तव में करुणा से बढ़कर कोई भाव या दृष्टिकोण नहीं होता।

आनन्दमाला ॥ 20॥

अर्थ

(मैं) आनन्द की माला (पहनता हूँ)।

व्याख्या

इस माला का उद्‌देश्य क्या है? एक संन्यासी के लिये माला प्राप्ति की अवस्था का प्रतीक है; उपलब्धि की पराकाष्ठा है। संसार में कहा जाता है, "मेरा अभिषेक हुआ है।" आध्यात्मिक भाषा में हम कहते हैं कि मैं माला से आभूषित हुआ हूँ। इस प्रकार एक परमहंस आनन्द की माला धारण करते हैं। यह उनकी आनन्दमय प्रकृति का प्रतीक है; यहाँ यही बात निर्दिष्ट की जा रही है।

एकांतगुहायां मुक्तासनसुखगोष्ठी ॥ 21 ॥

अर्थ

गुफा के एकान्त में, आसन लगाकर सुख से रहना गोष्ठी है।

व्याख्या

अपने घरों में आराम से बैठकर हम मित्रों एवं सम्बन्धियों से बातचीत करते हैं। ठीक इसी प्रकार परमहंस, गुफा के अन्दर ध्यान के किसी आसन में बैठकर, परमात्मा से ब्रह्माण्डीय स्थिति के बारे में विचार-विमर्श कर रहे हैं।

अकल्पितभिक्षाशी ॥ 22 ॥

अर्थ

(मैं लालसारहित) अप्रत्याशित रूप से प्राप्त भोजन पर जीवन निर्वाह करता हूँ।

व्याख्या

यहाँ 'अप्रत्याशित' का तात्पर्य इच्छा एवं लालसारहित होने से है। सामान्यत: हम किसी विशेष प्रकार के भोजन के लिये लालायित रहते हैं। हमारे जीवन में लालसा की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। अपनी लालसा के कारण हम अनुभव करते हैं कि कुछ चीजें हमारे जीवन के लिये अति आवश्यक हैं, जबकि वास्तव में वे तनिक भी महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। इसीलिये परमहंस कहते हैं, "मैं इच्छा एवं लालसा के बिना जीवन-यापन कर सकता हूँ। जो कुछ भी अपेक्षा के बिना आता है, वह बिल्कुल ठीक है। मैं किसी भी चीज से आसक्त नहीं हूँ। जो कुछ भी होता है उसे मैं जीवन का एक अनुभव मानता हूँ और उस पर अपना जीवन-निर्वाह कर सकता हूँ।"

हंसाचारः ॥ 23॥

अर्थ

मेरे आचरण हंस के समान हैं, (हंस, जो सत्य को ग्रहण करके असत्य का त्याग करता है)।

व्याख्या

परमहंस वास्तविक और अवास्तविक अथवा सत्य एवं असत्य के बीच के भेद को समझने में सक्षम होते हैं। एक मान्यता के अनुसार राजहंस नामक पक्षी दूध को जल से अलग करने में सक्षम होता है। इसका तात्पर्य यह है कि वह सार को ग्रहण करता तथा महत्त्वहीन चीज का त्याग करता है। अत: परमहंस कहते है–"मेरा आचरण हंस के समान है। संसार मुझे कुछ भी अर्पित कर सकता है, किन्तु उससे मैं वही ग्रहण करूँगा जो लाभदायक, वास्तविक, सत्य एवं उचित होगा तथा अस्थायी और अवास्तविक वस्तुओं को त्याग दूँगा।"

सर्वभूतान्तर्वर्ती हंस इति प्रतिपादनम् ॥ 24॥

अर्थ

(अपने आचरण द्वारा) मैं प्रदर्शित करता हूँ कि जो समस्त प्राणियों में निवास करता है वह (ब्रह्मरूपी सत्य) ही है।

व्याख्या

यहाँ परमहंस अपने आचरण द्वारा सर्वोच्च सत्य को प्रदर्शित करते हैं, क्योंकि उन्होंने इसे प्राप्त करके अपने जीवन में प्रतिष्ठित कर लिया है। यह प्राप्ति ऐसी नहीं है जिसे उन्होंने केवल समझा है अथवा किसी पुस्तक में पढ़ा है। उन्होंने सर्वोच्च सत्य का पूर्ण अनुभव प्राप्त कर लिया है तथा उस अनुभव के द्वारा उनका सम्पूर्ण व्यक्तित्व रूपान्तरित हो गया है। अत: उनके प्रत्येक कार्य में सर्वोच्च सत्ता की ही अभिव्यक्ति होती है।

धैर्यकन्था। उदासीनकौपीनम्। विचारदण्ड:। ब्रह्मावलोकयोगपट्ट:। श्रियां पादुका। परेच्छाचरणम्। कुण्डलिनीबन्ध:। परापवादमुक्तो जीवनमुक्त:। शिवयोगनिद्रा च। खेचरीमुद्रा च। परमानन्दी ॥ 25॥

अर्थ

धैर्य मेरा आवरण है। अनासक्ति मेरा कौपीन है। चिन्तन-मनन मेरा दण्ड है। ब्रह्म-ज्ञान मेरी पहचान है। मेरी पादुका समृद्धि है। दूसरों की आवश्यकता पूरी करना मेरी इच्छा है। (सुषुप्त) कुण्डलिनी मेरा एकमात्र बन्धन है। जो दूसरों की निन्दा नहीं करता वह जीवनमुक्त है। शिव-सायुज्य मेरी निद्रा है। खेचरी मुद्रा (अर्थात् अमृत-पान मेरी साधना है) परमानन्द प्राप्त हो गया है।

व्याख्या

'धैर्यकन्था' का तात्पर्य यह है कि धैर्य हमारा शारीरिक आवरण है। सामान्यत: हम अति अधीर हो जाते हैं, क्योंकि हम समय द्वारा सीमित आयाम में रहते हैं। किन्तु परमहंस धैर्य नहीं खोते। उनकी दुनिया या आयाम समय से सीमित नहीं होता। वे परमात्मा में निवास करते हैं; यह आयाम समय के परे है; इसकी कोई विभाजक रेखाएँ नहीं होतीं। अत: धैर्य उनकी बाह्य पहचान या आवरण है।

'उदासीन कौपीनम्' का अभिप्राय यह है कि अनासक्ति ही मेरा कौपीन है। यह अति सारगर्भित कथन है। हम अपने सभी वस्त्रों को उतार सकते हैं, किन्तु कौपीन से अत्यधिक जुड़े रहते हैं। यहाँ परमहंस कह रहे हैं कि उनके व्यक्तित्व का ऐसा कोई अंग नहीं है जिसे वे किसी चीज से ढकना चाहते हैं। वे अपने अस्तित्व के किसी पहलू से सम्बद्ध नहीं हैं तथा सिर्फ अनासक्तिरूपी कौपीन धारण करते हैं।

'विचारदण्ड' का अर्थ यह है कि चिन्तन-मनन ही वह दण्ड है जिसके सहारे वे गतिमान रहते हैं। चिन्तन-मनन या विचार-प्रक्रिया के दण्ड की सहायता से वे अपने आध्यात्मिक मार्ग पर आगे बढ़ते हैं।

'योगपट्ट' का तात्पर्य व्यक्ति के अपने नाम या अपनी पहचान से है। एक स्वामी दूसरे स्वामी से यह नहीं पूछेंगे, "आप का नाम क्या है?" वे यह पूछेंगे, "आपका योगपट्ट, आपकी पहचान क्या है?" इसीलिये परमहंस

यहाँ कह रहे हैं, *'ब्रह्मावलोकयोगपट्ट:'*। इसका अभिप्राय यह है कि ब्रह्म या परमात्मा का ज्ञान ही उनकी पहचान है। दूसरे शब्दों में, वे ब्रह्मज्ञानी हैं, इसीलिये लोग उन्हें जानते-पहचानते हैं। अन्यथा वे एक सामान्य संन्यासी होंगे, न कि परमहंस परिव्राजक संन्यासी।

'श्रियां पादुका' का तात्पर्य यह है कि परमहंस की पादुकायें बाह्य एवं आन्तरिक समृद्धि की प्रतीक हैं। परमहंस की समृद्धि शारीरिक या द्रव्यात्मक नहीं होती; यह ब्रह्माण्डीय या आध्यात्मिक होती तथा उनके सम्पूर्ण अस्तित्व में व्याप्त रहती है। जिस प्रकार चप्पल मार्ग के काँटों-कंटकों एवं पत्थरों के टुकड़ों से पैरों की रक्षा करती है, वैसे ही समृद्धि संसार के समस्त प्रकार के दु:खों से बटोही की रक्षा करती है।

'परेच्छाचरणम्' का अर्थ है, "दूसरों की आवश्यकताओं की पूर्ति करना ही मेरी इच्छा है।" अपनी उच्च अवस्था में भी परमहंस अनुभव करते हैं कि जीवन में लोगों की कुछ आवश्यकताएँ होती हैं। उनकी इच्छा है कि इन आवश्यकताओं की पूर्ति करने में वे लोगों की सहायता करें, न कि उनकी इच्छाओं की पूर्ति में। आवश्यकता-पूर्ति परमावश्यक है, किन्तु इच्छा-पूर्ति आवश्यक नहीं हो सकती। महत्त्वाकांक्षा तो निश्चय ही एक आवश्यकता नहीं हो सकती। परमहंस जब तक अपने शरीर और मन का उपयोग कर रहे हैं तब तक उनकी एकमात्र इच्छा दूसरों की सहायता करना है। उनके शरीर और मन के अवसान के साथ उनकी यह इच्छा भी समाप्त हो जाती है।

'कुण्डलिनी बन्ध:' का तात्पर्य है, "कुण्डलिनी मेरा एकमात्र बन्धन है।" कुण्डलिनी बन्धन कैसे हो सकती है, क्योंकि प्रत्येक साधक तो कुण्डलिनी को जगाने का प्रयास कर रहा है? वस्तुत: सुषुप्त अजाग्रत कुण्डलिनी बन्धन है। परमहंस के लिये सुषुप्त कुण्डलिनी ही एकमात्र बन्धन है। एक बार जग जाने पर शिव से सायुज्य हेतु वह सीधे सहस्रार तक जायेगी।

'परापवादमुक्तो जीवनमुक्त:' का अभिप्राय है, "जो दूसरों की निन्दा नहीं करता वह जीवन मुक्त है।" दूसरों की निन्दा करने का तात्पर्य केवल यह है कि हम उन्हें समझने में सक्षम होते तो उनकी निन्दा करने का प्रश्न ही नहीं उठता। जब हम परिस्थितियों को समझने में असमर्थ होते हैं, तभी आलोचना या निन्दा आरम्भ होती है। यदि हम दूसरों को समझने में सक्षम होते हैं तो आलोचना या निन्दा करने की आवश्यकता ही नहीं होती। यदि किसी

साधक ने अपनी निन्दक प्रवृत्ति को समाप्त कर लिया है तो इसका तात्पर्य है कि उसने अपने निम्नतर मन का अतिक्रमण कर लिया है। निम्नतर मन का अतिक्रमण होते ही साधक मुक्ति प्राप्त कर लेता है।

'शिवयोगनिद्रा च' का तात्पर्य है, "मैं शिव-सायुज्य में विश्रान्ति की अवस्था में हूँ।" जब तक मुझे यह सायुज्य प्राप्त नहीं है तब तक उसकी प्राप्ति हेतु मुझे सजग, सक्रिय एवं सतत् प्रयासरत बने रहना है। किन्तु एक बार शिवत्व प्राप्त कर लेने अथवा दिव्य सत्ता की मांगलिक प्रकृति से तादात्म्य हो जाने पर मैं विश्रान्ति की अवस्था प्राप्त कर लेता हूँ। उस अवस्था में मैं निर्भय होकर पूर्ण शिथिलता एवं शान्ति से सोता हूँ।

'खेचरीमुद्रा च' का अर्थ है, "खेचरीमुद्रा मेरी साधना है।" बिन्दु चक्र से टपकते हुए अमृत के पान हेतु खेचरी मुद्रा का अभ्यास किया जाता है। कुण्डलिनी योग के अनुसार खेचरी मुद्रा की सिद्धि से काया-कल्प सम्भव होता है। खेचरी मुद्रा या अमृत-पान ही परमहंस की साधना है। इस साधना द्वारा वे नश्वर शरीर अथवा नश्वर आवरण का त्याग करके अमरत्व प्राप्त कर लेते हैं।

'परमानन्दी' का अभिप्राय यह है कि इन समस्त साधनाओं के अभ्यास से परमानन्द की प्राप्ति होती है।

निर्गुणगुणत्रयम् ॥ 26 ॥

अर्थ

(मेरा ब्रह्म-ज्ञान) तीनों गुणों (के प्रभावों) से रहित है।

व्याख्या

संसार एवं मन से सम्बद्ध सब-कुछ तीनों गुणों की अन्त:क्रियाओं से अनुबन्धित होता है। किन्तु परमहंस द्वारा प्राप्त आत्म-ज्ञान सतो-रजो-तमो गुणों से नियमित-अनुबन्धित नहीं होता। यह समस्त प्रकार के अनुबन्धनों एवं प्रभावों से पूर्णत: मुक्त होता है।

विवेकलक्ष्यम् मनोवागगोचरम् ॥ 27॥

अर्थ

(मेरी) दिशा विवेक है जो मन और वाणी की पहुँच के परे है।

व्याख्या

यहाँ वाणी का तात्पर्य बहिर्मुखी इन्द्रिय तथा मन का अभिप्राय सूक्ष्म इन्द्रिय से है। वाणी का उपयोग लोगों से सम्पर्क या संचार हेतु किया जाता है; यह एक बाह्य प्रक्रिया है। मन का उपयोग किसी विषय-वस्तु को समझने के लिये किया जाता है; यह एक आन्तरिक प्रक्रिया है। परमहंस की दिशा विवेक है; वे सतत् विवेक की दिशा में ही गतिमान रहते हैं। विवेक की प्राप्ति न तो सूक्ष्म मानसिक अनुभवों से हो सकती है, न ही स्थूल बाह्य अनुभवों से। यह स्थूल एवं सूक्ष्म अथवा वाणी एवं मन के परे है।

अनित्यं जगद्यज्जनितं स्वप्नजगदभ्रगजादि तुल्यम्। तथा देहादिसंघातं मोहगुणजालकलितं तद्रज्जुसर्पवत्कल्पितम् ॥ 28॥

अर्थ

यह व्यक्त जगत् स्वप्न में आकाश में हाथी देखने के समान असत्य एवं रस्सी में सर्प देखने जैसा भ्रम है। यह शारीरिक तन्त्र मोह एवं त्रिगुणों से रचित है।

व्याख्या

यह दृश्य जगत् नश्वर है। जब आप स्वप्न में आकाश में हाथी देखते हैं तब जगने पर तुरन्त समझ लेते हैं कि यह सत्य नहीं है। इसी प्रकार यह संसार भी सत्य नहीं है।

यह शरीर भी सत्य नहीं है। यह भौतिक शरीर मोह एवं त्रिगुणों से निर्मित तन्त्र है। यदि हम रात्रि के समय सड़क पर रस्सी के एक टुकड़े को देखते हैं तो सोचने लगते हैं कि यह एक सर्प है। यह भ्रमित पहचान का उदाहरण है। इसी प्रकार यदि हम अपने शरीर को देखकर इसे सृष्टि की अन्तिम कृति माने तो हमारी यह मान्यता सही नहीं होगी, क्योंकि यह शरीर मोह एवं सतत् परिवर्तनशील त्रिगुणों द्वारा निर्मित एक तन्त्र है।

यह चिरस्थायी नहीं है। केवल शाश्वत सत्ता ही अव्यय, परिवर्तनरहित तथा मोह एवं त्रिगुणों से मुक्त है।

विष्णुविध्यादिशताभिधानलक्ष्यम् ॥ 29॥

अर्थ

ब्रह्मा, विष्णु, आदि (जैसे) तथा अन्य सैकड़ों देवता (एक ही) ब्रह्म में समाहित होते हैं।

व्याख्या

ब्रह्मा, विष्णु, शिव, आदि जैसे सौ देवता हो सकते हैं, किन्तु वे सभी एक ही ब्रह्म में समाहित होते हैं। एक सामान्य सांसारिक व्यक्ति अनेक रूपों में दिव्य सत्ता को देखता-समझता-पहचानता है। किन्तु अन्ततः ये समस्त रूप एक ही परम ब्रह्म की अभिव्यक्तियाँ हैं, तथा प्रत्येक साधक को उसे ही प्राप्त करना है।

अंकुशो मार्गः ॥ 30॥

अर्थ

अंकुश (अनुशासन) ही मार्ग है।

व्याख्या

अंकुश एक तीक्ष्ण उपकरण है, जो हाथी के परिचालन-नियन्त्रण हेतु प्रयुक्त होता है। जिस प्रकार घोड़े को निर्देशित-नियन्त्रित करने के लिये लगाम का उपयोग करते हैं, वैसे ही हाथी को चलाने हेतु अंकुश का उपयोग किया जाता है। अंकुश एक मार्ग है, विधि है। हम अंकुश से ऐसे हाथी को नियन्त्रित कर लेते हैं जो कि हमसे कई गुणा बड़ा है। इसी प्रकार अनुशासन की एक निश्चित प्रक्रिया द्वारा अपने व्यक्तित्व की अनियन्त्रित एवं उच्छृंखल अभिव्यक्तियों को नियन्त्रित करते हुए हम सही मार्ग पर आगे बढ़ सकते हैं।

शून्यं न संकेतः ॥ 31 ॥

अर्थ

शून्य संकेतरहित (मार्ग) है।

व्याख्या

अन्ततः शून्य ही मार्ग है। शून्यावस्था में साधक के मार्ग पर कोई मार्गपट्ट नहीं रहता। अनुशासन के द्वारा हम अपने को इस प्रकार प्रशिक्षित करने में सफल होते हैं कि हम शून्यावस्था का अनुभव करने लगते हैं। शून्य का तात्पर्य 'कुछ नहीं' से है, जहाँ वह सब-कुछ समाप्त हो गया है जिसे भौतिक और शारीरिक कहते हैं। एक बार शून्यावस्था प्राप्त हो जाने पर साधक के मार्ग पर कोई मार्गपट्ट अथवा मील के पत्थर नहीं रह जाते।

परमेश्वरसत्ता ॥ 32 ॥

अर्थ

वहाँ केवल परमेश्वर की सत्ता विराजती है।

व्याख्या

अनुशासन अथवा साधना द्वारा आप शून्यावस्था तक ही जा सकते हैं। जब आप शून्यावस्था में पहुँच जाते हैं तथा अन्य सब-कुछ समाप्त हो जाता है तब मात्र एक चीज रह जाती है और वह है परमेश्वर की सत्ता। वहाँ पुरुषार्थ पूर्णतः समाप्त हो जाता है तथा साधक दिव्य शक्ति के संगीत से संचालित होने लगता है।

सत्यसिद्धयोगो मठः ॥ 33 ॥

अर्थ

पूर्णतः सिद्ध योग ही मठ है।

व्याख्या

इस सूत्र में तीन विचार सामने आते हैं–योग, मठ तथा पूर्ण सिद्धि। एक परमहंस योग के माध्यम से आत्म-ज्ञानरूपी सिद्धि प्राप्त करते हैं। तदुपरान्त इस सूत्र में मठ का उल्लेख है। मठ का वातावरण अनासक्ति, अपरिग्रह, सत्यनिष्ठा तथा यम-नियम के अनुशासन से प्रकाशित रहता है। ऐसे वातावरण में एक साधक का आचरण कैसा होना चाहिये? जब कोई व्यक्ति योग सिद्ध कर लेता है तो उपर्युक्त अनुशासित जीवन-पद्धति उसके व्यक्तित्व का एक अभिन्न अंग बन जाती है।

अत: इस सूत्र का तात्पर्य यह है कि एक आत्म-ज्ञानी परमहंस ऐसे मठ अथवा आश्रम में निवास करते हैं जहाँ का वातावरण पूर्णत: अनुशासित होता है। वहाँ यम-नियम का अनुपालन स्वत:-स्वभावत: होने लगता है।

अमरपदं तत्स्वरूपम् ॥ 34 ॥

अर्थ

शाश्वत पद ही उस (ब्रह्म) का स्वरूप है।

व्याख्या

'अमरपदं' का अभिप्राय शाश्वत अवस्था से है। 'तत्स्वरूपम्' का तात्पर्य 'उसके रूप' या 'ब्रह्म' से है। शाश्वत अवस्था या शाश्वत सत्ता उस ब्रह्म का स्वरूप है जिसे परमहंस ने योगाभ्यास द्वारा प्राप्त कर लिया है।

आदिब्रह्म स्वसंवित् ॥ 35 ॥

अर्थ

आदि ब्रह्म स्वचैतन्य या आत्म-चैतन्य है।

व्याख्या

वह शाश्वत अवस्था जिसमें शाश्वत सत्ता एवं ब्रह्म के अस्तित्व का अनुभव होता है, स्वयं में चेतना है। स्वसंवित् का अर्थ साधक की अपनी चेतना से है, जो ब्राह्मी चेतना ही है। योग सिद्धि द्वारा मैंने अपनी चेतना के अन्तर्गत

शाश्वत सत्ता की वह अवस्था प्राप्त कर ली है जहाँ मैं ब्रह्म एवं समग्र ब्राह्मी सृष्टि का अनुभव करता हूँ।

अजपागायत्री विकारदण्डो ध्येयः ॥ 36 ॥

अर्थ

गायत्री (मन्त्र) पर सतत् ध्यान करना (आन्तरिक) रूपान्तरण का दण्ड है।

व्याख्या

अजपा का तात्पर्य 'मन्त्र की अखण्ड आवृत्ति' से है। गायत्री वह मन्त्र है जिसका जप निरन्तर होता रहता है। मन्त्र का अखण्ड जप ध्यान की अन्तिम अवस्था का प्रतीक है जहाँ चेतना में नाम, रूप या विचारों के प्रभाव से बिखराव-छितराव या उद्विग्नता नहीं होती। चेतना सम्पूर्णतः मन्त्र के मनन पर ही केन्द्रित रहती है।

गायत्री एक अति विशिष्ट मन्त्र है जिसके द्वारा दिव्य सत्ता के अनुभव की अभिव्यक्ति होती है। गायत्री मन्त्र का तात्पर्य समस्त कार्यों में चाहे वह इन्द्रियों, मन या अहंकार द्वारा सम्पादित आन्तरिक कार्य हो अथवा कोई बाह्य कार्य ईश्वर के अस्तित्व का प्रत्यक्ष अनुभव करना है।

'*विकारदण्डो ध्येयः*' का अर्थ है कि 'गायत्री पर एकाग्रता (आन्तरिक) रूपान्तरण का दण्ड है।' गायत्री मन्त्र की अखण्ड, सतत् आवृत्ति रूपान्तरण का दण्ड है।

इस साधना द्वारा मनोविकारों को पृथक्, नियन्त्रित एवं रूपान्तरित तथा मन को शुद्ध किया जाता है। गायत्री मन्त्र पर अखण्ड, निरन्तर एकाग्रता सकारात्मक मानसिक रूपान्तरण का साधन है।

मनोनिरोधिनी कन्था ॥ 37 ॥

अर्थ

(एक परमहंस परिव्राजक संन्यासी के लिए) मनोनिरोध ही आवरण है।

व्याख्या

यह इस सम्पूर्ण उपनिषद् के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सूत्रों में से एक है। यदि परमहंस को मनोनियन्त्रण प्राप्त है तो यह उसके लिये आवरण का काम करता है। मन:शक्ति पर पूर्ण नियन्त्रण तथा पूर्ण मानसिक स्पष्टता मनोनिरोध के महत्त्वपूर्ण पहलू हैं। इसके परिणामस्वरूप उचित-अनुचित, सही-गलत का विवेक तथा सजगता की प्राप्ति होती है। मनोनिरोध सर्वोत्तम वस्त्र या आवरण है। वस्त्र शरीर को सुरक्षा एवं आराम प्रदान करता है। इसी प्रकार एक मुक्तात्मा परमहंस मनोनिरोधरूपी वस्त्र धारण करते हैं। इस आवरण से मन, भावना, चित्त एवं आत्मिक आयामों में सामंजस्य, निरन्तरता एवं अनुशासन की प्राप्ति होती है।

योगेन सदानन्दस्वरूपदर्शनम् ॥ 38 ॥

अर्थ

योगाभ्यास द्वारा शाश्वत आनन्द की प्राप्ति हो सकती है।

व्याख्या

यह कथन स्पष्ट है। यहाँ एक अनुशासन, एक मार्ग, मार्ग पर दृढ़तापूर्वक बढ़ने तथा अपनी जीवन-पद्धति एवं मानसिकता को तदनुसार ढालने की आवश्यकता को योग के नाम से पारिभाषित किया गया है। स्पष्टत: यह कहा जा रहा है कि योग-मार्ग के अनुसरण द्वारा शाश्वत आनन्द अथवा ब्रह्म का अनुभव प्राप्त किया जा सकता है।

आनन्दभिक्षाशी ॥ 39 ॥

अर्थ

वे आनन्दरूपी भिक्षा प्राप्त करते हैं।

व्याख्या

जिन लोगों ने शाश्वत सत्य का दर्शन कर लिया है, वे आनन्दरूपी भिक्षा प्राप्त करते हैं। एक गरीब आदमी जो कुछ माँगता है उसे भिक्षा कहते हैं। जीवात्मा

आनन्द की भिक्षा की कामना करता है। शाश्वत सत्य का दर्शन होते ही उसे आनन्दरूपी भिक्षा मिल जाती है।

महाश्मशानेऽप्यानन्दवने वास: ॥ 40॥

अर्थ

(उनके लिए इस मायामय जगत्) के महाश्मशान में रहना भी आनन्दवन में निवास करने जैसा है।

व्याख्या

जिन लोगों ने आनन्दरूपी भिक्षा प्राप्त कर ली है उनके लिये इस मायामय जगत् के महाश्मशान में रहना आनन्दवन में वास करने जैसा है। यहाँ इस संसार को महा श्मशान कहा गया है। श्मशान उस स्थान का प्रतीक है जहाँ भौतिक शरीर का विसर्जन या विलय होता है। इसका तात्पर्य शरीर के अस्तित्व के अस्तित्वहीन हो जाने से है। इसी प्रकार इस मायामय जगत् में एक अवस्था से दूसरी अवस्था में होने वाले प्रत्येक प्रकार के विलय या रूपान्तरण का अनुभव होता है।

जब किसी व्यक्ति में कुछ अंश तक आत्मज्ञान, समझदारी एवं करुणा विकसित है उसके अन्दर यदा-कदा इस प्रकार के भाव जगते हैं, "मैं इस भ्रष्ट संसार में क्या कर रहा हूँ?" प्राप्ति की उस अवस्था में प्रतिबन्धक या नकारात्मक लक्षणों का अस्तित्व समाप्त हो जाता है। जिन्हें आनन्दरूपी भिक्षा मिल गयी है, उनके अन्दर संसार या इन्द्रियों को नकारने के भाव भी उत्पन्न नहीं होते। वे अवसाद, चिन्ता एवं निराशा से मुक्त हो जाते हैं। उनके अन्दर ऐसे भाव नहीं जगते कि "मैं यहाँ क्या कर रहा हूँ? मैं चाहता हूँ कि मैं यहाँ से विदा हो जाऊँ।" इस अवस्था में दु:ख-दर्द का कारण यह मायामय जगत् भी आनन्दवन के समान प्रतीत होता है।

एकान्तस्थानम्। आनन्दमठम् ॥ 41॥

अर्थ

एकान्त में (उनका) निवास स्थान है, जहाँ आनन्दरूपी मठ है।

व्याख्या

एकान्त का तात्पर्य निर्जनता या अकेलेपन से है। स्थानम् का तात्पर्य निवास स्थान से है। अत: सूत्र का अर्थ है, "जिस साधक ने आनन्द का अनुभव कर लिया है उसका निवास स्थान एकान्त है, और यही वह मठ है जिसमें वह रहता है।" इस स्तर के ज्ञान से युक्त व्यक्ति 'अकेलेपन' का अनुभव करेगा। इस अकेलेपन का तात्पर्य इसके शाब्दिक अर्थ से नहीं, बल्कि 'एकल पहचान' से है। आत्मा की एकल पहचान की उस अवस्था में आनन्द का भाव एवं अनुभव ही वह घर है जहाँ उस ज्ञान से युक्त व्यक्ति निवास करता है। 'आत्मा से मेरा तादात्म्य है और आनन्द मेरा निवास स्थान, मेरा घर है।'

उन्मन्यवस्था शारदा चेष्टा ॥ 42 ॥

अर्थ

मानसिक अवस्था उन्मनी (अन्तर्मुखता एवं बहिर्मुखता के बीच की अवस्था) है जो ज्ञान-प्राप्ति के प्रयासों द्वारा उपलब्ध हुई है।

व्याख्या

परमहंस की मनोवस्था उन्मनी अवस्था है। शारदा चेष्टा का अभिप्राय 'ज्ञान-प्राप्ति हेतु किये गये प्रयास से होनेवाली उपलब्धि' से है। उन्मनी अवस्था पूर्ण अन्तर्मुखता एवं पूर्ण बहिर्मुखता के बीच का द्वार है। यह बीच में खड़े होकर दोनों तरफ के दृश्यों को देखने जैसा है।

हम उन्मनी अवस्था का अनुभव नहीं करते हैं। जिस समय हम बाह्य जगत् के प्रति सजग रहते हैं उस समय हम यह नहीं जानते कि हमारे अन्दर क्या घटित हो रहा है। जब हम अपने आन्तरिक आयाम के प्रति सजग होते हैं तब बाह्य प्रभावों से कट जाते, विलग हो जाते हैं। हमारी सजगता उस हद तक विकसित नहीं हुई है कि बाह्य एवं आन्तरिक जगत् का एक साथ अनुभव किया जा सके। उन्मनी अवस्था में हम दोनों आयामों का अनुभव करते हैं, क्योंकि हम दोनों जगत् में रहते हैं। हमारा शरीर बाह्य इन्द्रिय जगत् में रहता है, जबकि आन्तरिक रूप से हम आत्मिक जगत् में रहते हैं। अत: परमहंस की सजगता दोनों आयामों के मध्य में अथवा उनके बीच के

द्वार पर है। यह उन्मनी या मध्य की अवस्था आत्म-ज्ञान की प्राप्ति हेतु किये गये प्रयासों का परिणाम है।

उन्मनी गतिः ॥ 43॥

अर्थ

मन रहित स्थिति ही उनकी गति है।

व्याख्या

अन्तर्मुखता एवं बहिर्मुखता के मध्य की अवस्था की प्राप्ति हेतु अवश्यमेव प्रयास होना चाहिये। पूर्व के सूत्र के कथन पर यहाँ बल दिया जा रहा है। इन सूत्रों में कहा जा रहा है कि उस मध्य अवस्था को प्राप्त करने हेतु प्रयास होना ही चाहिये जहाँ से स्थूल एवं आध्यात्मिक जगत्, दोनों का साथ-साथ अनुभव हो सके।

प्रयास का अभिप्राय अपनायी जाने वाली प्रक्रिया से भी है। मुख्य बात यह है कि प्रयास अथवा योगाभ्यास द्वारा एक साधक परमहंस परिव्राजक की यह अवस्था प्राप्त करता है। योग उस अवस्था को प्राप्त करने का साधन है। उस अवस्था को प्राप्त करने का सारा प्रयास योग के ढाँचे के अन्तर्गत ही होना चाहिये।

निर्मलगात्रम् निरालम्बपीठम् ॥ 44॥

अर्थ

उनका शरीर शुद्ध (है) जो आधारहीन आत्मा का आसन या स्थान है।

व्याख्या

परमहंस का शरीर शुद्ध है; यह आधारहीन आत्मा का आसन है। उस साधक का शरीर कैसा होगा जिसने ब्रह्म के साथ एकत्व स्थापित करने हेतु प्रयास करते हुए स्वयं को योग-मार्ग पर स्थापित कर लिया है? यहाँ शरीर का तात्पर्य केवल भौतिक ढाँचे से नहीं, बल्कि सम्पूर्ण व्यक्तित्व से है। यहाँ भौतिक ढाँचा इसलिये प्रासंगिक है कि शरीर एवं मन, दोनों

को निश्चित अनुशासन-समूहों का अनुसरण करना है। कुछ अनुशासन-समूह भावना एवं ज्ञान के आयामों से भी सम्बन्धित हैं। मन एवं भावनाओं को भी अनुशासित होना चाहिये। शारीरिक, मानसिक, भावनात्मक एवं आध्यात्मिक स्तरों पर व्याप्त पूर्ण सामंजस्य से शुद्धता एवं समत्व की प्राप्ति होती है। अपने अस्तित्व की इस शुद्ध अवस्था में बाह्य इन्द्रिय आकर्षणों के सहारे या आधार से मुक्त आत्मा अपनी प्रकृति या स्वरूप में स्थित रहती है। इस अवस्था में शरीर शुद्ध रहता है तथा आत्मा का आसन या आधार बन जाता है एवं आत्मा को दृश्य जगत् अथवा ब्रह्माण्ड के सहारे की आवश्यकता नहीं रह जाती।

अमृतकल्लोलानन्द क्रिया ॥ 45 ॥

अर्थ

उसके क्रिया-कलाप अमरत्व की लहरों पर आनन्ददायक होते हैं।

व्याख्या

परमहंस के क्रिया-कलाप अमरत्व की लहरों पर आनन्ददायक होते हैं। जब कोई व्यक्ति शुद्धता एवं आत्मा से एकत्व प्राप्त कर लेता है तब स्वभावतः अमर हो जाता है। अमरत्व की इस अवस्था में साधक या योगी द्वारा सम्पादित प्रत्येक कार्य आनन्दमय हो जाता है, अपने लिये भी तथा दूसरों के लिये भी।

हमारे समस्त सामान्य क्रिया-कलाप आत्म-संतुष्टि हेतु ही सम्पादित किये जाते हैं। इन्हें करते समय इस बात का ख्याल नहीं किया जाता कि इनसे दूसरों को भी सुख मिले। आत्म-केन्द्रित विचारों, भय एवं असुरक्षा के परे जाकर, वर्तमान में रहते हुए, सम्पन्न की गयी सन्तुलित अभिव्यक्ति ही दूसरों के लिये सुखकर एवं आनन्ददायक हो सकती है। सामान्य सम्बन्धों में हम अपने निकटस्थ लोगों की सुख-सुविधा का ही ख्याल करते हैं। किन्तु परमहंस-अवस्था प्राप्त व्यक्ति की अभिव्यक्ति से स्वाभाविकतया सब को सुख एवं आनन्द मिलता है। वस्तुतः यह सुख और आनन्द सर्वव्यापी होता है।

पाण्डरगगनमहासिद्धान्तः ॥ 46॥

अर्थ

चेतना का गगन प्रामाणिक सत्य है।

व्याख्या

'पाण्डरगगनम्' का अर्थ होता है चेतना का गगन और 'महासिद्धान्तः' का तात्पर्य सर्वोच्च सत्य से है। इस सूत्र का अभिप्राय है, "चेतना का गगन वह सर्वोत्कृष्ट जीवन्त सत्य है जिसका अनुभव साधक कर सकता है।" सत्य के आयाम के दर्शन की कोई व्यक्तिगत या ब्रह्माण्डीय सीमा नहीं होती। इसमें अखण्ड नैरन्तर्य होता है; यह प्राप्ति की अवस्था है, प्राप्ति की प्रक्रिया नहीं। प्रक्रिया की अवस्था में सीमाएँ अथवा बाधाएँ होंगी, किन्तु प्राप्ति की अवस्था में सतत् नैरन्तर्य होता है। एक साधक को उस सत्य को ही प्राप्त करना है जो निरन्तर, शाश्वत एवं अनन्त है।

शमदमादिदिव्यशक्त्याचरणे क्षेत्रपात्रपटुता परावरसंयोगः
तारकोपदेशः ॥ 47॥

अर्थ

उनका आचरण दिव्य शान्ति एवं आत्म-संयम (से युक्त होता है)। ग्रहण करने के मामले में वे सतर्क रहते हैं। संयोग या एकत्व से विपरीत स्थितियों का ज्ञान प्राप्त होता है। (यथा अच्छा-बुरा, या जो हुआ है और जो होगा)। निर्देश मुक्ति के लिए दिया जा रहा है।

व्याख्या

'शमदमादिदिव्यशक्त्याचरणे क्षेत्रपात्रपटुता' का अर्थ है, "परमहंस के आचरण दिव्य शान्ति एवं आत्म-संयम से युक्त होते हैं। कुछ भी ग्रहण करते समय वे सावधान रहते हैं।" इसके बाद का सूत्र है, *'परावर संयोगः तारकोपदेशः।'* परावर संयोग का अर्थ है कि संयोग या एकत्व होने पर विपरीत स्थितियों (अच्छा-बुरा, या जो हुआ है और जो होगा) का ज्ञान होता है। *'तारकोपदेशः'* का अभिप्राय मुक्ति हेतु प्रदत्त निर्देश से है। परमहंस के आचरण से ऐसी दिव्य

शान्ति अभिव्यक्त होती है जिसमें पदार्थ से लेकर आत्मिक स्तर तक के समस्त मानवीय अनुभव समाहित रहते हैं।

मानवीय अनुभव के विशाल क्षेत्र में हमें उतार-चढ़ाव, बिखराव-छितराव से गुजरना ही होता है। हम उन जीव-लयों से भी प्रभावित होते हैं जो हमारे आचरण को नियन्त्रित करते हैं। इस बिखराव-छितराव के कारण हमारा सम्पूर्ण व्यक्तित्व अशान्त हो जाता है। इन्द्रियों, विचारों एवं भावनाओं के बीच मूल प्रवृत्तियों, भावनाओं और विवेक के बीच कोई समन्वय नहीं होता। हमारे आचरण अशान्त, विक्षिप्त तथा छितराव से युक्त होते हैं। यदा-कदा हमारे विवेक पर पाशविक प्रवृत्ति हावी हो जाती है। यदा-कदा हमारी सही समझ किसी बुरे विचार या भाव से आच्छादित हो जाती है।

स्थूल से आध्यात्मिक क्षेत्रों तक परमहंस के क्रिया-कलाप सामंजस्यपूर्ण होते हैं। इसके परिणामस्वरूप उनके व्यक्तित्व से दिव्य शान्ति अभिव्यक्त होती है। यहाँ आत्म-संयम ही प्रमुख शब्द है। आत्म-संयम एक अवस्था है और एक प्रक्रिया भी। इस अवस्था को प्राप्त करना है और इस हेतु किया गया प्रयास प्रक्रिया है। सतत् प्रयास के बिना आत्म-संयम की अवस्था प्राप्त नहीं होगी। अत: प्रयास एक विशेष प्रक्रिया का प्रतीक है और आत्म-संयम योग द्वारा प्राप्त उपलब्धि है।

परमहंस ग्रहणशीलता के मामले में बहुत सावधान रहते हैं। ग्रहणशीलता एक कला है। प्राय: हम अनेक चीजें ग्रहण कर लेते हैं, यहाँ तक कि क्रोध, घृणा और ईर्ष्या भी। इन अवगुणों को ग्रहण करने के बाद हम इनसे प्रभावित होते हैं। बुद्ध के जीवन से सम्बन्धित एक कहानी है। एक क्रोधी व्यक्ति उनके सामने आकर उन्हें गालियाँ देने लगा। बुद्ध मौन रहते हुए उसकी गालियाँ सुनते रहे। जब वह थककर चुप हो गया तब बुद्ध ने उससे पूछा– “कल्पना करो कि तुम किसी व्यक्ति को कुछ उपहार देते हो। यदि वह व्यक्ति उसे स्वीकार न करे तो तुम क्या करोगे?” उसने उत्तर दिया, “मैं वह उपहार वापस ले जाऊँगा।” बुद्ध ने कहा, “ठीक इसी प्रकार मैं तुम्हारी गालियाँ स्वीकार नहीं करता हूँ, इसे वापस ले जाओ।” बुद्ध इतने निर्मल, निष्कपट हो गये थे। उन पर जो कुछ भी फेंका गया वह उनकी बगल से गुजर गया। उन पर तनिक भी प्रभाव न पड़ा, क्योंकि वे पूर्णत: प्रतिक्रियामुक्त व्यक्ति थे। हम लोग सामान्यत: प्रतिक्रियायुक्त होते हैं। बुद्ध या परमहंस जैसे आत्मज्ञानी व्यक्ति कदापि प्रतिक्रिया नहीं करते; वे तो सतत् क्रियाशील रहते हैं। ये लोग प्रतिक्रियामुक्त एवं क्रियाशील क्यों रहते हैं? संयोग या एकत्व से विपरीत स्थितियों का ज्ञान प्राप्त होता है। उन्हें

एक विशेष प्रकार का ज्ञान या समझ प्राप्त हो जाती है। ज्ञान के अभाव में सकारात्मक और नकारात्मक कार्यों या आदान-प्रदान के भेद को समझना सम्भव नहीं होगा।

अत: एकत्व या संयोग की अवस्था प्राप्त करने के बाद उन्हें विपरीत स्थितियों का ज्ञान हो जाता है। प्रकृति के आयाम में इन द्वैत स्थितियों की ही प्रधानता रहती है। द्वैत स्थितियों को प्रकट करना प्रकृति का स्वभाव है। वह कृष्ण और श्वेत, अच्छे और बुरे, दोनों को अभिव्यक्ति देती है। प्रकृति की अभिव्यक्तियाँ एक निश्चित आयाम, आकार या रूप में होती हैं, जैसे एक सिक्के के दो पहलू। किन्तु ब्रह्म, निर्वाण या मुक्ति की कोई परिभाषा नहीं होती। 'नेति, नेति' ही वेद का अन्तिम कथन है।

चार अमर ग्रन्थों में सर्वोच्च सत्ता का वर्णन करने के बाद अन्तिम कथन है, "जो कहा गया है वह 'वह' नहीं है। जो नहीं कहा गया है वह 'वह' हो सकता है और नहीं भी हो सकता।" 'नेति, नेति' का तात्पर्य है कि जो कुछ कहा गया है उसमें विश्वास न करें। आत्म-ज्ञान की कोई व्यक्तिगत प्रक्रिया अपनाइये जिससे सम्पूर्ण बोध की प्राप्ति होती है। इससे प्रकृति में व्याप्त विपरीत स्थितियों का ज्ञान होता है। परमहंस के समस्त कार्य इस ज्ञान द्वारा ही निर्देशित होते हैं। निर्देश मुक्ति हेतु दिया जाता है। परमहंस के वे कार्य जो विपरीत स्थितियों के ज्ञान द्वारा निर्देशित होते हैं, मुक्ति के निर्देश बन जाते हैं।

अद्वैतसदानन्दो देवता ॥ 48 ॥

अर्थ

शाश्वत आनन्द की अद्वैत अवस्था ही (मुक्ति की) प्रकाश है।

व्याख्या

अद्वैत का अर्थ होता है एकत्व, एक ही, दूसरा नहीं। सदानन्द: का तात्पर्य है शाश्वत आनन्द तथा देवता का अभिप्राय स्वप्रकाशित अवस्था से है। मुक्ति का स्वप्रकाश शाश्वत आनन्द की अद्वैत अवस्था है। अच्छे-बुरे गुणों का ज्ञान होते हुए भी इस अवस्था में कोई नकारात्मक अथवा सकारात्मक प्रतिक्रिया नहीं होती। इन दो विपरीत स्थितियों का ज्ञान तो रहता है, किन्तु इस द्वैत अवस्था में

भी परमहंस अद्वैत का ही दर्शन या अनुभव करते हैं, जो कि शाश्वत आनन्द का एकीकारक पहलू है।

नियमः स्वान्तरिन्द्रियनिग्रहः ॥ 49 ॥

अर्थ

आन्तरिक इन्द्रियों का संयम ही नियम है।

व्याख्या

योगी किन नियमों या आचार संहिता का अनुसरण करते हैं? इसे स्पष्टतः आन्तरिक इन्द्रियों के संयम के रूप में वर्णित किया गया है। आन्तरिक इन्द्रियाँ छः हैं–पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और छठा मन। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ बुद्धि के आन्तरिक गुण हैं। ये तर्क एवं समझदारी के आयाम से सम्बन्धित हैं, जिन्हें हम व्यक्ति एवं बाह्य जगत् के बीच की अन्तःक्रिया के रूप में अनुभव करते हैं। ये ज्ञानेन्द्रियों के कार्य हैं। इस सन्दर्भ में मन वह पहलू है जो ज्ञानेन्द्रियों की अन्तःक्रियाओं को देख रहा है, उन्हें आत्मसात् कर रहा है, उन पर सोच रहा है तथा उन अनुभवों को अपना ज्ञान समझ रहा है। इन छः इन्द्रियों को आन्तरिक इन्द्रियों के नाम से जाना जाता है। इनके संयम को ही एक परमहंस योगी के नियम या आचार संहिता के रूप में जाना जाता है।

भयमोहशोकक्रोधत्यागस्त्यागः ॥ 50 ॥

अर्थ

भय, मोह, शोक और क्रोध का त्याग ही असली त्याग है।

व्याख्या

संसार में सर्वप्रथम त्याज्य वस्तु है भय। भय या असुरक्षा का सम्बन्ध स्थूल मन, सूक्ष्म मन तथा भावनाओं से रहता है। व्यक्ति को अपने अस्तित्व के खोने का तथा अज्ञात का भय भी रहता है। हम भय एवं असुरक्षा का अनुभव विभिन्न प्रकार से करते हैं तथा उनमें से प्रत्येक समान रूप से शक्तिशाली होता है।

भय मानव व्यक्तित्व को अनेक प्रकार से प्रभावित करता है, जिससे व्यक्ति की जीवन-पद्धति एवं आदतें पूरी तरह बदल जाती हैं। अतः भय का त्याग प्रथम स्थान में आता है।

द्वितीय स्थान में मोह आता है। जिस वस्तु से असक्ति हो उससे तादात्म्य हो जाना मोह है। इन्द्रिय जगत् के प्रति इस तादात्म्ययुक्त आसक्ति का त्याग होना ही चाहिये। आसक्ति से दुःख-दर्द होता है, प्रेम और घृणा की अभिव्यक्ति होती है, जबकि अनासक्ति में एक वैश्विक दृष्टिकोण होता है।

त्यागने योग्य तीसरी चीज शोक है। जब आसक्ति के सभी बन्धन टूट जाते हैं तब शोक स्वतः समाप्त हो जाता है। क्रोध निराशाजनित प्रतिक्रिया है। इसका भी त्याग होना चाहिये।

परावरैक्यरसास्वादनम् ॥ 51 ॥

अर्थ

अच्छे-बुरे (विपरीत स्थितियों) में एकत्व का अनुभव करना।

व्याख्या

यह पूर्व के सूत्रों का पुष्टिकरण है। विपरीत स्थितियाँ स्वाभाविक हैं। एक ही प्रकृति समस्त विपरीत स्थितियों का निर्माण करती है। प्रकृति स्वयं दो में विभक्त नहीं होती। विपरीत स्थितियाँ एक ही प्रकृति की भिन्न-भिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं। एक सिक्के के अग्रभाग एवं पृष्ठभाग एक-दूसरे से अलग नहीं हैं; वे एक ही सिक्के के दो पहलू है। उस साम्यता में जब मन स्थिर होता है तब वह अग्र या पृष्ठ भाग की ओर नहीं खिंचाता है। उस अवस्था में अच्छे-बुरे या सकारात्मक-नकारात्मक का अस्तित्व नहीं रहता। यहाँ योगी एकत्व का अनुभव करता है।

अनियामकत्वनिर्मलशक्तिः ॥ 52 ॥

अर्थ

(आत्मा के) अनियामकत्व की समझ ही वास्तविक शक्ति है।

व्याख्या

यहाँ व्यक्ति के अपने अस्तित्व के खोने के स्थायी भय की चर्चा हो रही है। जब हम अपने अस्तित्व के प्रति अति सजग होते हैं तब नियामकत्व या नियन्त्रक का भाव उत्पन्न होता है– "मैं स्वयं को, अपने विचारों तथा अन्य लोगों को नियन्त्रित करता हूँ; मैं नहीं चाहता कि किसी अन्य व्यक्ति के विचार मुझे नियन्त्रित करें।"

सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के सन्दर्भ में 'मैं-पन' की प्रक्रिया ही नियामकत्व या नियन्त्रण का भाव है। यदि मैं नियन्त्रक नहीं हूँ तो कोई अन्य जीव नियन्त्रक होगा, किन्तु नियन्त्रण रहेगा ही। यदि किसी जीव का नियन्त्रण नहीं रहेगा तो ब्रह्म का, परमात्मा का नियन्त्रण रहेगा। अत: नियन्त्रण रहेगा ही। ये प्रत्येक जीवात्मा को प्रदत्त सीमित शक्तियाँ हैं।

समग्रता या समत्व भाव की प्राप्ति के बाद आत्मा के अनियामकत्व को जानना एवं उसका अनुभव करना ही वास्तविक शक्ति है। मैं कर्त्ता नहीं हूँ; मैं भोक्ता नहीं हूँ; मैं निर्देशित हो रहा हूँ। मैं मात्र एक वाद्य हूँ, जिसे एक संगीतज्ञ बजा रहा है। एक वाद्य या उपकरण स्वयं को नियन्त्रित नहीं करता। जब आप एक उपकरण हो जाते हैं तथा स्वयं के अनियामकत्व के प्रति सजग भी; तब जो अवस्था प्राप्त होती है उसी का यहाँ वर्णन हो रहा है।

स्वप्रकाशब्रह्मतत्त्वे शिवशक्तिसंपुटितप्रपञ्चच्छेदनम् तथा पत्राक्षाक्षिकमण्डल-भावाभावदहनम् ॥ 53 ॥

अर्थ

परमात्मा के स्वप्रकाश में शिव एवं शक्ति द्वारा आच्छादित मायामय जगत् का लय हो जाता है। सर्जित तत्त्वों का अस्तित्व एवं उनका आधान या पात्र, सभी जलकर भस्म हो जाते हैं।

व्याख्या

यहाँ तीन दृष्टिकोणों की अभिव्यक्ति हो रही है–(1) तत्त्वों का अस्तित्व एवं अनस्तित्व, (2) शिव और शक्ति का मायामय जगत्, तथा (3) परमात्मा का स्व-प्रकाश।

इस प्रक्रिया के वर्णन में महत् एवं इन्द्रियाँ तत्त्वों के अस्तित्व एवं अनस्तित्व के प्रतीक हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ बोध एवं ज्ञान के उपकरण अथवा साधन हैं। वे बुद्धि के विस्तार हैं; उन्हें हम बुद्धि-इन्द्रियाँ भी कह सकते हैं, क्योंकि बोध, सजगता एवं ज्ञान की प्राप्ति बुद्धि के स्तर पर ही होती है। बुद्धि शब्द का मूल रूप बुध् धातु है, जिसका अर्थ होता है सजग होना, जानना। इस प्रकार बुद्धि जानने की, ज्ञान प्राप्त करने की एक प्रक्रिया है। इन्द्रिय संवेदनाएँ मनोस्थित बुद्धि को बाह्य सूचनाएँ प्रदान करती हैं। अन्य इन्द्रियाँ कर्मेन्द्रियाँ हैं, जिनका उपयोग व्यक्त या भौतिक जगत् से अन्त: क्रिया हेतु होता है।

प्रबुद्ध सजगता की अवस्था में इन्द्रिय अनुभवों का लय हो जाता है। प्रत्येक इन्द्रिय बोध अथवा इन्द्रिय क्रिया एक अनोखा क्षेत्र है। ज्ञान ग्रहण करने एवं कार्य करने की स्वतन्त्र विधि के आधार पर इसकी पहचान होती है। प्रबुद्ध सजगता की प्रक्रिया में इन्द्रियों की इस आदान-प्रदान की प्रक्रिया का लय हो जाता है। इन्द्रियों की समस्त अभिव्यक्तियों में एकरूपता या सामंजस्य स्थापित हो जाता तथा व्यक्तिपरक कोई लक्षण शेष नहीं रह जाता।

यह अवस्था आन्तरिक मन:शक्ति के क्षेत्र में भी प्राप्त होती है, क्योंकि सम्पूर्ण मन स्वयं में एक इन्द्रिय है, जिसके चार अंग हैं– मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार। ये सूक्ष्म इन्द्रियाँ हैं, जो हमें यह ज्ञान प्रदान करती हैं कि 'मैं हूँ', 'मेरा अस्तित्व है', 'मैं अन्त:क्रिया करता हूँ'। तथापि चेतना के नैरन्तर्य के अनुभव की प्रक्रिया में जब व्यक्तिगत पहचान का लय होता है तब महत् अथवा अन्त:मन का भी लय हो जाता है।

चेतना के नैरन्तर्य में तत्त्वों के अस्तित्व एवं अनस्तित्व के अनुभव का लय हो जाता है। शरीर एवं मन अपने-अपने नियमों द्वारा संचालित होते हैं, किन्तु स्व की पहचान नहीं रहती। यदि कोई मुझे तमाचा लगाता है तो दर्द होता है। यदि कोई शुभ समाचार देता है तो मैं प्रसन्न होता हूँ। कोई दु:खद समाचार सुनकर मैं दु:खी होता हूँ। यह सब-कुछ आत्म-तादात्म्य के कारण होता है। किन्तु उपर्युक्त स्तर पर शरीर तथा मन के साथ आत्म-तादात्म्य नहीं होता। केवल चेतना के सतत् प्रवाह का अनुभव होता है।

द्वितीय कथन के अनुसार, शिव और शक्ति के मायामय जगत् का लय हो जाता है। मन और इन्द्रियों के नियन्त्रित रहने पर हमारे अन्दर एकीकरण एवं सामंजस्य की जो अवस्था प्राप्त होती है, उसे संयम की अवस्था कहते हैं।

संयम की अवस्था में सर्वप्रथम हमें विवेक अथवा सही समझ प्राप्त होती है। द्वितीय चीज, जिसे विकसित करने की आवश्यकता है, वह है वैराग्य। इसका तात्पर्य है रागरहित होना या इन्द्रिय जगत् के प्रति आकर्षण का अभाव। इस अवस्था में अनासक्त भाव से आन्तरिक सन्तुलन बनाए रखने का प्रयास होता है। हम भौतिक सामग्रियों के बीच रहते हुए भी उनसे आसक्त नहीं होते। यहाँ सांसारिक अनुभवों से कटने की नहीं, बल्कि स्वीकारने की बात हो रही है। किन्तु इस स्वीकृति का मानव मन अथवा व्यक्तित्व पर कोई सकारात्मक या नकारात्मक प्रभाव नहीं होता।

जब अहंकार या इच्छा के प्रभाव से रहित स्वीकृति का अनुभव होता है तब वह संयम, अर्थात् वैराग्य और विवेक की अवस्था होती है। यह अति कठिन किन्तु प्रेरणा एवं पूर्णता प्रदान करने वाली प्रक्रिया है। उस स्वीकृति को हम कैसे सीखें जो हमारे मन, व्यवहार एवं कार्य को प्रभावित न करे? क्या स्वीकृति को एक यथार्थ मानकर? प्रत्येक व्यक्ति को स्वयं अपना मार्ग पाना है। जब व्यक्ति आकर्षण-विकर्षण से रहित होकर स्वीकृति का अनुभव करता है तब माया या राग-द्वेष की अवस्था का लय हो जाता है। *'शिवशक्ति संपुटित प्रपञ्चच्छेदनम्'* सूत्र का यही तात्पर्य है।

शिव और शक्ति प्रकृति की द्वैत शक्तियाँ हैं, जिन्हें विभिन्न परम्पराओं में भिन्न-भिन्न नाम दिये गये हैं–तन्त्र में शिव और शक्ति, वेदान्त में ब्रह्म और माया तथा सांख्य में पुरुष और प्रकृति। इस प्रकार विभिन्न परम्पराओं में शिव का उल्लेख व्यक्त और अव्यक्त; स्थूल, सूक्ष्म और कारण चेतना के प्रतीक के रूप में तथा शक्ति का वर्णन व्यक्त और अव्यक्त; स्थूल, सूक्ष्म और कारण ऊर्जा के प्रतीक के रूप में हुआ है। चेतना और ऊर्जा के बीच निरन्तर अन्त: क्रियाएँ होती रहती हैं।

चेतना और ऊर्जा के बीच अनेक स्तरों पर अन्त:क्रियाएँ होती रहती हैं– शारीरिक, मानसिक, भावनात्मक, इन्द्रियेतर एवं आध्यात्मिक। प्रत्येक व्यक्ति में गुणों की विशिष्टता, प्रवृत्ति एवं प्रकृति की प्रधानता के अनुसार ही शिव और शक्ति की क्षमता या सत्ता की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ होती हैं। पुनः, विवेक और वैराग्य की प्राप्ति होते ही विशिष्टता या प्रकृति की व्यक्तिगत पहचान का लय हो जाता है। अत: शिव और शक्ति के असत्य, मायामय या इन्द्रिय जगत् का लय हो जाता तथा साधक प्रबुद्ध सजगता के स्व-प्रकाश का अनुभव करने लगता है।

बिभ्रत्याकाशाधारम् ॥ 54॥

अर्थ

प्रकाशमान् आकाश आधार (होता है)।

व्याख्या

इस सन्दर्भ में आकाश का तात्पर्य चेतना की सर्वज्ञता के आयाम से है, जिसकी कोई सीमा-रेखा या परिभाषा नहीं होती। यदि चेतना के सम्पूर्ण क्षेत्र में कोई सीमा-रेखा होगी अथवा उसकी कोई परिभाषा होगी तो वहाँ द्वैत का, 'यह और वह' का अनुभव होगा। जब कोई सीमा-रेखा नहीं होती, मात्र सर्वज्ञता का अनुभव रहता है, तब वह समस्त विचारों एवं कार्यों की उत्पत्ति का आधार बनता है।

शिवं तुरीयं यज्ञोपवीतम्। तन्मया शिखा ॥ 55॥

अर्थ

शुभ तुरीया (चौथी) अवस्था उनका यज्ञोपवीत है और पूर्ण लय (तन्मयता) उनकी शिखा है।

व्याख्या

यहाँ जो वर्णन हो रहा है वह थोड़ा प्रतीकात्मक है। भारतीय परम्परा में ब्राह्मण लोग, जिन्हें द्विज भी कहा जाता है, पवित्र धागा धारण करते हैं। बोल-चाल की भाषा में इसे जनेऊ तथा शास्त्रीय भाषा में यज्ञोपवीत कहा जाता है। यज्ञ अग्नि से पुनर्जन्म का प्रतीक है तथा अग्नि पुराने के लय एवं नये की उत्पत्ति का प्रतीक है। यौगिक परम्परा के अनुसार तुरीय चौथी अवस्था है। तुरीय की प्राप्ति से नये अस्तित्व की उत्पत्ति होती है जिसमें सामर्थ्य (कन्धे), करुणा (हृदय) एवं सहारे (कटि) का संयोग रहता है। यज्ञोपवीत के धागे में ये तीनों क्षेत्र समाहित रहते हैं।

चेतना की चार अवस्थाएँ होती हैं – जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय। व्यक्त जगत् में सक्रिय चेतना को जाग्रत कहा जाता है। स्वप्न का तात्पर्य निद्रावस्था में सूक्ष्म जगत् की चेतना से है। गहरी निद्रावस्था में सक्रिय चेतना को सुषुप्ति कहते हैं। तुरीय का अभिप्राय अतीन्द्रिय चेतना से है।

चेतना की तीन निम्नतर अवस्थाओं में कोई आत्मिक परिवर्तन नहीं होता; केवल जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति की विभिन्न अवस्थाओं का अनुभव होता है।

तथापि तुरीय की अवस्था में सर्वज्ञ, सर्वव्यापी एवं सर्वशक्तिमान् सजगता से भिन्न कोई व्यक्ति-परक या पहचान योग्य अनुभव नहीं होता। इस प्रकार जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति के विलय के परिणामस्वरूप एक नये व्यक्तित्व की उत्पत्ति होती है, जिसे द्विज कहा जाता है। वे जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति की अवस्थाओं के लय के अनुभव के रूप में यज्ञोपवीत धारण करते हैं। यह ब्राह्मी अवस्था की प्राप्ति का प्रतीक है।

'तन्मया शिखा' का तात्पर्य है कि उस विलय में शिखा का लोप हो जाता है। शिखा बिन्दु चक्र का प्रतीक है। यह वह बिन्दु है जहाँ सूक्ष्म-ब्रह्माण्ड बृहत्-ब्रह्माण्ड में रूपान्तरित होता है; व्यक्तिपरक आत्मा ब्रह्माण्डीय आत्मा के रूप में अभिव्यक्त होती है। बाह्य रूप से शिखा सिर के पीछे स्थित बालों का एक गुच्छा है। किन्तु यहाँ परमहंस किसी बाह्य प्रतीक की चर्चा नहीं कर रहे हैं। किसी बाह्य प्रतीक से उनका कोई तादात्म्य नहीं है। शिखा यहाँ बिन्दु चक्र का प्रतीक है, जहाँ सूक्ष्म और बृहत् ब्रह्माण्ड का पारस्परिक विलय घटित होता है। इस प्रकार मानवीय अनुभव के एक अन्य स्तर का अतिक्रमण होता है। परमहंस प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ एवं इनसे परे आयामों में भी आत्मा के एकत्व के प्रति सजग रहते हैं।

चिन्मयं चोत्सृष्टिदण्डम् संतताक्षिकमण्डलुम् ॥ 56॥

अर्थ

चैतन्यमय होकर संसार त्याग ही दण्ड है, ब्रह्म का नित्य दर्शन कमण्डलु है।

व्याख्या

चिन्मय उच्चतर चेतना का दण्ड है। इस सन्दर्भ में चिन्मय स्व-प्रकाश की शक्ति और सर्वशक्ति-सम्पन्नता का प्रतीक है। यह उच्चतर सृष्टि के लिये दण्ड या जादू की छड़ी का काम करता है। साधक 'वही' हो जाता है। जैसा कि पूर्व में कहा गया है, वही होने का यह अनुभव केवल सर्वज्ञता की अवस्था तक सीमित नहीं है। यहाँ इस बात पर बल दिया गया है कि यह स्व-प्रकाश

सर्वशक्ति-सम्पन्नता की विशिष्टता से युक्त है एवं इस विशिष्टता के साथ उसका तादात्म्य हो रहा है। यहाँ ज्ञान ही नहीं, बल्कि शक्ति भी है। ज्ञान एवं शक्ति का विलय ही चिन्मय की अवस्था है। यही शक्ति उच्चतर सृष्टि का माध्यम होती है।

इस सूत्र में आगे कहा जाता है, *"संतताक्षिकमण्डलुम्।"* इसका अर्थ है, "सतत् सजगता जल-पात्र है।" अक्षि का शाब्दिक अर्थ होता है नेत्र। यहाँ हमें नेत्र को मानव के द्रष्टा या सजग होने की क्षमता के प्रतीक के रूप में समझना चाहिये। यहाँ परमहंस समझा रहे हैं कि यज्ञोपवीत, शिखा, दण्ड एवं जल-पात्र भारत में शुद्ध-पवित्र सन्त-महात्माओं की पहचान के बाह्य लक्षण हैं, किन्तु वस्तुतः वे एक अन्य अवस्था या यथार्थता के प्रतीक हैं। परमहंस चतुर्थ या तुरीय अवस्था में स्थित रहते हैं, जो सतत् सजगता की अवस्था है। यह सर्वोच्च चेतना के साथ पूर्ण सायुज्य की अवस्था है।

कर्मनिर्मूलनं कन्था। मायाममताहंकारदहनम् ॥ 57॥

अर्थ

कर्म का निर्मूलन एक काल्पनिक संलाप या विचार है। माया, ममता और अहंकार को भस्मीभूत (करना है)।

व्याख्या

यह अति महत्त्वपूर्ण कथन है, क्योंकि सामान्यतः प्रत्येक साधक अपने कर्म को यथाशीघ्र निर्मूल करने का प्रयास कर रहा है। किन्तु यदि आप अहंकार को समाप्त नहीं कर सकते; अहंकार की अभिव्यक्ति तथा ममता, आसक्ति, इच्छा, राग-द्वेष को नियन्त्रित एवं निर्देशित नहीं कर सकते और मन को भ्रमित होने से नहीं रोक सकते, तो कर्मो के निर्मूलन की बात मत कीजिये। इस तरह का विचार कल्पनामात्र है।

अपने कर्मों के निर्मूलन या स्वयं को प्रकृति या माया के बन्धन से मुक्त करने हेतु आप यौगिक साधना की कोई भी प्रक्रिया अपना सकते हैं या आपके मार्गदर्शक द्वारा आपको प्रदान की जा सकती है। किन्तु इतने से काम नहीं चलेगा। इसके लिये आपको ममता अथवा स्वत्वबोध, आसक्ति, लालसा, इच्छा एवं महात्त्वाकांक्षा को नष्ट करने तथा अहंकार

एवं क्रोध, घृणा, ईर्ष्या और लोभ को पराभूत करने हेतु अधिकतम प्रयास करना होगा।

इन दोनों अनुभवों को नियन्त्रित एवं निर्देशित करने के बाद आप मायामय जगत् की ओर ध्यान दे सकते हैं। मायामय जगत् से बाहर आने पर ही कर्मों का निर्मूलन सम्भव है। जब तक आप इन्द्रियों एवं मन के प्रभाव में हैं, कर्मों का निर्मूलन नहीं हो सकता; चाहे आप कितनी भी साधना या ध्यान करें।

श्मशाने अनाहताङ्गी ॥ 58 ॥

अर्थ

श्मशान में उसका शरीर अक्षत या बेचोट बना रहता है।

व्याख्या

श्मशान में माया का प्रभाव, ममता या स्वत्वबोध तथा अहंकार भस्मीभूत हो जाते हैं, किन्तु शरीर अक्षत या बेचोट बना रहता है। यहाँ शरीर का तात्पर्य उस आत्म-सत्य से है जिसके अन्दर सब-कुछ समाहित है। सीमित अस्तित्व या व्यक्ति का तो लय होता है, किन्तु स्थूल स्तर पर हो रहे परिवर्तन से यह आत्म-सत्य या आत्मा प्रभावित नहीं होती। और यह परिवर्तन श्मशान-भूमि में हो रहा है।

निस्त्रैगुण्यस्वरूपानुसंधानं समयम् भ्रान्तिहरणम्। कामादिवृत्तिदहनम्। काठिन्यदृढकौपीनम्। चीराजिनवासः। अनाहतमन्त्रमक्रिययैव जुष्टम्। स्वेच्छाचारस्वस्वभावो मोक्षः ॥ 59 ॥

अर्थ

तीनों गुणों से रहित स्वरूप की खोज ही सर्वस्वीकृत सत्य है। इससे भ्रान्ति नष्ट हो जाती है। कामादि मनोवृत्तियों को जला देना चाहिए। कठोर दृढ़ता ही कौपीन है। वल्कल ही वस्त्र है। अनहद् ध्वनि मन्त्र है। उन्मुक्त कार्य-सम्पादन उनकी प्रकृति है। परं ब्रह्म में विलय मुक्ति है।

व्याख्या

'तीनों गुणों से रहित स्वरूप की खोज ही सर्वस्वीकृत सत्य है।' इस अवस्था में स्थूल, सूक्ष्म और कारण स्वरूपों; जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति के अनुभव; सात्त्विक, राजसिक एवं तामसिक गुणों तथा चेतन, अवचेतन एवं अचेतन की सीमाओं का अस्तित्व नहीं रह जाता। इनके अस्तित्वहीन होने पर त्रिगुणरहित स्वरूप का दर्शन होता है। यही यथार्थ सत्य या ब्रह्म-ज्ञान है। तदुपरान्त भ्रान्ति, लालसा, भय, दु:ख-दर्द, क्रोध एवं अन्य समस्त मनोवृत्तियाँ विनष्ट हो जाती हैं।

'कठोर दृढ़ता ही कौपीन है।' सत्य से विलय का दृढ़ संकल्प ही कौपीन है। लोगों के सामने कौपीन का त्याग सर्वाधिक कठिन कार्य है। आप अपनी कमीज एवं पतलून त्याग सकते हैं, किन्तु कौपीन का त्याग न आपको पसन्द आयेगा न अन्य लोगों को ही। अत: संकल्प या दृढ़निश्चय कौपीन के समान ही महत्त्वपूर्ण है। वस्त्र वृक्ष की छाल के समान तथा यह भौतिक शरीर वृक्ष के समान है। वृक्ष और शरीर, दोनों ही प्रकृति के क्षेत्र में आते हैं। आत्मा या चेतना प्रकृति के इस आवरण का उपयोग करती है। इस प्रकार आत्मा या प्रबुद्ध सजगता प्रकृति जनित वस्तुओं से आवेष्टित है।

'मन्त्र अनहद् ध्वनि है।' सर्वज्ञता, सर्वव्यापकता एवं सर्वशक्तिसम्पन्नता की अवस्था में अनहद् नाद ही मन्त्र है, न कि *ॐ नम: शिवाय* या कोई अन्य मन्त्र। अनहद् नाद ही वह ब्रह्माण्डीय स्पन्दन है जो सृष्टि और प्रलय का कारण है। अणु के नाभिक में भी एक स्पन्दन है। उस स्पन्दन की एक ध्वनि होती है, जो अनहद्, अश्रुत एवं अव्यक्त है। हम लोग ध्वनि शब्द का प्रयोग कर रहे हैं, क्योंकि आधुनिक भौतिक विज्ञान एवं प्राचीन सिद्धान्तों के अनुसार जहाँ भी गति होती है वहाँ निश्चय ही स्पन्दन होता है। और जहाँ भी स्पन्दन होगा वहाँ अवश्यमेव ध्वनि होगी। किन्तु जब मैं प्रबुद्ध सजगता की अवस्था में ध्वनि बन जाता हूँ, तब मैं शाश्वत स्पन्दन का नाद होता हूँ। यही कारण है कि परमहंस की प्रकृति उन्मुक्त क्रियाशीलता की होती है; उनके लिये मुक्ति का तात्पर्य होता है परब्रह्म से मिलन।

प्लववदाचरणम्। ब्रह्मचर्यशान्तिसंग्रहणम्। ब्रह्मचर्याश्रमेऽधीत्य वानप्रस्थाश्रमेऽधीत्य स सर्वविन्नयासं संन्यासम्। अन्ते ब्रह्माखण्डाकारम्। नित्यं सर्वसन्देहनाशनम् ॥ 60॥

अर्थ

उनके आचरण (संस्कार समुद्र के ऊपर) तैरने जैसे होते हैं। ब्रह्मचर्य और शान्ति उनके संग्रह हैं। विद्यार्थी के रूप में ब्रह्मचर्य आश्रम में अध्ययन एवं वानप्रस्थ आश्रम (वन में निवास) के बाद उनके अन्दर जो रहता है, वह सब-कुछ दिव्य सत्ता को समर्पित कर देते हैं। यही संन्यास है। अन्ततः उन्हें अनुभूति होती है कि ब्रह्म का स्वरूप अखण्ड और शाश्वत है, और तब उनके समस्त सन्देह विनष्ट हो जाते हैं।

व्याख्या

परमहंस का आचरण समुद्र की सतह के ऊपर से गुजरने जैसा होता है। बच्चे जब जल पर चपटे पत्थर फेंकते हैं तब वे जल की सतह को छूते हुए आगे बढ़ते हैं और गति के समाप्त होने पर ही जल में डूबते हैं। इसी प्रकार परमहंस संसार में रहते हुए भी संसार के नहीं होते। वे कमल के समान होते हैं। कमल जल से उत्पन्न होता है, किन्तु जल की एक बूँद भी उसका स्पर्श नहीं कर सकती। वह जल-प्रतिरोधी होता है। परमहंस का जीवन, उनका शिक्षण एवं कार्य नश्वर संसार में ही संचालित-सम्पादित होते हैं, किन्तु उनकी प्रबुद्ध सजगता का इस नश्वर जगत् से कोई सम्बन्ध नहीं होता।

ब्रह्मचर्य और शान्ति उनके संग्रह या सम्पत्ति हैं। यहाँ ब्रह्मचर्य का तात्पर्य यौन-संयम से नहीं, बल्कि सत्य में स्थित होने से है। परमहंस की पहली सम्पत्ति है, सत्य में उनकी स्थिति। उनकी दूसरी सम्पत्ति है, शान्ति। उनके अन्दर किसी प्रकार की अशान्ति नहीं रहती। एक बार शाश्वत सत्य में स्थित होने के बाद उनके अन्दर अशान्ति नहीं रह जाती; पूर्ण शान्ति विराजती है। ये दो, ब्रह्मचर्य और शान्ति, परमहंस के संग्रह या सम्पत्ति हैं।

सर्वप्रथम परमहंस ब्रह्मचर्य आश्रम में अध्ययन करते हैं। वहाँ एक विद्यार्थी या नव-संन्यासी का जीवन जीते हुए वे ज्ञान प्राप्त करने की प्रेरणा प्राप्त करते हैं। तदुपरान्त वे वानप्रस्थ आश्रम या एकान्त में

अध्ययन करते हैं। एक विद्यार्थी के रूप में अन्य लोगों के साथ तदनुकूल वातावरण में रहते हुए वे ज्ञान प्राप्ति की अभिलाषा रखते हैं। उस ज्ञान की प्राप्ति के बाद वे अन्तर्मुखी हो जाते हैं तथा साधना की एक प्रक्रिया का अनुसरण करते हुए उस ज्ञान का विश्लेषण एवं अनुभव करने लगते हैं। इसके बाद ज्ञान की पिपासा या लालसा का भी त्याग हो जाता है। यहाँ से आगे उपर्युक्त प्रक्रिया का भी त्याग हो जाता है तथा पूर्ण संन्यास का मार्ग प्रारम्भ होता है। इस पूर्ण संन्यास के माध्यम से परमहंस यह अनुभव करते हैं कि ब्रह्म का रूप अखण्ड है तथा वे शाश्वत हैं।

एतन्निर्वाणदर्शनं शिष्यं पुत्रं विना न देयाम्। इत्युपनिषत् ॥ 61 ॥

अर्थ

शिष्य या पुत्र के अतिरिक्त अन्य किसी को इसका उपदेश नहीं करना, ऐसा यह रहस्य है।

व्याख्या

शिष्य वह है जो गुरु के मार्गदर्शन या निर्देश का अन्त तक अनुसरण करने हेतु प्रतिबद्ध है। यदि किसी व्यक्ति में इस प्रकार की अन्त:प्रेरणा या प्रतिबद्धता का अभाव है तथा वह केवल समय काटने हेतु आध्यात्मिक जीवन के सम्बन्ध में गप-शप करना चाहता है तो समझना चाहिये कि उसमें इस प्रकार के ज्ञान को प्राप्त करने की योग्यता नहीं है। इस प्रक्रिया के अनुसरण हेतु ग्रहणशीलता एवं तल्लीनता आवश्यक है। शिष्य का मन ग्रहणशील, सशक्त एवं सकारात्मक होना चाहिये।

शिष्य में उपर्युक्त तीन विशेषताएँ होनी चाहिये। सशक्त होने का तात्पर्य केवल यह नहीं है कि वह शारीरिक शक्ति प्राप्त करे तथा दूसरे शिष्य से टकराये। शिष्यों को एकल पर्वत नहीं, बल्कि एकीकृत पर्वत होना चाहिये। शिष्य को सकारात्मक भी होना चाहिये। सकारात्मक होने का तात्पर्य केवल अच्छाई के अनुपालन तथा बुराई की अवहेलना से नहीं है। इसका अभिप्राय यह है कि उसे अपराध-भाव, भय, असुरक्षा एवं ऐसे ही अन्य बन्धनों से मुक्त होना चाहिये जो उसे अवसाद, चिन्ता, निराशा एवं नकारात्मक अवस्था में ले जाते हैं।

ग्रहणशीलता, समर्पण तथा मार्गदर्शक के इच्छानुसार प्रवाहित होने की क्षमता शिष्य के तीसरे गुण की श्रेणी में आते हैं। मार्गदर्शक के इच्छानुसार प्रवाहित होना ही वास्तविक समर्पण है। यह कहना कि "मैं अपने शरीर, हृदय, आत्मा तथा स्वयं को समर्पित करता ", समर्पण नहीं है। आज भी हजारों लोग ऐसा कहेंगे और कल भी कई हजार लोग ऐसा कहेंगे, किन्तु इन हजारों लोगों के बीच वास्तव में एक या दो ही चमकेंगे। ये वे लोग हैं जिन्होंने स्वयं को पूर्णत: समर्पित कर दिया है; जिन्होंने दैवी इच्छा के साथ प्रवाहित होना सीख लिया है। ऐसा सोचना कि "कल से मैं अपने गुरु के प्रत्येक निर्देश का पालन करूँगा", स्वयं को धोखा देना है। समर्पण एक आध्यात्मिक साधक का अति महत्त्वपूर्ण गुण है। समर्पित साधकों के अनुभव से सम्बन्धित अनेक उदाहरण हैं। सन्त फ्रान्सिस ने कहा, "मुझे अपनी शान्ति का उपकरण बनाओ।" जब श्रीकृष्ण से पूछा गया कि आपकी वंशी आपको इतनी प्रिय क्यों है, तब उन्होंने कहा, "क्योंकि यह अन्दर से बिल्कुल खोखली है, खाली है; मैं इससे कोई भी सुर निकाल सकता हूँ।" समर्पण का अर्थ होता है स्वयं को खाली कर देना। ये शिष्य के गुण होते हैं तथा ऐसे व्यक्ति को ही ज्ञानोदय के निर्देश दिये जाने चाहिये।

ऐसे निर्देश सन्तान को भी दिये जा सकते हैं। सामान्यत: शारीरिक बच्चे को सन्तान कहा जाता है, क्योंकि हम शरीर के आधार पर ही तादात्म्य स्थापित करते हैं। किन्तु 'मानस पुत्र' को भी सन्तान कहा जाता है। इनमें संकल्प-जनित, अवतारी, दिव्य एवं देव-प्रदत्त बच्चे आते हैं। इनकी दिव्य प्रकृति अथवा गुण शक्तिपात के परिणाम होते हैं। सन्तान का तात्पर्य केवल आनुवांशिक होने से नहीं है। एक शिष्य भी सन्तान हो सकता है। यहाँ आध्यात्मिक अनुवंश भी विचारणीय है।

शिष्य की चेतना को उन्नत बनाने हेतु गुरु शक्तिपात कर सकते हैं, बशर्ते कि वह इसके लिये तैयार हो। यह तैयारी पूर्वजन्म की साधना अथवा वर्तमान जीवन में सीमाओं के अतिक्रमण का परिणाम हो सकती है। जब गुरु शक्तिपात करते हैं तब उस शक्ति को ग्रहण करने वाला साधक उनकी सन्तान हो जाता है। गुरु युवा तथा वह सन्तान सौ वर्ष की हो सकती है। ऐसा शक्तिपात अनुकूल परिस्थितियों में, सही समय पर तथा उपयुक्त साधक पर किया जाता है। एक परमहंस के लिये पुत्र का यही तात्पर्य होता है। यहाँ सन्तान का तात्पर्य उस साधक से है जो आध्यात्मिक शक्ति का संचार ग्रहण

करता है। ऐसे सुयोग्य साधकों को ही उच्चतर ज्ञान एवं तत्सम्बन्धी प्रक्रिया की शिक्षा दी जा सकती है।

इति निर्वाणोपनिषत्समाप्ता: ॥ 62 ॥

अर्थ

इस प्रकार निर्वाणोपनिषद् समाप्त होता है।

व्याख्या

इसके साथ ही हम इस अनोखे एवं महत्त्वपूर्ण निर्वाणोपनिषद् की व्याख्या समाप्त करते हैं।

कुण्डिकोपनिषद्

एक सौ आठ प्रमुख उपनिषदों में इस उपनिषद् का स्थान चौहत्तरवाँ है तथा यह सामवेद का एक अंग है। इसमें संन्यास के पूर्व के कर्त्तव्यों, पुनर्जन्म के अतिक्रमण हेतु संन्यास के महत्त्व तथा इसके नियमों एवं अनन्त-असीम ब्रह्म के साक्षात्कार द्वारा मुक्ति की प्राप्ति की चर्चा है।

कुण्डिकोपनिषत्ख्यातपरिव्राजकसंततिः ।
यत्र विश्रान्तिमगमत्तद्रामपदमाश्रये ॥

प्रसिद्ध कुण्डिकोपनिषद् परिव्राजक तपस्वियों के लिये है। इस अवस्था में वे शाश्वत शान्ति (ब्रह्मपद) प्राप्त करते हैं। मैं उस ब्रह्मपद की शरण में जाना चाहता हूँ।

शान्ति पाठ

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि, वाक् प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि। सर्वं ब्रह्मोपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोत् , अनिराकरणमस्त्वनिराकरणंमेऽस्तु । तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु, ते मयि सन्तु ॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

ॐ! मेरे सभी अंग, वाणी, नेत्र, सामर्थ्य, अन्य सभी इन्द्रियाँ एवं योग्यताएँ सतर्क, अति सक्रिय एवं पूर्ण विकसित हों। उपनिषदों में वर्णित सब-कुछ

ब्रह्म ही है। मैं निश्चय ही ब्रह्म की अवहेलना न करूँ और न ब्रह्म ही मेरी अवहेलना करें। ब्रह्म मेरा अस्वीकरण न करें और न मैं ही उन्हें अस्वीकृत करूँ। उपनिषदों में उद्घाटित सभी गुण मुझमें प्रकट हों एवं मेरी आत्मा को परमानन्द प्रदान करें। वे (गुण) मुझमें प्रकट हों।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

हरि ॐ ब्रह्मचर्याश्रमेऽक्षीणे गुरुशुश्रूषणे रतः ।
वेदानधीत्यानुज्ञात उच्यते गुरुणाश्रमी ॥ 1 ॥

अर्थ

गुरु सेवा में लीन रहते हुए अध्यवसायपूर्वक वेदाध्ययन द्वारा ज्ञान प्राप्त करने के बाद व्यक्ति का ब्रह्मचर्य जीवन समाप्त होता है।

दारमाहृत्य सदृशमग्निमाधाय शक्तितः ।
ब्राह्मीमिष्टिं यजेत्तासामहोरात्रेण निर्वपेत् ॥ 2 ॥

अर्थ

(तब वह विद्यार्थी) पत्नी प्राप्त करता है तथा उसे पवित्र अग्नि (मानता है)। (तब उसे सन्तान की प्राप्ति हेतु) ब्राह्मी यज्ञ करना चाहिये एवं इसके द्वारा उसका गर्भाधान करना चाहिये।

संविभज्य सुतानर्थे ग्राम्यकामान्विसृज्य च ।
संचरन्वनमार्गेण शुचौ देशे परिभ्रमन् ॥ 3 ॥

अर्थ

अपनी सन्तानों के कल्याणार्थ उसे (धन का) विभाजन कर देना चाहिये तथा तुच्छ सांसारिक कर्त्तव्यों को त्याग कर वन-मार्गों से तीर्थाटन पर निकलना चाहिये।

वायुभक्षोऽम्बुभक्षो वा विहितैः कन्दमूलकैः ।
स्वशरीरे समाप्याथ पृथिव्यां नाश्रु पातयेत् ॥ 4 ॥

अर्थ

वहाँ उसे वायु, जल एवं विहित कन्द-मूल पर जीवन निर्वाह करना चाहिये। उसे अपने शरीर द्वारा केवल इन्हें ही ग्रहण करना चाहिये। उसके आँसू भूमि पर न गिरें।

सह तेनैव पुरुषः कथं संन्यस्त उच्यते ।
सनामधेयो यस्मिंस्तु कथं संन्यस्त उच्यते ॥5॥

अर्थ

(अन्यथा) उस व्यक्ति को संन्यासी कैसे कहा जा सकता है, यदि वह यश की कामना करे तो संन्यासी कैसे कहला सकता है?

तस्मात्फलविशुद्धाङ्गी संन्यासं संहितात्मनाम् ।
अग्निवर्णं विनिष्क्रम्य वानप्रस्थं प्रपद्यते ॥6॥

अर्थ

(इन प्रयासों के) परिणामस्वरूप उस शुद्ध शरीर से युक्त व्यक्ति को अपनी अन्तर्दृष्टि के सहारे अग्नि (गृहस्थ-जीवन) से बाहर आकर वानप्रस्थ जीवन अपनाना चाहिये।

लोकवद्भार्यया सक्तो वनं गच्छति संयतः ।
संत्यक्त्वा संसृतिसुखमनुतिष्ठति किं मुधा ॥7॥

अर्थ

अपनी जीवन-संगिनी से आसक्त एक सांसारिक व्यक्ति आत्म-नियन्त्रण प्राप्त करने के बाद वन में चला जाता है तथा सांसारिक भोगों को त्यागकर वहाँ निवास करता है। क्या यह (प्रयास) व्यर्थ है?

किंवा दुःखमनुस्मृत्य भोगांस्त्यजति चोच्छ्रितान् ।
गर्भवासभयाद्भीतः शीतोष्णाभ्यां तथैव च ॥8॥

अर्थ

अथवा क्या (आदमी) पुन: गर्भ में रहने और द्वन्द्वों का सामना करने के भय से (और संसार के) दु:खों के स्मरण के कारण आत्यन्तिक सुखों का त्याग करता है?

गुह्यं प्रवेष्टुमिच्छामि परं पदमनामयमिति ।
संन्यस्याग्निमपुनरावर्तनं यन्मृत्युर्जाय मावहमिति ।
अथाध्यात्ममन्त्राञ्जपेत् । दीक्षामुपेयात्काषायवासा: ।
कक्षोपस्थलोमानि वर्जयेत् । ऊर्ध्वबाहुर्विमुक्तमार्गो भवति ।
अनिकेतश्चरेद्भिक्षाशी । निदिध्यासनं दध्यात् ।
पवित्रं धारयेज्जन्तुसंरक्षणार्थम् । तदपि श्लोका भवन्ति ।
कुण्डिकां चमसं शिक्यं त्रिविष्टपमुपानहौ ।
शीतोपघातिनीं कन्थां कौपीनाच्छादनं तथा ॥9॥

अर्थ

"पवित्र अग्नि (गृहस्थाश्रम के उत्तरदायित्व) के त्याग के बाद वापस न आने हेतु मैं पवित्र सर्वोच्च सत्ता में प्रवेश करना चाहता हूँ, जिससे मृत्यु पर विजय प्राप्त होती है तथा वापस नहीं लौटना पड़ता।" तदुपरान्त साधक को आध्यात्मिक मन्त्रों का जप करना चाहिये। दीक्षा प्राप्त करने के बाद उसे गेरू वस्त्र पहनना तथा मुण्डन (काँख एवं गुप्त भागों को छोड़कर) कराना चाहिये। एक हाथ ऊपर उठाए हुए (वह महात्मा किसी निश्चित) पंथ या मार्ग से मुक्त हो जाता है। उसे अनिकेत, सतत् भ्रमणशील एवं भिक्षा पर आश्रित रहते हुए अखण्ड ध्यान में निमग्न रहना चाहिए। प्राणियों की रक्षा के लिये उसे पवित्रता बनाए रखनी चाहिए। (आवश्यक निर्देश हेतु) अन्य श्लोक भी हैं–(उसके पास) एक जल-पात्र, चम्मच, सुतली का थैला, त्रिदण्ड, पादुका, कम्बल, कन्था, कौपीन तथा (अन्य आवश्यक) वस्त्र भी (होना चाहिए)।

पवित्रं स्नानशाटीं च उत्तरासङ्गमेव च ।
अतोऽतिरिक्तं यत्किंचित्सर्वं तद्वजयेद्यति: ॥10॥

अर्थ

स्नान के समय उपयोग में लाने वाला एक तौलिया और एक उत्तरीय भी (होना चाहिए)। इनके अलावा अन्य सभी चीजों का त्याग होना चाहिए।

नदीपुलिनशायी स्याद्देवागारेषु बाह्यत: ।
नात्यर्थं सुखदु:खाभ्यां शरीरमुपतापयेत् ॥ 11 ॥

अर्थ

उसे नदी के किनारे या मन्दिर के बाहर सोना चाहिए। उसे सुख या दु:ख (गर्मी या सर्दी) हेतु शरीर को कष्ट नहीं पहुँचाना चाहिए।

स्नानं पानं तथा शौचमद्भि: पूताभिराचरेत् ।
स्तूयमानो न तुष्येत निन्दितो न शपेत्परान् ॥ 12 ॥

अर्थ

उसे स्नान, पीने एवं सफाई हेतु शुद्ध जल का उपयोग करना चाहिए। उसे किसी अच्छे आदमी की स्तुति एवं किसी बुरे आदमी की निन्दा करने का प्रयास नहीं करना चाहिए।

भिक्षादि वैदलं पात्रं स्नानद्रव्यमवारितम् ।
एवं वृत्तिमुपासीनो यतेन्द्रियो जपेत्सदा ॥ 13 ॥

अर्थ

उसे किसी फल के आधे भाग (जैसे नारियल की खोपड़ी) से बने पात्र में भिक्षा ग्रहण करनी चाहिए तथा स्नान के लिए ऐसी सामग्रियों का उपयोग करना चाहिए जो वर्जित न हों। आत्म-संयम के उद्देश्य से उपासना का अभ्यास करने वाले व्यक्ति को निरन्तर जप करना चाहिए।

विश्वायमनुसंयोगं मनसा भावयेत् सुधी: ।
आकाशाद्वायुर्वायोर्ज्योतिर्ज्योतिष आपोऽद्भ्य: पृथिवी ।
एतेषां भूतानां ब्रह्म प्रपद्येऽजरममरमक्षरमव्ययं प्रपद्ये ।

मय्यखण्डसुखाम्भोधौ बहुधा विश्ववीचय: ।
उत्पद्यन्ते विलीयन्ते मायामारुतविभ्रमात् ॥ 14॥

अर्थ

ज्ञानी व्यक्ति को अपने मन में सोचना चाहिए कि जो मानव शरीर मुझे संयोगवश मिला है वह संसार के कल्याणार्थ है। आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी उत्पन्न हुई है। मैं उस ब्रह्म की ओर अभिमुख होता हूँ जो पाँच तत्त्वों का स्रष्टा है; वह अजर, अमर, अव्यय है और सम्पूर्ण है। यह संसार अखण्ड सुख के समुद्र की सतह पर मायारूपी वायु द्वारा निर्मित ज्वार-भाटे के समान है।

न मे देहेन सम्बन्धो मेघेनेव विहायस: ।
अत: कुतो मे तद्धर्मा जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु ॥15॥

अर्थ

जैसे बादल आकाश का (अंग नहीं है), वैसे ही मैं शरीर से सम्बद्ध नहीं हूँ। तब मैं अपनी जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति की अवस्था में उस (स्थूल) प्रकृति का कैसे हो सकता हूँ?

आकाशवत्कल्पविदूरगोऽहमादित्यवद्भास्यविलक्षणोऽहम् ।
अहार्यवन्नित्यविनिश्चलोऽहमम्भोधिवत् पारविवर्जितोऽहम् ॥16॥

अर्थ

अपनी कल्पना (विचार) में मैं बिल्कुल आकाश जैसा हूँ। ज्ञान में मैं बिल्कुल पर्वत जैसा हूँ। मैं सूर्य के समान देदीप्यमान् और विलक्षण हूँ। मैं सदैव पर्वत के समान निश्चल हूँ। मैं सदैव असीम सागर के समान हूँ।

नारायणोऽहं नरकान्तकोऽहं पुरान्तकोऽहं पुरुषोऽहमीश्वर: ।
अखण्डबोधोऽहमशेषसाक्षी निरीश्वरोऽहं निरहं च निर्मम: ॥ 17॥

अर्थ

मैं नारायण (विष्णु) हूँ। मैं नरकासुर का वध करने वाला (कृष्ण) हूँ। मैं पुरा दानव का वध करने वाला (शिव) हूँ। मैं वह पुरुष (शरीर में निवास करने वाला) और वह ईश (ईश्वर) हूँ। मैं अविच्छिन्न ज्ञान हूँ। मैं पूर्ण साक्षी हूँ। मेरा कोई स्वामी नहीं हैं; मैं अहंकार एवं आसक्ति से मुक्त हूँ।

तदभ्यासेन प्राणापानौ संयम्य तत्र श्लोका भवन्ति ।
वृषणापानयोर्मध्ये पाणी आस्थाय संश्रयेत् ।
संदश्य शनकैर्जिह्वां यवमात्र विनिर्गताम् ॥ 18 ॥

अर्थ

प्राण और अपान को संतुलित करने के अभ्यास हेतु निम्नलिखित (निर्देश) हैं–(मुँह से) जौ के दाने के बराबर बाहर निकली हुई जीभ को (दाँतों से) धीरे से दबाते हुए दोनों हाथों को गुदा एवं अण्डकोश के बीच अगल-बगल रखें।

माषमात्रीं तथा दृष्टिं श्रोत्रे स्थाप्य तथा भुवि ।
श्रवणे नासिके गन्धा यत: त्वं न च संश्रयेत् ॥ 19 ॥

अर्थ

दृढ़ आसन लगाकर आंशिक रूप से खुली (चने के आकार की) आँखों से एकटक देखें तथा कानों एवं नासिका को नियन्त्रित करें (अर्थात् इन्द्रियों के भटकाव को रोकें)।

अथ शैवपदं यत्र तद्ब्रह्म ब्रह्म तत्परम् ।
तदभ्यासेन लभ्येत पूर्वजन्मार्जितात्मनाम् ॥ 20 ॥

अर्थ

तदुपरान्त (मनन करें) कि शिव का स्थान कहाँ है, वह ब्रह्म है और वह ब्रह्म सर्वोच्च सत्ता है। जिन लोगों ने पूर्व जन्म में (योगाभ्यास द्वारा ज्ञान) प्राप्त कर लिया है, वे अभ्यास द्वारा उस ब्रह्म को प्राप्त कर लेते हैं।

संभूतैर्वायुसंश्रावैर्हृदयं तप उच्यते ।
ऊर्ध्वं प्रपद्यते देहाद्भित्त्वा मूर्धानमव्ययम् ॥21॥

अर्थ

वायु (प्राणायाम) द्वारा उत्पन्न हृदय के स्पन्दन को ध्यानपूर्वक सुनना तप कहा जाता है। सिर के शीर्ष का भेदन करके अव्यय आत्मा शरीर से (बाहर) ऊपर की ओर जाती है।

स्वदेहस्य तु मूर्धानं ये प्राप्य परमां गतिम् ।
भूयस्ते न निवर्तन्ते परावरविदो जनाः ॥22॥

अर्थ

जिन लोगों ने द्वन्द्वों का ज्ञान प्राप्त कर लिया है, वे सिर के शीर्ष (सहस्रार या सर्वोच्च अवस्था) पर पहुँचने के बाद पुनः वापस नहीं लौटते।

न साक्षिणं साक्ष्यधर्माः संस्पृशन्ति विलक्षणम् ।
अविकारमुदासीनं गृहधर्माः प्रदीपवत् ॥ 23॥

अर्थ

उन (अभ्यासियों) का व्यवहार विलक्षण होना चाहिए। वे न तो साक्षी हैं और न साक्षी की प्रकृति से युक्त। वे अपरिवर्तनशील और प्रदीप के समान अनासक्त (प्रकाशित वस्तुओं से अप्रभावित रहने वाला) होते हैं।

जले वापि स्थले वापि लुठत्वेष जडात्मकः ।
नाहं विलिप्ये तद्धर्मैर्घटधर्मैर्नभोयथा ॥ 24॥

अर्थ

जैसे मिट्टी से बना पात्र आकाश (जिसमें वह स्थित है) से लिप्त नहीं होता, वैसे ही मैं (जड़ वस्तु की तरह) जल या पृथ्वी से, जो कि मेरा आधार है, लिप्त नहीं होता हूँ।

निष्क्रियोऽस्म्यविकारोऽस्मि निष्कलोऽस्मि निराकृतिः ।
निर्विकल्पोऽस्मि नित्योऽस्मि निरालम्बोऽस्मि निर्द्वयः ॥ 25॥

अर्थ

मैं निष्क्रिय हूँ। मैं अविभाज्य हूँ। मैं निराकार हूँ। मैं निर्विकल्प हूँ। मैं शाश्वत और निरालम्ब हूँ तथा मेरे समान कोई दूसरा नहीं है।

सर्वात्मकोऽहं सर्वोऽहं सर्वातीतोऽहमद्वयः ।
केवलाखण्डबोधोऽहं स्वानन्दोऽहं निरन्तरः ॥ 26॥

अर्थ

मैं सर्वव्यापी और सब-कुछ हूँ तथा सबके परे हूँ। मेरे समान कोई दूसरा नहीं है। मैं अखण्ड ज्ञान (बोध) हूँ। मैं सदा आत्मानन्द हूँ।

स्वमेव सर्वतः पश्यन्मन्यमानः स्वमद्वयम् ।
स्वानन्दमनुभुञ्जानो निर्विकल्पो भवाम्यहम ॥ 27॥

अर्थ

मैं स्वयं को सर्वत्र देखता हूँ और मानता हूँ कि मेरे समान कोई दूसरा नहीं है। मैं निर्विकल्प परमानन्द का अनुभव करने वाला हूँ।

गच्छंस्तिष्ठन्नुपविश्ञ्छयानो वान्यथापि वा ।
यथेच्छया वसेद्विद्वानात्माराम: सदा मुनिः ॥ 28॥

अर्थ

जो मुनि सदैव प्रसन्न (आत्म-आनन्दित) हैं उन्हें चलने-फिरने, रुकने, बैठने, सोने अथवा किसी अन्य अवस्था में अपने इच्छानुसार रहना चाहिए। इस प्रकार यह उपनिषद् समाप्त होता है।

॥ इत्युपनिषत् ॥

भिक्षुकोपनिषद्

एक सौ आठ प्रमुख उपनिषदों में इस उपनिषद् का स्थान साठवाँ है और यह शुक्लयजुर्वेद का एक अंग है। इसमें तपस्वियों (संन्यासियों) को चार श्रेणियों में बाँटा गया है–कुटीचक, बहुदक, हंस और परमहंस, तथा उनके विशिष्ट गुणों एवं लक्षणों का वर्णन है।

भिक्षूणां पटलं यत्र विश्रान्तिमगमत्सदा ।
तत्रैपदं ब्रह्मतत्त्वं ब्रह्ममात्रं करोतु माम् ॥

अर्थ

जहाँ भिक्षुकगण सतत् सम्पूर्ण शान्ति प्राप्त करते हैं (आनन्द लेते हैं) वह ब्रह्म प्रणव (ॐ) मुझे ब्रह्म ही बना दे।

शान्ति पाठ

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

अर्थ

वह पूर्ण है, यह पूर्ण है। पूर्ण से पूर्ण लिया गया है; यह पूर्ण ही है। पूर्ण से पूर्ण बाहर निकालने पर पूर्ण ही शेष रहता है।

ॐ अथ भिक्षूणां मोक्षार्थिनां कुटीचकबहूदकहंसपरमहंसाश्चेति चत्वारः। कुटीचका नाम गौतमभरद्वाजयाज्ञवल्क्यवसिष्ठप्रभृतयोऽष्टौ ग्रासांश्चरन्तो योगमार्गे मोक्षमेव प्रार्थयन्ते। अथ बहूदका नाम त्रिदण्डकमण्डलुशिखा-यज्ञोपवीतकाषायवस्त्रधारिणो ब्रह्मर्षिगृहे मधुमांसं वर्जयित्वाष्टौ ग्रासान्भैक्षाचरणं कृत्वा योगमार्गे मोक्षमेव प्रार्थयन्ते। अथ हंसा नाम ग्राम एकरात्रं नगरे पंचरात्रं क्षेत्रे सप्तरात्रं तदुपरि न वसेयुः। गोमूत्रगोमयाहारिणो नित्यं चान्द्रायणपरायणा योगमार्गे मोक्षमेव प्रार्थयन्ते। अथ परमहंसा नाम संवर्तकारुणिश्वेतकेतुजड-भरतदत्तात्रेयशुकवामदेवहारीतक प्रभृतयोऽष्टौ ग्रासांश्चरन्तो योगमार्गे मोक्षमेव प्रार्थयन्ते। वृक्षमूले शून्यगृहे श्मशानवासिनो वा साम्बरा वा दिगम्बरा वा। न तेषां धर्माधर्मो लाभालाभौ शुद्धाशुद्धौ द्वैतवर्जिता समलोष्टाश्मकाञ्चनाः सर्ववर्णेषु भैक्षाचरणं कृत्वा सर्वत्रात्मैवेति पश्यन्ति। अथ जातरूपधरा निर्द्वन्द्वा निष्परिग्रहाः शुक्लध्यानपरायणा आत्मनिष्ठाः प्राणसंधारणार्थ यथोक्तकाले भैक्षमाचरन्तः शून्यागारदेवगृहतृणकूटवल्मीक वृक्षमूलकुलालशालाग्नि-होत्र शालानदी पुलिनगिरिकन्दर कुहरकोटरनिर्झर स्थण्डिले तत्र ब्रह्ममार्गे सम्यक्संपन्नाः शुद्धमानसाः परमहंसाचरणेन संन्यासेन देहत्यागं कुर्वन्ति ते परमहंसा नामेत्युपनिषत् ॥

इति भिक्षुकोपनिषत्समाप्ताः ॥

अर्थ

मुक्ति के इच्छुक भिक्षुगण चार प्रकार के होते हैं–कुटीचक, बहुदक, हंस और परमहंस। गौतम, भरद्वाज, याज्ञवल्क्य और वसिष्ठ आदि जैसे कुटीचक आठ ग्रास (भोजन) करते हैं (अर्थात् अष्टांग योग का अभ्यास करते हैं)। तदुपरान्त वे मुक्ति हेतु प्रार्थना करते हैं।

बहुदक त्रिदण्ड और जल-पात्र रखते; शिखा, यज्ञोपवीत तथा गेरू वस्त्र धारण करते एवं ब्रह्मर्षि के घर से भिक्षा प्राप्त करके आठ ग्रास भोजन करते हैं। उनके लिए माँस और शराब वर्जित हैं। वे योग-मार्ग का अनुसरण करते हुए मुक्ति हेतु प्रार्थना करते हैं।

हंस भिक्षुक किसी गाँव में एक रात्रि के लिए, किसी नगर में पाँच रात्रि के लिए तथा किसी क्षेत्र में सात रात्रि के लिए रुकते हैं, इससे अधिक नहीं। वे गाय के मूत्र एवं गोबर पर जीवन-निर्वाह करते तथा चान्द्रायण व्रत का अनुष्ठान

करते हैं (चन्द्र-चक्र के अनुसार ग्रास ग्रहण करते हैं)। योग-मार्ग में वे मुक्ति हेतु प्रार्थना करते हैं।

अब परमहंस (के बारे में)–संवर्तक, आरुणि, श्वेतकेतु, जड़भरत, दत्तात्रेय, शुकदेव, वामदेव, हारीतक आदि आठ ग्रास भोजन करते तथा योग-मार्ग में केवल मोक्ष के लिए प्रार्थना करते हैं। वे वृक्षों के नीचे, सुनसान घरों या श्मशान में वस्त्रावृत या निर्वस्त्र रहते हैं। उनके लिए धर्म-अधर्म, लाभ-हानि या शुद्धि-अशुद्धि सम्बन्धी कोई निषेध (द्वन्द्वात्मक बन्धन) नहीं है। उनके लिए पत्थर और स्वर्ण एक समान हैं तथा वे किसी भी जाति के लोगों से भिक्षा प्राप्त करते हैं। वे सर्वत्र अपनी आत्मा को देखते हैं।

वे दिगम्बर, द्वन्द्वरहित, अपरिग्रही, शुक्ल ध्यान में निमग्न (शुद्ध, आजीवन ध्यानमग्न) तथा स्वयं के प्रति निष्ठावान् (स्थितप्रज्ञ) होते हैं। वे सही समय पर उतना ही भोजन करते हैं जो जीवन-धारण हेतु पर्याप्त हो।

वे ब्रह्म-मार्ग में निपुण, शुद्धमना एवं परमहंस संन्यासी के आचरण से युक्त होकर सुनसान गृह, मन्दिर, घास-फूस से बने कमरे, वल्मीक, वृक्ष के नीचे, कुम्हार की भट्ठी, अग्निहोत्र किए जाने वाले स्थान, नदी के किनारे, पहाड़ की गुफा, पेड़ के कोटर, झरने के निकट या खाली स्थान में शरीर-त्याग करते हैं। वे परमहंस हैं जिनके नाम पर यह उपनिषद् लिखा गया है।

इस प्रकार यह भिक्षुकोपनिषद् समाप्त होता है।

अवधूतोपनिषद्

एक सौ आठ प्रमुख उपनिषदों में इस उपनिषद् का स्थान उन्नीसवाँ है तथा यह कृष्णयजुर्वेद का एक अंग है। इसमें अवधूत तपस्वी की प्रकृति एवं आचरण का वर्णन है। यह आत्म-साक्षात्कार के निरूपण के साथ समाप्त होता है।

गौणमुख्यावधूतालिहृदयाम्बुजवर्ति यत् ।
तत्त्रैपदं ब्रह्मतत्त्वं स्वमात्रमवशिष्यते ॥

अर्थ

अवधूत के हृदय-कमल में मुख्य या गौण (व्यक्त या अव्यक्त) त्रिपदीय ब्रह्मतत्त्व ॐ स्वयं विराजमान रहता है।

शान्ति पाठ

ॐ सहनाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै। तेजस्वि नावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

अर्थ

ॐ! ईश्वर गुरु और शिष्य, दोनों की रक्षा एवं लालन-पालन करें। हम साथ-साथ ऊर्जावान् बनें। हमारा अध्ययन प्रकाशमान् हो (ताकि दूसरों का मार्ग प्रकाशित हो)। हमारे मन में एक-दूसरे के प्रति दुर्भाव कदापि न आये।

हरि ॐ अथ ह सांकृतिर्भगवन्तमवधूतं दत्तात्रेयं परिसमेत्य प्रपच्छ भगवन् कोऽवधूतस्तस्य का स्थिति: किं लक्ष्म किं संसरणमिति । तं होवाच भगवो दत्तात्रेय: परमकारुणिक:॥ अक्षरत्वाद्वरेण्यत्वाद्धू तसंसारबन्धनात्। तत्त्वमस्यादिलक्ष्यत्वादवधूत इतीर्यते ॥1॥

अर्थ

हरि ॐ! सांकृति नामक ऋषि श्रद्धास्पद अवधूत दत्तात्रेय के पास गए और उनसे पूछा, "भगवन्!, अवधूत कौन हैं, उनकी क्या अवस्था और लक्षण होते हैं तथा वे कैसे चलते-फिरते हैं?" करुणा से आपूरित भगवान् दत्तात्रेय ने उत्तर दिया–चूँकि वे अक्षर हैं, श्रेष्ठ हैं, सांसारिक बन्धनों से मुक्त हो गए हैं तथा 'तत्त्वमसि' उनका लक्ष्य है, अत: उन्हें अवधूत कहा जाता है।

योविलङ्घ्याश्रमान्वर्णानात्मन्येवस्थित: सदा ।
अतिवर्णाश्रमी योगी अवधूत: स कथ्यते ॥2॥

अर्थ

वे योगी जो वर्णाश्रम व्यवस्था के परे चले गए हैं तथा सदैव स्व-आत्मा में स्थित हैं, अवधूत कहे जाते हैं।

तस्य प्रियं शिर: कृत्वा मोदी दक्षिणपक्षक: ।
प्रमोद उत्तर: पक्ष आनन्दो गोष्पदायते ॥3॥

अर्थ

अवधूत चार अवस्थाओं के अन्तर्गत अपना समय बिताते हैं–आनन्द उनके सिर का, आह्लाद दाहिने अंग का, उल्लास बाएँ अंग का तथा परमानन्द उनकी आत्मा का प्रतीक है। ('गोष्पदायते' का तात्पर्य यह है कि ये अवस्थाएँ गाय के चार चरण-चिन्हों के समान हैं। साथ ही यह भी तात्पर्य है कि अवधूत का आनन्द भी उस असीम चारागाह के समान है जहाँ गायें चरती हैं)।

गोपालसदृशं शीर्षे नापि मध्ये च चाप्यधः ।
ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठेति पुच्छाकारेण कारयेत् ॥ 4॥

अर्थ

गोपाल (रक्षक) मध्य, सिर अथवा अधोभाग में नहीं हैं (जिसकी कि वे रक्षा करते हैं)। अत: ब्रह्म की आध्यात्मिक ऊर्जा पर पूँछ (मूलाधार) से कार्य प्रारम्भ करना है।

एवं चतुष्पथं कृत्वा से यान्ति परमां गतिम् ।
न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशु:॥ 5॥

अर्थ

इस प्रकार चार मार्गों से होते हुए वे सर्वोच्च अवस्था में पहुँचते हैं। न तो कर्म और न संतान अथवा संपत्ति द्वारा, बल्कि केवल त्याग द्वारा वे अमरत्व की झलक प्राप्त कर सकते हैं।

स्वैरं स्वैरविहरणं तत्संसरणम्। साम्बरा वा दिगम्बरा वा। न तेषां धर्माधर्मौ न मेध्यामेध्यौ। सदा सांग्रहण्येष्ट्याश्वमेधमन्तर्यागं य जते । स महामखो महा-योग:॥ कृत्स्नमेतच्चित्रं कर्म। स्वैरं न विगायेत्तन्महाव्रतम्। न स मूढवल्लिप्यते। यथा रवि: सर्वरसान्प्रभुङ्क्ते हुताशनश्चापि हि सर्वभक्ष:। तथैव योगी विषयान्प्रभुङ्क्ते न लिप्यते पुण्यपापंश्च शुद्ध: ॥6॥

अर्थ

उनका चलना-फिरना या विहार करना स्वेच्छानुसार होना चाहिए। वे वस्त्रावृत या दिगम्बर हो सकते हैं। उनके लिए धर्म-अधर्म अथवा कम-अकर्म का कोई महत्त्व नहीं है। वे पूर्ण इच्छापूर्वक आन्तरिक यज्ञ स्वीकार करते हैं, अत: वे सदैव अश्वमेध यज्ञ सम्पादित करते हैं। वह सर्वोत्कृष्ट यज्ञ तथा सर्वोत्कृष्ट योग है। ये समस्त कर्म अति उत्तम (प्रकाशमान्) हैं। वे मूर्खतापूर्ण कार्यों में शामिल नहीं होते। जैसे सूर्य समस्त सार-तत्त्वों का भक्षण करते एवं अग्नि सब-कुछ जला देती है, उसी प्रकार योगी इन्द्रिय विषयों का भोग तो करते हैं किन्तु गुण-दोषों या पुण्य-पापों से लिप्त नहीं होते। वे शुद्ध हैं।

आपूर्यमाणचलप्रतिष्ठं समुद्रमाप: प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥7॥

अर्थ

जैसे नाना नदियों के जल सब ओर से परिपूर्ण अचल प्रतिष्ठावाले समुद्र में उसको विचलित किए बिना ही समा जाते हैं, वैसे ही सब भोग जिस पुरुष में किसी प्रकार का विकार उत्पन्न किए बिना ही समा जाते हैं, वही पुरुष परम शान्ति को प्राप्त होता है, भोगों को चाहने वाला नहीं।

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधक: ।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ॥ 8॥

अर्थ

परमार्थ की दृष्टि से उसके लिए न तो जन्म है न मृत्यु, वह न तो बन्धन में है न एक साधक, और न तो वह मुमुक्षु है न मुक्त।

ऐहिकामुष्मिकव्रातसिद्ध्यै मुक्तेश्च सिद्धये ।
बहु कृत्यं पुरा स्यान्मे तत्सर्वमधुना कृतम् ॥ 9॥

अर्थ

शायद सांसारिक या उच्चतर उपलब्धियों के लिए अथवा मुक्ति की प्राप्ति के लिए अब तक मेरे द्वारा अनेक कार्य सम्पादित किए गए हैं। ये सभी अब बीती बातें हो गई हैं।

तदेव कृतकृत्यत्वं प्रतियोगिपुर:सरम् ।
अनुसंदधदेवायमेवं तृप्यति नित्यश: ॥ 10॥

अर्थ

वे यह जानकर सदैव सन्तुष्ट हैं कि वे उपलब्धियाँ अन्तत: विरोधात्मक प्रभाव उत्पन्न करती हैं।

दु:खिनोऽज्ञा: संसरन्तु कामं पुत्राद्यपेक्षया ।
परमानन्दपूर्णोऽहं संसरामि किमिच्छया ॥ 11॥

अर्थ

दु:खी एवं अज्ञानी लोग इच्छा एवं संतति इत्यादि की प्रत्याशा से संचालित होते हैं। मैं परमानन्द से आपूरित हूँ; मुझे किस इच्छा से संचालित होना है?

अनुतिष्ठन्तु कर्माणि परलोकयियासव: ।
सर्वलोकात्मक: कस्मादनुतिष्ठामि किं कथम् ॥ 12॥

अर्थ

परलोक की कामना वाले कर्मकाण्ड का अनुष्ठान करते हैं। मैं स्वभावत: सर्वव्यापी हूँ, अत: किस प्रयोजन से अनुष्ठान करूँ?

व्याचक्षतां ते शास्त्राणि वेदानध्यापयन्तु वा ।
येऽत्रधिकारिणो मे तु नाधिकारोऽक्रियत्वत: ॥ 13॥

अर्थ

सुयोग्य या अधिकारीगण शास्त्रों की व्याख्या कर सकते अथवा वेदों की शिक्षा दे सकते हैं। चूँकि मैं कर्ममुक्त हूँ, मैं अधिकारी नहीं हूँ।

निद्राभिक्षे स्नानशौचेनेच्छामि न करोमि च ।
द्रष्टारश्चेत्कल्पयन्तु किं मे स्यादन्यकल्पनात् ॥ 14॥

अर्थ

मैं न तो निद्रा, भिक्षाटन, स्नान अथवा शौच करता हूँ, न ही उनकी इच्छा रखता हूँ। जो इनका अनुपालन करते हैं, वे इन पर चिन्तन करें। इस प्रकार के चिन्तन से मेरा क्या लेना-देना?

गुञ्जापुञ्जादि दह्येत नान्यारोपितवह्निना ।
नान्यारोपितसंसारधर्मा नैवमहं भजे ॥ 15॥

अर्थ

अन्य लोग लाल-काली अंची जलाने हेतु अग्नि की व्यवस्था नहीं करते। इसी प्रकार मैं अन्य लोगों द्वारा विहित कर्मकाण्ड से बँधा हुआ नहीं हूँ।

शृण्वन्त्वज्ञाततत्त्वास्ते जानन्कस्माच्छृणोम्यहम् ।
मन्यन्तां संशयापन्ना न मन्येऽहमसंशयः ॥ 16॥

अर्थ

उन्हें अज्ञात बातें सुननी चाहिए। मैं जो जानता हूँ उसे क्यों सुनूँ? जो सन्देहयुक्त हैं उन्हें विचार करना चाहिए। मैं सन्देहमुक्त हूँ, अतः विचार नहीं करता हूँ।

विपर्यस्तो निदिध्यासे किं ध्यानमविपर्यये ।
देहात्मत्वविपर्यासं न कदाचिद्भजाम्यहम् ॥ 17॥

अर्थ

आप भ्रम में हैं (विपरीत अवस्था, यह नहीं जानते कि सही क्या है), अतः आपको बार-बार ध्यान करना चाहिए। मुझे भ्रम नहीं है, अतः मैं ध्यान क्यों करूँ? भौतिक वस्तुओं के गुण से सम्बन्धित इस भ्रम को मैं नहीं मानता।

अहं मनुष्य इत्यादिव्यवहारो विनाप्यमुम् ।
विपर्यासं चिराभ्यस्तवासनातोऽवकल्पते ॥ 18॥

अर्थ

'मैं एक आदमी हूँ' ऐसे शब्द और कर्म लम्बे समय की अभ्यासजनित वासनाओं के कारण बिना भ्रम के भी प्रकट होते हैं।

आरब्धकर्मणि क्षीणे व्यवहारो निवर्तते ।
कर्मक्षये त्वसौ नैव शाम्येद्ध्यानसहस्रतः ॥ 19॥

अर्थ

प्रारब्ध कर्म के क्षय के बाद भी ये कर्म वापस आते हैं, क्योंकि हजारों बार ध्यान द्वारा कर्म-क्षय करने पर भी ये कर्म नहीं रुकते।

विरलत्वं व्यवहृतेरिष्टं चेद्ध्यानमस्तु ते ।
बाधिकर्मव्यवहृतिं पश्यन्ध्यायाम्यहं कुतः ॥ 20॥

अर्थ

वे (सामान्य लोग) अपनी इच्छा की पूर्त्ति के लिए ध्यान करते हैं। किन्तु वे अपनी इच्छा की पूर्ति शायद ही कर पाते हैं। मैंने कर्म-प्रक्रिया की बाधाओं को देख लिया है, अतः मैं ध्यान क्यों करूँ?

विक्षेपो नास्ति यास्मान्मे न समाधिस्ततो मम ।
विक्षेपो वा समाधिर्वा मनसः स्याद्विकारिणः ।
नित्यानुभवरूपस्य को मेऽत्रानुभवः पृथक् ॥ 21॥

अर्थ

इस कारण मेरे लिए न तो चित्त-विक्षेप है और न समाधि। चित्त-विक्षेप और समाधि सम्भवतः चित्त की वृत्तियाँ हैं। मैं शाश्वत अनुभव ही हूँ; यहाँ मेरे लिए एक भिन्न अनुभव क्या हो सकता है?

कृतं कृत्यं प्रापणीयं प्राप्तमित्येव नित्यशः ।
व्यवहारो लौकिको वा शास्त्रीयो वान्यथापि वा ।
ममाकर्तुरलेपस्य यथारब्धं प्रवर्तताम् ॥ 22॥

अर्थ

मुझे जो करना चाहिए, वह कर लिया है तथा जो प्राप्त करना चाहिए, वह प्राप्त कर लिया है। मेरे द्वारा सांसारिक, शास्त्रीय अथवा अन्य

प्रकार के कर्म प्रारब्ध के रूप में किए जाते हैं। मैं अकर्त्ता एवं (कर्मों से) अनासक्त हूँ।

अथवा कृतकृत्येऽपि लोकानुग्रह काम्यया ।
शास्त्रीयेणैव मार्गेण वर्तेऽहं मम का क्षतिः ॥23॥

अर्थ

जो करना चाहिए वह कर लेने के बाद यदि मैं संसार के कल्याण की इच्छा से शास्त्र-सम्मत कर्म या व्यवहार करता हूँ तो इसमें मेरा क्या नुकसान है?

देवार्चनस्नानशौचभिक्षादौ वर्ततां वपुः ।
तारं जपतु वाक्तद्वत्पठत्वाम्नायमस्तकम् ॥ 24॥

अर्थ

शरीर देवताओं के पूजन, स्नान, शौच, भिक्षाटन इत्यादि में संलग्न हो। वाणी तारा (ॐ मन्त्र) की आवृत्ति अथवा वेदों का अध्ययन करे, जो कि सर्वोत्कृष्ट ज्ञान के भंडार हैं।

विष्णुं ध्यायतु धीर्यद्वा ब्रह्मानन्दे विलीयताम् ।
साक्ष्यहं किंचिदप्यत्र न कुर्वे नापि कारये ॥ 25॥

अर्थ

विष्णु का ध्यान करें अथवा अपनी बुद्धि को ब्रह्मानन्द में लीन कर दें। मैं साक्षी हूँ, अतः मैं न तो कर्म का कर्त्ता हूँ न उसका कारण।

कृतकृत्यतया तृप्तः प्राप्तप्राप्यतया पुनः ।
तृप्यन्नेवं स्वमनसा मन्यतेसौ निरन्तरम् ॥26॥

अर्थ

वह किए गए तथा किए जाने योग्य कर्म एवं प्राप्ति तथा प्राप्त करने योग्य (जो कुछ भी है) से सन्तुष्ट है। अतः वह सदैव मानसिक आनन्द का अनुभव करता है।

धन्योऽहं धन्योऽहं नित्यं स्वात्मानमञ्जसा वेद्मि ।
धन्योऽहं धन्योऽहं ब्रह्मानन्दो विभाति मे स्पष्टम् ॥27॥

अर्थ

मैं धन्य हूँ, मैं धन्य हूँ, क्योंकि मैं सदैव अपनी आत्मा को तत्काल जान जाता हूँ। मैं धन्य हूँ, मैं धन्य हूँ; मेरे सामने ब्रह्मानन्द स्पष्ट रूप से प्रकाशित होता है।

धन्योऽहं धन्योऽहं दुःखं सांसारिकं न वीक्षेऽद्य ।
धन्योऽहं धन्योऽहं स्वस्याज्ञानं पलायितं क्वापि ॥ 28॥

अर्थ

मैं धन्य हूँ, मैं धन्य हूँ, क्योंकि अब मैं सांसारिक दु:खों का अनुभव नहीं कर रहा हूँ। मैं धन्य हूँ, मैं धन्य हूँ, क्योंकि मेरा अज्ञान कहीं (मुझसे दूर) पलायन कर चुका है।

धन्योऽहं धन्योऽहं कर्त्तव्यं मे न विद्यते किंचित् ।
धन्योऽहं धन्योऽहं प्राप्तव्यं सर्वमत्र संपन्नम् ॥ 29॥

अर्थ

मैं धन्य हूँ, मैं धन्य हूँ, क्योंकि अब मेरा कोई भी कर्त्तव्य-कर्म (शेष) नहीं है। मैं धन्य हूँ, मैं धन्य हूँ, क्योंकि मैंने प्राप्त करने योग्य सब-कुछ प्राप्त कर लिया है।

धन्योऽहं धन्योऽहं तृप्तेर्मे कोपमा भवेल्लोके ।
धन्योऽहं धन्योऽहं धन्यो धन्यः पुनः पुनर्धन्यः ॥30॥

अर्थ

मैं धन्य हूँ, मैं धन्य हूँ; इस संसार में मेरे जैसे संतुष्ट व्यक्ति की कोई उपमा नहीं। मैं धन्य हूँ, मैं धन्य हूँ, धन्य-धन्य, पुनः-पुनः धन्य।

अहो पुण्यमहो पुण्यं फलितं फलितं दृढम् ।
अस्य पुण्यस्य संपत्तेरहो वयमहो वयम् ॥31॥

अर्थ

अहो (आनन्दातिरेक से) पुण्यं, अहो पुण्यं! पुण्य फलित हुआ है, निश्चय ही यह फलित हुआ है। अहो! इस पुण्य-भण्डार से हम धन्य हैं, हम धन्य हैं।

अहो ज्ञानमहो ज्ञानमहो सुखमहो सुखम् ।
अहो शास्त्रमहो शास्त्रमहो गुरुरहो गुरुः ॥ 32॥

अर्थ

अहो ज्ञानं, अहो ज्ञानं! अहो सुखं, अहो सुखं! अहो शास्त्रं, अहो शास्त्रं! अहो गुरुः, अहो गुरुः!

इति य इदमधीते सोऽपि कृतकृत्यो भवति ।
सुरापानात्पूतो भवति। स्वर्णस्तेयात्पूतो भवति ।
ब्रह्महत्यात्पूतो भवति। कृत्याकृत्यात्पूतो भवति ।
एवं विदित्वा स्वेच्छाचारपरो भूयादोंसत्यमित्युपनिषत् ॥ 33॥

अर्थ

इसका अध्ययन करनेवाला भी कृतकृत्य हो जाता है। वह सुरापान, स्वर्ण की चोरी एवं ब्रह्म-हत्या के पापों से (मुक्त होकर) पवित्र हो जाता है। वह करने योग्य और न करने योग्य कर्मों (के पापों) से पवित्र हो जाता है। ऐसा जान-समझकर वह स्वेच्छानुसार आचरण करे। ॐ सत्यम्।

इस प्रकार यह उपनिषद् समाप्त होता है।

परमहंसपरिव्राजकोपनिषद्

एक सौ आठ प्रमुख उपनिषदों में इस उपनिषद् का छियासठवाँ स्थान है तथा यह अथर्ववेद का अंग है। इसमें परमहंस परिव्राजक की योग्यताओं की तथा प्रणव-ब्रह्म की विशिष्टताओं का वर्णन है। साथ ही, इसके द्वारा उन तपस्वियों के ब्रह्मत्व को संस्थापित किया गया है जो शिखा और यज्ञोपवीत नहीं धारण करते।

पारिव्राज्यधर्मवन्तो यज्ज्ञानाद्ब्रह्मतां ययुः ।
तद्ब्रह्म प्रणवैकार्थं तुर्यतुर्यं हरिं भजे ॥

अर्थ

प्रणव-ब्रह्म पर ध्यान मेरा एकमात्र लक्ष्य है और स्वयं तुर्यातीत ब्रह्म है। इसके ज्ञान से तपस्वी परिव्राजक हो जाता है एवं ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।

शान्ति पाठ

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः। स्थिरैरंगैस्तुष्टुवाँ सस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥ स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः। स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

अर्थ

ॐ! हे देवगण! आपकी आराधना करते हुए हम कल्याणमय वचन सुनें एवं कल्याणमय दृश्य देखें। आपका गुणगान करते हुए हमें अपने जीवन

में पूर्ण स्वास्थ्य एवं दृढ़ता का आशीर्वाद मिले। सर्वसुयश से युक्त भगवान् इन्द्र हमारे लिए कल्याणकारक हों। वे कृपापूर्वक हमारी समृद्धि में सहायक हों। सम्पूर्ण विश्व का ज्ञान रखने वाले पूषा तथा अरिष्टों को मिटाने के लिए गरुड़देव हमारे लिए कल्याण का पोषण करें। बृहस्पति भी हमारे लिए कल्याण की पुष्टि करें।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

हरिः ॐ अथ पितामहः स्वपितरमादिनारायणमुपसमेत्य प्रणम्य प्रपच्छ भगवन् त्वन्मुखाद्वर्णाश्रमधर्मक्रमं सर्वं श्रुतं विदितमवगतम्। इदानीं परमहंसपरिव्राजक-लक्षणं वेदितुमिच्छामि। कः परिव्रजनाधिकारी? कीदृशं परिव्राजकलक्षणं? कः परमहंसः? परिव्राजकत्वं कथम्? तत्सर्वं मे ब्रूहीति। स होवाच भगवानादिनारायणः ॥1॥

अर्थ

हरि ॐ। ब्रह्मा अपने स्रष्टा आदिनारायण के निकट गए तथा उन्हें प्रणाम कर बोले, "हे भगवन्! मैंने आपके मुख से वर्णाश्रम धर्म के क्रम को सुना, जाना और समझा है। अब मैं परमहंस परिव्राजक की विशिष्टताओं के बारे में जानना चाहता हूँ। एक परिव्राजक के क्या लक्षण हैं? परमहंस कौन हैं? परिव्राजक होने का क्या तात्पर्य है? मुझे यह सब-कुछ बताइए।" भगवान् आदिनारायण उनसे बोले।

सद्गुरुसमीपे सकलविद्यापरिश्रमज्ञो भूत्वा विद्वान्सर्वमैहिकामुष्मिकसुख-श्रमं ज्ञात्वैषणात्रयवासनात्रयममत्वाहंकारादिकं वमनान्नमिव हेयमधिगम्य मोक्षमार्गैकसाधनो ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत् । गृहाद्वनी भूत्वा प्रव्रजेत्। यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत् गृहाद्वा वनाद्वा । अथ पुनरव्रती वा व्रती वा स्नातको वाऽस्नातको वोत्सन्नाग्निरनग्निको वा यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेदिति बुद्धा सर्वसंसारेषु विरक्तो ब्रह्मचारी गृही वानप्रस्थो वा पितरं मातरं कलपुत्र-माप्तबन्धुवर्गं तदभावे शिष्यं सहवासिनं वानुमोदयित्वा तद्धैके प्राजापत्यामेवेष्टिं कुर्वन्ति तदु तथा न कुर्यात्। आग्नेय्यामेव कुर्यात्। अग्निर्हि प्राणः प्राणमेवैतया करोति त्रैधातवीयामेव कुर्यात्। एतयैव त्रयो धातवो यदुत सत्वं रजस्तम इति। अयं ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातो आरोचथाः। तं जानन्नग्न आरोहाथानो वर्धया

रयिमित्यनेन मन्त्रेणाग्निभाजिघ्रेत्। एष वा अग्नेर्योनिर्य: प्राणं गच्छ स्वां योनिं गच्छ स्वाहेत्येवमेवैतदाह। ग्रामाच्छ्रोत्रियागारादग्निमाहृत्य स्वविध्युक्तक्रमेण पूर्ववदग्निमाजिघ्रेत्। यद्यातुरो वाग्निं न विन्देदप्सु जुहुयात्। आपो वै सर्वा देवता: सर्वाभ्यो देवताभ्यो जुहोमि स्वाहेति हुत्वोद्धृत्य प्राश्नीयात् साज्यं हविरनामयम्। एष विधिर्वीराध्वाने वाऽनाशके वा संप्रवेशे वाग्निप्रवेशे वा महाप्रस्थाने वा। यद्यातुर: स्यान्मनसा वाचा वा संन्यसेदेष पन्था: ॥2॥

अर्थ

प्रबल प्रयास द्वारा सच्चे गुरु से समस्त ज्ञान प्राप्त करके, समस्त सांसारिक एवं उच्चतर सुखों को माया एवं इच्छात्रय (धन, पुत्र, प्रसिद्धि) तथा वासनात्रय (परिग्रह, अहंकार इत्यादि) को त्याज्य समझकर और ब्रह्मचर्य आश्रम को, जो कि मुक्ति के मार्ग का साधन है, पूरा करके ज्ञानी शिष्य को गृहस्थ बनना चाहिए। गृहस्थाश्रम के बाद उसे वानप्रस्थी (जंगल निवासी) होना चाहिए और तदुपरान्त परिव्राजक। वह ब्रह्मचर्य से सीधे परिव्राजक हो सकता है अथवा गृहस्थाश्रम या वानप्रस्थ अवस्था से।

तदुपरान्त एक ब्रह्मचारी या गैर-ब्रह्मचारी, स्नातक (जिसका ब्रह्मचर्याश्रम पूरा हो गया है) या गैर-स्नातक, जिसने गृहस्थाश्रम छोड़ दिया या जिसने गृहस्थी बसायी ही नहीं, जिस दिन वह आसक्ति से मुक्त हो जाए, यह जानकर उसे उसी दिन से परिव्राजक हो जाना चाहिए, ऐसा मनीषियों ने कहा है।

सम्पूर्ण संसार से अनासक्त होकर ब्रह्मचारी, गृहस्थ या वानप्रस्थी; माता, पिता, पत्नी, पुत्र, निकट सम्बन्धी या उनके न होने पर शिष्यों अथवा अपने साथ रहने वाले लोगों का सहयोग प्राप्त करने के लिए प्रजापति यज्ञ सम्पादित करता है। उसके बाद उसे यह (यज्ञ पुन:) नहीं करना चाहिए। (इसके बदले) उसे केवल आग्नेयी यज्ञ (जिसके अधिष्ठाता देव अग्नि हैं) करना चाहिए। और क्योंकि अग्नि प्राण है, उसे यह प्राण के माध्यम से करना चाहिए। वह धातुत्रय–सत्त्व, रजस्, तमस् से सम्बन्धित त्रैधातवीय अनुष्ठान कर सकता है।

"यह तुम्हारी उत्पत्ति का कारण (स्रोत) है जो नियमित रूप से यज्ञ कर रहा है। यहाँ से यह उठता और देदीप्यमान् होता है। हे अग्नि! यह जानकर कृपया मेरे (आध्यात्मिक) वैभव को बढ़ाने हेतु अवतरित होइए।" इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए अग्नि को प्रज्वलित करना चाहिए। उसका उच्चारण होना चाहिए अथवा इसका उच्चारण होना चाहिए; "प्राण के निकट जाओ, जो कि

अग्नि की उत्पत्ति का कारण (स्रोत) है। अपनी उत्पत्ति के स्थान में जाओ। स्वाहा।" (अग्नि में आहुति डालें।)

गाँव के वैदिक पण्डित के घर से आग लाकर पूर्वोक्त विधि से विहित नियमानुसार अग्नि प्रज्वलित की जानी चाहिए। यदि (यज्ञ करने हेतु) आतुर व्यक्ति (अस्वस्थता के कारण) अग्नि प्रज्वलित न कर सके तो उसे जल में आहुति डालनी चाहिए। जल स्वयं में समस्त देवताओं का प्रतीक है। "मैं सभी देवताओं के लिए आहुति डाल रहा हूँ। स्वाहा।" इस प्रकार (जल में) आहुति डालकर इसे जल से बाहर निकालकर खाना चाहिए। इसमें घी मिला हुआ है तथा स्वास्थ्य के लिए लाभदायक है।

यह वीरों के मार्ग पर अग्रसर होने के पूर्व का अनुष्ठान है। उपवास, मार्ग में पूर्ण प्रवृत्ति, अग्नि में प्रवेश अथवा मृत्यु के पूर्व इसे सम्पादित करना चाहिए। बीमार लोग मानसिक रूप से अथवा वाणी द्वारा इसे कर सकते हैं; यही विधि है।

स्वस्थक्रमेणैव चेदात्मश्राद्धं विरजाहोमं कृत्वाग्निमात्मन्यारोप्य लौकिकवैदिक-सामर्थ्यं स्वचतुर्दशकरण प्रवृत्तिं च पुत्रे समारोप्य तदभावे शिष्येवातद्भावे स्वात्मन्येव वा ब्रह्मा त्वं यज्ञस्त्वमित्यभिमंत्र्य ब्रह्मभावनया ध्यात्वासावित्री-प्रवेशपूर्वकमप्सु सर्वविद्यार्थस्वरूपां ब्राह्मण्याधारां वेदमातरं क्रमाद्व्याहृतिषु त्रिषु प्रविलाप्य व्याहृतित्रयमकारोकारमकारेषु प्रविलाप्य तत्सावधानेनाप: प्राश्य प्रणवेन शिखामुत्कृष्य यज्ञापवीतं छित्वा वस्त्रमपि भूमौ वाप्सु वा विसृज्य ॐ भू: स्वाहा ॐ भुव: स्वाहा ॐ सुव: स्वाहेत्यनेन जातरूपधरो भूत्वा स्वरूपं ध्यायन्पुन: पृथक् प्रणवव्याहृतिपूर्वकं मनसा वचसापि संन्यस्तं मया संन्यस्तं मयासंन्यस्तं मयेति मन्द्रमध्यमतारध्वनिभिस्त्रिवारंत्रिगुणीकृतप्रेषोच्चारणं कृत्वा प्रणवैकध्यानपरायण: सन्नभयं सर्वभूतेभ्यो मत्त: स्वाहेत्यूर्ध्वबाहुर्भूत्वा ब्रह्माहमस्मीति तत्त्वमस्यादिवाक्यार्थस्वरूपानुसंधानं कुर्वन्नुदीचीं दिशं गच्छेत्। जातरूपधरश्चरेत्। एष संन्यास:। तदधिकारी न भवेद्यदि गृहस्थप्रार्थनापूर्वकम भयं सर्वभूतेभ्यो मत्त: सर्वं प्रवर्तते सखा मा गोपायौज: सखा योऽसीन्द्रस्य वज्रोऽसि वार्त्रध्न: शर्व मे भव यत्पापं तन्निवारयेत्यनेन मन्त्रेण प्रणवपूर्वकं सलक्षणं वैणवं दण्डं कटिसूत्रं कौपीनं कमण्डलुं विवर्णवस्त्रमेकं परिगृह्य सद्गुरुमुपगम्य नत्वा गुरु-मुखात्तत्वमसीति महावाक्यं प्रणवपूर्वकमुपलभ्याथ जीर्णवस्त्रवल्कलाजिनं धृत्वाथ जला वतरणमूर्ध्वगमनमेकभिक्षां परित्यज्ज त्रिकालस्नानमाचरन्वेदान्तश्रवण-

पूर्वकं प्रणवानुष्ठानं कुर्वन्ब्रह्ममार्गे सम्यक् सम्पन्नः स्वाभिमतमात्मनि गोपयित्वा निर्ममोऽध्यात्मनिष्ठः कामक्रोधलोभमोहमदमात्सर्यदम्भदर्पाहंकारासूयागर्वेच्छा द्वेषहर्षामर्षममत्वादींश्च हित्वा ज्ञानवैराग्ययुक्तो वित्तस्त्रीपराङ्मुखः शुद्धमानसः सर्वोपनिषदर्थमालोच्य ब्रह्मचर्यापरिग्रहाहिंसासत्यं यत्नेन रक्षञ्जितेन्द्रियो बहिरन्तः स्नेहवर्जितः शरीरसंधारणार्थं चतुर्ष वर्णेष्वभिशस्तपतितवर्जितेषु पशुरद्रोही भैक्षमाणो ब्रह्मभूयाय भवति। सर्वेषु कालेषु लाभालाभौ समौ कृत्वा करपात्रमाधूकरेणान्नमश्नन्मेदोवृद्धिमकुर्वन्कृशीभूत्वा ब्रह्माहमस्मीति-भावयन्गुर्वर्थं ग्राममुपेत्य ध्रुवशीलोऽष्टौ मांस्येकाकी चरेतद्वावेवाचरेत्। यदालंबुद्धिर्भवेत्तदा कुटीचको वा बहूदको वा हंसो वा परमहंसो वा तत्तन्मन्त्रपूर्वकं कटिसूत्रं कौपीनं दण्डं कमण्डलुं सर्वमप्सु विसृज्याथ जातरूपधरश्चरेत् । ग्राम एकरात्रं तीर्थे त्रिरात्रं पट्टने पञ्चरात्रं क्षेत्रे सप्तरात्रमनिकेतः स्थिरमतिरनग्निसेवी निर्विकारो नियमानियमुत्सृज्य प्राणसंधारणार्थमयमेव लाभालाभौ समौ कृत्वा गोवृत्त्या भैक्ष-माचरन्नुदकस्थलकमण्डलुरबाधकरहस्यस्थलवासो न पुनर्लाभालाभरतः शुभा-शुभकर्मनिर्मूलपरः सर्वत्र भूतलशयनः क्षौरकर्मपरित्यक्तो युक्तचातुर्मास्व्रित-नियमः शुक्लध्यानपरायणोऽर्थस्त्रीपुरपराङ्मुखोऽनुन्मत्तोऽप्युन्मत्तवदाचरन्नव्यक्त-लिङ्गोऽव्यक्ताचारो दिवानक्तसमत्वेनास्वप्नः स्वरूपानुसंधानब्रह्मप्रणवध्यान-मार्गेणावहितः संन्यासेन देहत्यागं करोति स परमहंसपरिव्राजको भवति ॥3॥

अर्थ

विहित पद्धति के क्रम का अनुसरण करते हुए एक स्वस्थ व्यक्ति को मृत्योपरान्त किए जाने वाले श्राद्ध-कर्म एवं विरजा होम (वासनाओं से छुटकारा पाने हेतु किया जाने वाला होम) सम्पादित करना चाहिए। अग्नि (प्राण) को अपनी आत्मा में आरोपित करके उसे सांसारिक वैदिक कर्त्तव्यों एवं सक्रिय सांसारिक जीवन की चौदह करण-प्रवृत्तियों को अपनी संतान, उसकी अनुपस्थिति में अपने शिष्य, तथा इन सब की अनुपस्थिति में स्वयं को सुपुर्द कर देना चाहिए।

उसे *'ब्रह्मा त्वं यज्ञः त्वं'* मन्त्र द्वारा सूर्य अथवा गायत्री पर ब्रह्मभावना से ध्यान करते हुए और तीन व्याहृत्तियों (ॐ भूः, ॐ भुवः, ॐ स्वः) का उच्चारण करते हुए समस्त प्रकार के ज्ञान, ब्रह्मत्व के आधार तथा शास्त्रों को क्रमशः जल में अर्पित कर देना चाहिए। प्रणव ॐ के साथ तीन व्याहृत्तियों का उच्चारण करते हुए जल का आचमन करना चाहिए।

तदुपरान्त प्रणव मन्त्र ॐ का जप करते हुए उसे अपनी शिखा, यज्ञोपवीत एवं वस्त्र का भूमि पर या जल में त्याग करना चाहिए। उसके बाद *'ॐ भू: स्वाहा', 'ॐ भुव: स्वाहा'* एवं *'ॐ स्व: स्वाहा'* का उच्चारण करते एवं निर्वस्त्र रहते हुए उसे अपने रूप पर ध्यान करना चाहिए। पुन: उसे प्रणव एवं व्याहृत्तियों (ॐ भू:, ॐ भुव:, ॐ स्व:) के साथ अलग-अलग उच्चारण करना चाहिए– सन्यस्तं मया, मनसा वचसापि सन्यस्तं मया, सन्यस्तं मया, सन्यस्तं मया (मैं एक संन्यासी हूँ, मैं मनसा-वाचा भी संन्यासी हूँ, मैं संन्यासी हूँ, मैं संन्यासी हूँ)।

मृदु, मध्यम एवं उच्च स्वर में इसका क्रमश: तीन-तीन बार उच्चारण करके, केवल प्रणव में पूर्णत: लीन, किसी भी जीव-जन्तु के भय से मुक्त तथा आनन्द से आपूरित होकर और दोनों हाथों को ऊपर उठाकर *'अहं ब्रह्मास्मि'* (मैं ब्रह्म हूँ), *तत्त्वमसि* (तुम वही हो) इत्यादि सूक्तियों के स्वरूप एवं अन्तर्निहित अर्थ का अनुसंधान करते हुए उसे उत्तर दिशा में गमन करना चाहिए।

उसे दिगम्बर वेष में भ्रमण करना चाहिए। यह संन्यास है। यदि वह इसके लिए तैयार नहीं है तो उसे गृहस्थ का जीवन प्रार्थनामय, जीव-जन्तुओं से भयमुक्त तथा आनन्दमय होकर व्यतीत करना चाहिए।

"मेरे मित्र, मेरी रक्षा करो। तुम सामर्थ्य हो; तुम इन्द्र के वज्र हो जिसने वृत्रासुर का वध किया। मेरे लिए वरदान बनो तथा ऐसा कुछ भी करने से बचाओ जो पापमय हो।"

प्रणव के साथ उपर्युक्त मन्त्र का उच्चारण करके; श्वेत वस्त्र कौपीन एवं यज्ञोपवीत धारण करके; तथा एक जल-पात्र एवं बंश-दण्ड लेकर उसे सही गुरु के पास जाना चाहिए। उन्हें श्रद्धापूर्वक प्रणाम करके उनके मुख से प्रणव-सहित महावाक्य 'तत्त्वमसि' प्राप्त करना चाहिए।

तदुपरान्त पुराना वल्कल और मृगचर्म पहनकर तथा जलावतरण (नदी इत्यादि), ऊर्ध्वगमन (वृक्ष इत्यादि) एवं एक समय के भोजन का त्याग करके उसे प्रतिदिन तीन बार स्नान करना चाहिए। उसे वेदान्त के श्रवण एवं प्रणव साधना द्वारा समुचित रूप से ब्रह्म-मार्ग में समृद्ध होकर एवं अपनी इच्छाओं को स्वयं में सीमित करके आसक्तियों का त्याग करना चाहिए। उसे अध्यात्मनिष्ठ होकर काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य, दम्भ, दर्प, अहंकार, ईर्ष्या, गर्व, इच्छा, द्वेष, हर्ष, असहिष्णुता तथा ममत्व का त्याग करना चाहिए।

ज्ञान और वैराग्य से युक्त, धन एवं स्त्री से विमुख, मन से शुद्ध, समस्त उपनिषदों पर मनन; ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, अहिंसा एवं सत्य की यत्नपूर्वक रक्षा; जितेन्द्रिय, बाहर-भीतर से स्नेहवर्जित–(इन गुणों से युक्त साधक को) शरीर धारण करने हेतु तीन वर्णों के ऐसे लोगों से भिक्षा ग्रहण करनी चाहिए जो किसी जीव के द्रोही न हों, किन्तु दुष्ट लोगों से परहेज करते हों। ऐसा करने से वह ब्रह्मलीन होता है।

सदैव लाभ-हानि के प्रति समभाव रखते हुए, उसे अपने हाथों का पात्र के समान उपयोग करते हुए भोजन करना चाहिए। उसे इतनी मात्रा में भिक्षाटन करना चाहिए कि (उसका) मोटापा न बढ़े (बल्कि वह) दुबला हो। दृढ़ चरित्र से युक्त, *'अहं ब्रह्मास्मि'* पर ध्यान करते हुए उसे अपने गुरु के हित में गाँवों में अकेले आठ महीने तक भ्रमण करना चाहिए।

पर्याप्त विवेक प्राप्त होने के बाद कुटीचक, बहुदक, हंस या परमहंस उपर्युक्त मन्त्र का जप करते हुए अपने कटि-सूत्र, कौपीन, दण्ड, जल-पात्र एवं अन्य सभी सामग्रियों को जल में विसर्जित करके निर्वस्त्र विचरण करता है। तदुपरान्त वह एक गाँव में एक रात्रि, किसी पवित्र स्थान में तीन रात्रि, किसी नगर में पाँच रात्रि तथा किसी क्षेत्र में सात रात्रि निवास करता है और उन स्थानों में भी घर के अन्दर नहीं रहता।

उसे दृढ़ संकल्प होना चाहिए तथा गृहस्थाग्नि, समस्त प्रकार की अशुद्धियों एवं संयम-असंयम से मुक्त होना चाहिए। लाभ-हानि को समान समझते हुए उसे मात्र जीवन धारण करने हेतु भ्रमण करना चाहिए एवं भिक्षाटन में मिले भोजन को गाय के समान (जो भी मिले) ग्रहण करना चाहिए। उसे ऐसे स्थान में रहना चाहिए जहाँ जल उपलब्ध हो ताकि एकान्त में निवास करते समय जल-पात्र भी बाधक न हो। पुनः, वह लाभ-हानि के प्रति चिन्तित नहीं रहता। उसे गम्भीरतापूर्वक भले-बुरे कर्मों को नष्ट करना चाहिए। सर्वत्र उसे भूमि पर शयन करना चाहिए। उसे मुण्डन नहीं करवाना चाहिए। साथ ही उसे चातुर्मास के नियमों का पालन करना चाहिए। शुक्ल ध्यान में तल्लीन रहते हुए उसे धन, स्त्री एवं आवासीय स्थानों से दूर रहना चाहिए। उसका व्यवहार सामान्य या असामान्य हो सकता है। उसकी कोई पहचान या प्रकट व्यवहार नहीं होना चाहिए। उसे दिवा-स्वप्न या रात्रि-स्वप्न नहीं देखना चाहिए। वह आत्मा पर ध्यान करते हुए, प्रणव ध्यान एवं अद्वैत मार्ग द्वारा संन्यास पर ध्यान करते हुए अपने शरीर का त्याग करता है। जो इस प्रकार का आचरण करता है वह परमहंस परिव्राजक होता है।

भगवन् ब्रह्मप्रणव: कीदृश् इति ब्रह्मा पृच्छति। स होवाच नारायण:। ब्रह्मप्रणव: षोडशमात्रात्मक: सोऽवस्थाचतुष्टयचतुष्टयगोचर:। जाग्रदवस्थायां जाग्रदादि-चतस्रोऽवस्था: स्वप्ने स्वपनादिचतस्रोऽवस्था: सुषुप्तौ सुषुप्त्यादिचतस्रोऽ-वस्थास्तुरीये तुरीयादिचतस्रोऽवस्था भवन्तीति। व्यष्टि जाग्रदवस्थायां विश्वस्य चातुर्विध्यं विश्वविश्वो विश्वतैजसो विश्वप्राज्ञो विश्वतुरीय इति। व्यष्टि स्वप्नावस्थायां तेजसस्य चातुर्विध्यं तैजसविश्वस्तैजसतैजसस्तैजस-प्राज्ञस्तैजसतुरीय इति। सुषुप्त्यवस्थायां प्राज्ञस्य चातुर्विध्यं प्राज्ञविश्व: प्राज्ञतैजस: प्राज्ञप्राज्ञ: प्राज्ञतुरीय इति। तुरीयावस्थायां तुरीयस्य चातुर्विध्यं तुरीय-विश्वस्तुरीयतैजसस्तुरीयप्राज्ञस्तुरीयतुरीय इति। एते क्रमेण षोडशमात्रारूढा: अकारे जाग्रद्विश्व उकारे जाग्रत्तैजसो मकारे जाग्रत्प्राज्ञ अर्धमात्रायां जाग्रत्तुरीय: बिन्दौ स्वप्नविश्वोनादे स्वप्नतेजस: कलायां स्वप्नप्राज्ञ: कलातीते स्वप्नतुरीय: शान्ती सुषुप्तविश्व: शान्त्यतीते सुषुप्ततैजस उन्मन्यां सुषुप्तप्राज्ञो मनोन्मन्यां सुषुप्ततुरीय: पुर्यां तुरीयविश्वो मध्यमायां तुरीयतैजस: पश्यन्त्यां तुरीयप्राज्ञ: परायां तुरीयतुरीय:। जाग्रन्मात्राचतुष्टयमकारांशं स्वप्नमात्राचतुष्टयमुकारांशं सुषुप्तिमात्रा-चतुष्टयं मकारांशं तुरीयमात्राचतुष्टमर्धमात्रांशम्। अयमेव ब्रह्मप्रणव:। स परमहंसतुरीयातीतावधूतैरुपास्य:। तेनैव ब्रह्म प्रकाशते तेन विदेहमुक्ति: ॥4॥

अर्थ

ब्रह्मा पुन: आदि नारायण से पूछते हैं, "भगवन्! ब्रह्मप्रणव क्या है?"

नारायण ने उत्तर दिया–ब्रह्मप्रणव सोलह मात्राओं से बना है (सामान्यत: मात्रा का अर्थ होता है एक लघु स्वर के उच्चारण में लगने वाला समय)। इस सन्दर्भ में इसका अर्थ है मनोप्रक्रिया की सोलह अवस्थाएँ। उसकी चार अवस्थाओं को चार प्रकार से जाना जा सकता है। जाग्रत अवस्था में जाग्रत इत्यादि चार स्तर, स्वप्नावस्था में स्वप्न इत्यादि चार स्तर, सुषुप्ति अवस्था में सुषुप्ति इत्यादि चार स्तर तथा तुरीयावस्था में तुरीया इत्यादि चार स्तर होते हैं।

जाग्रत अवस्था में विश्व के चार रूप होते हैं–विश्व-विश्व (सांसारिक जगत्), विश्व-तैजस (प्रकाशमान् जगत्), विश्व-प्राज्ञ (प्रज्ञायुक्त जगत्) एवं विश्व-तुरीय (इस जगत् के परे)। स्वप्नावस्था में तैजस चार प्रकार का होता है–तैजस-विश्व (प्रकाशमान् जगत्), तैजस-तैजस (उज्ज्वल प्रकाश),

तैजस-प्राज्ञ (प्रकाशित ज्ञान) एवं तैजस-तुरीय (प्रकाशमान् चतुर्थ अवस्था)। सुषुप्ति अवस्था में प्राज्ञ चार प्रकार का होता है–प्राज्ञ-विश्व (ज्ञान का जगत्), प्राज्ञ-तैजस (प्रकाशित ज्ञान), प्राज्ञ-प्राज्ञ (ज्ञानयुक्त ज्ञान) तथा प्राज्ञ-तुरीय (चतुर्थ अवस्था का ज्ञान)। तुरीय अवस्था में भी चार प्रकार की अवस्थाएँ होती हैं–तुरीय विश्व (जगत् की चतुर्थ अवस्था और परा जगत्), तुरीय तैजस (प्रकाश की चतुर्थ अवस्था), तुरीय प्राज्ञ (ज्ञान की चतुर्थ अवस्था) और तुरीय-तुरीय (चतुर्थ अवस्था की चतुर्थ अवस्था)।

ये विभिन्न अवस्थाएँ सोलह मात्राओं पर इस क्रम में आरूढ़ हैं–अकार में जाग्रत विश्व, उकार में जाग्रत तैजस, मकार में जाग्रत प्राज्ञ एवं अर्ध मात्रा में जाग्रत तुरीय। बिन्दु (ब्रह्माण्ड के बीज) में स्वप्न विश्व, नाद (मूल स्पन्दन 'ॐ') में स्वप्न तैजस (प्रकाशित स्वप्न), कला (प्रकृति की दृश्य-अभिव्यक्ति या माया) में स्वप्न प्राज्ञ (स्वप्न का ज्ञान) तथा कलातीत में स्वप्न तुरीय (स्वप्न के परे) स्थित है। शान्ति में सुषुप्त विश्व (निद्रा-जगत्), शान्ति के परे सुषुप्त तैजस (प्रकाशित निद्रा), उन्मनी में सषुप्त प्राज्ञ (निद्रा का ज्ञान) तथा मानसिक उन्मनी में सुषुप्त तुरीय (निद्रा की चौथी अवस्था) है। पुरी (नगर या शरीर) में तुरीय विश्व, मध्य में तुरीय तैजस, अन्त में तुरीय प्राज्ञ एवं उसके परे तुरीय-तुरीय है।

जाग्रत की चार मात्राएँ 'अ' का, स्वप्न की चार मात्राएँ 'उ' का, सुषुप्ति की चार मात्राएँ 'म' का एवं तुरीय की चार मात्राएँ अर्धमात्रा का अंश हैं। यही ब्रह्मप्रणव है जो कि परमहंस, तुरीयातीत तथा अवधूत का उपास्य है। इसी उपासना से ब्रह्म प्रकाशित होते एवं इसी से विदेहमुक्ति प्राप्त होती है।

भगवन् कथमयज्ञोपवीत्यशिखी सर्वकर्मपरित्यक्तः? कथं ब्रह्मनिष्ठापरः? कथं ब्राह्मणः? इति ब्रह्मा पृच्छति। स होवाच विष्णुर्भोभोऽर्भक यस्यास्त्यद्वैतमात्मज्ञानं तदेव यज्ञोपवीतम्। तस्य ध्याननिष्ठैव शिखा। तत्कर्म सपवित्रम्। स सर्वकर्मकृत्। स ब्राह्मणः। स ब्रह्मनिष्ठापरः। स देवः। स ऋषिः। स तपस्वी। स श्रेष्ठः। स एव सर्वज्येष्ठः। स एव जगद्गुरुः। स एवाहं विद्धि। लोके परमहंसपरिव्राजको दुर्लभतरो यद्येकोऽस्ति। स एव नित्यपूतः स एव वेदपुरुषो महापुरुषो यस्तच्चित्तं मय्येवावतिष्ठते। अहं च तस्मिन्नेवावस्थितः। स एव नित्यतृप्तः। स शीतोष्णसुखदुःखमानावमानवर्जितः। स निन्दामर्षसहिष्णुः। स षडूर्मि-

वर्जितः। षड्भावविकारशून्यः। स ज्येष्ठाज्येष्ठव्यवधानरहितः। स स्वव्यतिरेकेण नान्यद्रष्टा। आशाम्बरो न नमस्कारो नस्वाहाकारो नस्वधाकारश्च न विसर्जनपरो निन्दास्तुतिव्यतिरिक्तो नमन्त्रतन्त्रोपासको देवान्तरध्यानशून्यो लक्ष्यालक्ष्यनिवर्तकः सर्वोपरतः ससच्चिदानन्दाद्वयचिद्घनःर्सपूर्णानन्दैक-बोधो ब्रह्मैवाहमस्मीत्यनवरतं ब्रह्मप्रणवानुसंधानेन यः कृतकृत्यो भवति स परमहंसपरिव्राडित्युपनिषत् ॥5॥

हरि ॐ तत्सत्।

इति परमहंस परिव्राजकोपनिषत्समाप्ताः ॥

अर्थ

ब्रह्मा ने पुनः पूछा, "भगवन्! साधक यज्ञोपवीत, शिखा एवं कर्मों का त्याग कैसे करता है, ब्रह्म में पूर्णतः लीन एवं ब्राह्मण किस प्रकार बनता है?

आदि नारायण ने उत्तर दिया, "वत्स! अद्वैत आत्मज्ञान उसका यज्ञोपवीत एवं ध्यान में पूर्ण श्रद्धा उसकी शिखा है। उसके कर्म शुद्ध हैं तथा उसने समस्त कर्म सम्पादित कर लिए हैं। वह ब्राह्मण है। वह पूर्णतः ब्रह्म में स्थित है। वह देव (प्रकाशमान्) है। वह एक ऋषि, एक तपस्वी है। वह श्रेष्ठ है; सर्वज्जेष्ठ है। वह जगद्गुरु है। उसे ही अहं ('मैं') जानो।

संसार में परमहंस परिव्राजक सर्वाधिक दुर्लभ हैं। यदि कोई हैं, तो वे नित्य शुद्ध हैं। वे वेद पुरुष (ज्ञानी व्यक्ति) एवं महापुरुष हैं। उनका चित्त मुझमें स्थित है और मैं उनमें अवस्थित हूँ। वे नित्य तृप्त हैं। वे शीत-उष्ण, सुख-दुःख एवं मान-अपमान के अनुभव से परे हैं। वे गाली, निन्दा एवं क्रोध को सहन करते हैं। वे छः तरंगों (इच्छाओं) एवं छः भाव-विकारों से रहित हैं। वे श्रेष्ठ-निम्न या ऊँच-नीच के विचारों के व्यवधानों से मुक्त हैं। उनकी यह विशेषता है कि वे दूसरों की ओर नहीं देखते। दिशाएँ उनके वस्त्र हैं। वे किसी को नमस्कार नहीं करते। वे न तो अग्नि में और न ही पुरखों को आहुति प्रदान करते हैं। विसर्जन में उनकी रुचि नहीं होती। वे निन्दा-स्तुति के प्रति पूर्णतः उदासीन रहते हैं। वे मन्त्र-तन्त्र के उपासक नहीं होते। वे ईश्वर के अलावा अन्य किसी (प्रतीक) पर ध्यान नहीं करते।

वे लक्ष्य-अलक्ष्य, दोनों से अलग हैं। वे सब से अनासक्त हैं। वे सच्चिदानन्द, अद्वय (जिनके जैसा दूसरा नहीं है) एवं चिद्घन (परमात्मा या

ब्रह्म) हैं। वे पूर्णानन्द के ज्ञाता हैं। जो *'अहं ब्रह्मास्मि'* का सतत् स्मरण करते हुए ब्रह्म प्रणव (के अनुभव) की प्राप्ति से तृप्त हो जाते हैं, वे ही परमहंस परिव्राजक हैं।"

हरि ॐ तत्सत् ।

इस प्रकार परमहंस परिव्राजक उपनिषद् समाप्त होता है।



स्वामी निरंजनानन्द का जन्म छत्तीसगढ़ के राजनाँदगाँव में सन् 1960 में हुआ। जन्म से ही उनकी जीवन-दिशा उनके गुरु, स्वामी सत्यानन्द सरस्वती द्वारा निर्देशित रही। चार वर्ष की अवस्था में वे गुरु-सान्निध्य में रहने बिहार योग विद्यालय आये, जहाँ उनके गुरु ने योग निद्रा के माध्यम से उन्हें योग एवं अध्यात्म का गहन प्रशिक्षण प्रदान किया। सन् 1971 में वे दशनामी संन्यास परम्परा में दीक्षित हुए, तत्पश्चात् 11 वर्षों तक विभिन्न देशों की यात्राएँ कर उन्होंने अनेक कलाओं में दक्षता अर्जित की और विभिन्न संस्कृतियों के सम्पर्क में रहकर उनकी गहरी समझ प्राप्त की तथा यूरोप, ऑस्ट्रेलिया, उत्तर एवं दक्षिण अमरीका में अनेक सत्यानन्द योग केन्द्रों एवं आश्रमों की स्थापना की।

सन् 1983 में गुरु-आज्ञानुसार भारत लौटकर वे बिहार योग विद्यालय, शिवानन्द मठ तथा योग शोध संस्थान की गतिविधियों के संचालन में संलग्न हो गए। सन् 1990 में वे परमहंस-परम्परा में दीक्षित हुए और 1995 में स्वामी सत्यानन्द के उत्तराधिकारी के रूप में उनका अभिषेक किया गया। सन् 1994 में उन्होंने विश्व के प्रथम योग विश्वविद्यालय, बिहार योग भारती की तथा 2000 में योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट की स्थापना की। सन् 1995 में उन्होंने बच्चों के एक बृहत् योग आन्दोलन, बाल योग मित्र मण्डल का शुभारम्भ किया। मुंगेर में विभिन्न गतिविधियों का संचालन करने के अलावा उन्होंने दुनियाभर के साधकों का मार्गदर्शन करने हेतु व्यापक रूप से यात्राएँ कीं। सन् 2009 में उन्हें अपने गुरु से संन्यास जीवन का एक नया अध्याय शुरू करने का आदेश प्राप्त हुआ।

स्वामी निरंजनानन्द योग दर्शन, अभ्यास एवं जीवनशैली की गहन जानकारी और समझ रखते हैं तथा योग, तंत्र एवं उपनिषदों पर अनेक प्रमाणिक पुस्तकों के प्रणेता भी हैं। प्राचीन तथा अर्वाचीन परम्पराओं का सुन्दर सम्मिश्रण करते हुए वे इस समय मुंगेर में अपने गुरु के मिशन को आगे बढ़ाने के कार्य में संलग्न हैं।



संन्यास एक विश्वव्यापी परम्परा है, जिसने मानव की त्याग, वैराग्य एवं समर्पण की मूलभूत विचारधारा का संरक्षण किया है। संन्यास दर्शन में आध्यात्मिक जीवन को समर्पित प्राचीन एवं अर्वाचीन संन्यास परम्परा का सविस्तार वर्णन किया गया है।

इस पुस्तक में संन्यास-वंश-परम्परा, संन्यास के उद्गम, आश्रम-व्यवस्था, संन्यास की अवस्थाओं, पारम्परिक नियमों एवं शर्तों के साथ-साथ संन्यास की आधुनिक अवधारणा एवं वर्तमान जीवन में संन्यास पर प्रकाश डाला गया है। संन्यास-वंश-परम्परा की चार महान् विभूतियों–दत्तात्रेय, आदि शंकराचार्य, स्वामी शिवानन्द एवं स्वामी सत्यानन्द सरस्वती के जीवन, कार्य एवं शिक्षाओं का भी विस्तृत वर्णन किया गया है।

पुस्तक के अन्तिम खण्ड में पाँच मुख्य संन्यास उपनिषदों–कुण्डिकोपनिषद्, भिक्षुकोपनिषद्, अवधूतोपनिषद्, परमहंस परिव्राजकोपनिषद् एवं निर्वाणोपनिषद् पर स्वामी निरंजनानन्द सरस्वती की व्याख्या का भी समावेश किया गया है।



[bar code here]

ISBN : 978-93-81620-12-0